

भारतीयविद्या-श्रेणी-ग्रंथः ३७

मनुस्मृतिः

प्रेक्षातिथि-सर्वज्ञनाथपण-कुल्लुक-राघवानन्द-नन्दन-
राघवानन्द-पणिराम-गोविन्दराज-भारुषि

इति स्मृत्यात्मकेन समलंकृता

ॐ

तृतीयो विभागः

(५-९ अध्यायपर्यन्तः)

ॐ

भारतसाम्राज्यस्य शिक्षणविभागस्य सर्वज्ञनाथपण-प्रकाशिता

ॐ

— सम्पादक —

जयन्तकुल्लुक हंसिकुल्लुक द्वे

“महामहोपाध्याय, विशालास्यस्थिति
एम. ए., एम. एल. बी., बरकपुर (१९०७)

इत्यादि

भारतीयविद्यासंस्थानस्य संयोजकविभागकेन परिष्कृता



१९७८

भारतीय विद्या भवनम्

दुर्गापुर के. एम्. मुनशीपुरम्, बीकानेर

मु. म. १९००-०००

229

मनु/म-III



भारतीयविद्या-श्रेणी-ग्रंथः ३७

मनुस्मृतिः

मेधातिथि-सर्वज्ञनारायण-कुल्लूक-राघवानन्द-नन्दन-
रामचन्द्र-मणिराम-गोविन्दराज-भारुचि

इति व्याख्यानवकेन समलंकृता



तृतीयो विभागः

(५-६ अध्यायात्मकः)



भारतशासनस्य शिक्षणविभागस्यार्थसाहाय्येन प्रकाशिता



— संपादक —

जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे

महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति

एम्.ए., एल्.एल्.बी., अँड्होकेट (सु. को.)

इत्यनेन

भारतीयविद्याभवनस्य संमान्यनियामकेन परिष्कृता



१९७८

भारतीय विद्या भवनम्

कुलपति के. एम्. मुनशीपथः, चौपाटी

मुम्बई ४०० ००७

© सर्वाधिकाराः स्वायत्ताः
प्रथमावृत्तिः १९७८

228



मूल्यम् : रु. ५०

भारते मुद्रिता

रेजिनाॅल्ड माॅटॅरो, असोसिएटेड अॅडव्हर्टाइजर्स अॅण्ड प्रिन्टर्स
५०५ सानेगुरुजी मार्ग, मुंबई ४०० ०३४

Bhāratīya Vidyā Series—Vol. No. 37

MANU-SMRTI

With nine commentaries by Medhātithi, Sarvajñanārāyaṇa,
Kullūka, Rāghavānanda, Nandana, Rāmacandra, Maṇirāma,
Govindarāja and Bhāruci

VOLUME III (Adhyāyas 5-6)

Edited by

JAYANTAKRISHNA HARIKRISHNA DAVE

Mahamahopadhyaya Vidyavachaspati

M.A., LL.B., ADVOCATE (SUPREME COURT)

Hon. Director, Bharatiya Vidya Bhavan

*Published with the financial assistance of the Ministry of
Education, Government of India*



1978

BHARATIYA VIDYA BHAVAN

Kulapati K. M. Munshi Marg, Chowpatty, Bombay-400 007

© All Rights Reserved

First Edition, 1978

Price Rs. 50

PRINTED IN INDIA

By R. Monteiro at Associated Advertisers & Printers,

505 Sane Guruji Marg, Bombay-400 034.

INTRODUCTION

Manusmṛiti, with nine Commentaries by Medhātithi, Sarvajña-nārayaṇa, Kullūka, Rāghavānanda, Nandana, Rāmachandra, Maṇi-rāma, Govindarāja and Bhāruchi, is intended to be published in 6 volumes—each volume covering two Adhyāyas.

Volumes 1 and 2 have already been published earlier. This is the third volume covering the fifth and the sixth Adhyāyas. The fourth volume covering the seventh and the eighth Adhyāyas is expected to be out shortly. The rest of the Adhyāyas also would come out soon.

This project with these nine commentaries has been undertaken by the Bharatiya Vidya Bhavan with the financial assistance of the Ministry of Education, Government of India. The Editor expresses warm thanks to the Government of India for the kind and continued financial assistance.

In this volume also, the present edition contains some more verses than the Edition of M. M. Dr. Ganganath Jha. Readings also differ with some commentators. Some of the verses have changed their places in some commentaries, especially in the edition of M. M. Dr. Jha.

Publication of this and the remaining volumes has been delayed for various reasons, including press and paper problems. However, further volumes are expected to come out soon.

Bharatiya Vidya Bhavan,
Kulapati K. M. Munshi Marg,
Bombay-400 007.
17th June 1978

Jayantkrishna Harikrishna Dave

पञ्चम-षष्ठाध्यायविषयानुक्रमकोशः

विषयः

अ. श्लो.

| | |
|---|---------|
| गृहमेधिनो विप्रस्य स्नातकस्य च धर्मान् श्रुत्वा पुनरपि भृगुं प्रति महर्षिप्रश्नः | ५-१ |
| स्वधर्ममनुतिष्ठतां वेदशास्त्रज्ञानां शतवर्षेभ्यः पूर्वमेव कथं मृत्युः प्रभवतीति प्रश्नः | ५-२ |
| वेदानभ्यासाचारवर्जनान्नदोषादालस्याच्च मृत्युविप्रान् पुरायुषो जिघांसति | ५. ३. ४ |
| अभक्ष्यामेध्यप्रभवाद्यन्नदोषान् सन्नामग्राहं विवृणोति भृगुः | ५-५ |
| तत्र वृक्षनिर्यास-व्रश्चनप्रभवाद्यभक्ष्यास्तदपवादांश्चाह | ५-६ |
| कृसरसंयावादीन् न भक्षयेत् | ५-७ |
| अनिर्देशाया विवत्सायाश्चगवः पयो निषिद्धम् | ५-८ |
| तत्रापवादानाह | ५-९ |
| क्रव्यादैकशफा वर्ज्याः | ५-११-१३ |
| मत्स्यमत्स्यादमांसादानां सलक्षणः प्रतिषेधः | ५-१४-१९ |
| अबुद्धिपूर्वमेतान् जग्ध्वा सान्तपनादिप्रायश्चित्तानाचरेत् | ५-२०-२१ |
| यज्ञार्थं पशुपक्षिणो ब्राह्मणैर्वधोऽवधः | ५-२२ |
| पुराणेषु सत्रे चास्नातो मृगपक्षिवधः सपुरावृत्तं व्याख्यातः | ५-२३ |
| पर्युषितस्य निरूपणम् | ५-२४-२५ |
| द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यकथनोपसंहारः | ५-२६ |
| मांसभक्षणवर्जनविधौ प्रोक्षितनिरूपणम् | ५-२७ |
| स्थावरजङ्गमयोः प्रजापतिनाम्नत्वेनापदि भोजनत्वेन कल्पनम् | ५-२८ |
| चराणामचराः शूराणां भीरवश्चान्नत्वेन हनने धात्रा सृष्टाः | ५-२९ |
| प्राणात्ययेऽहन्यहनि भक्षणेऽपि न दोषः, यत आद्यात्तारौ ब्रह्मणैव सृष्टाः | ५-३० |
| यज्ञार्थं मांसभक्षणं विहितमन्यथा स राक्षसो विधिर्मतः | ५-३१ |
| देवपित्रार्चनं विधाय मांसाशनं न प्रतिषिद्धम्, अन्यथा दोषापादकम् | ५-३२-३३ |
| मन्त्रासंस्कृतमांसभक्षणमेव विंशतिजन्मानि यावत्पशुतापादकम् | ५-३३-३६ |
| पशुना यष्टव्यप्रसंगे घृतपिष्टपशुमुपहरेत् | ५-३७ |
| वृथापशुघ्नः प्रेत्यानेकजन्मावधि मारणमाप्नोति | ५-३८ |
| यज्ञार्थं पशवः स्वयंभुवा सृष्टाः, अतो यज्ञे वधो न दोषावहः | ५-३९ |
| ओषधि-पशु-पक्ष्यादयो यज्ञार्थं निहता उत्कर्षमापादयेयुः | ५-४०-४२ |
| नापद्यि वेदाविहिता हिंसा विहिता यतो धर्मो वेदप्रकाशितः | ५-४१-४४ |
| आत्मसुखार्थं भूतहिंसको न कदापि सुखमाप्नुयात् | ५-४५ |

विषयः

अ. श्लो.

| | |
|--|---------|
| यो बन्धनवधक्लेशान् भूतानां न करोति तेषां हितं चेहते स सुखमेधते .. | ५-४६-४७ |
| प्राणिनां हिंसातीवदुःखावहा अतः प्राणिवधो मांसं च विवर्जयेत् .. | ५-४८ |
| मांसस्य वधबन्धौ प्रसमीक्ष्य मांसभक्षणान्निवर्तेत .. | ५-४९ |
| विधिप्रतिषिद्धमांसभक्षणाभक्षणयोः लाभालाभनिर्देशः .. | ५-५० |
| सर्वेऽप्येते घातकाः समपापभाजना उच्यन्ते .. | ५-५१ |
| शरीरपुष्ट्यर्थं पितृदेवांश्चासन्तर्प्य मांसं भक्षयिता पापिष्ठो भवति .. | ५-५२ |
| फलमूलाशनप्रशंसनम् .. | ५-५४ |
| मांसभक्षयितुर्नामधेयनिर्वचनम् .. | ५-५५ |
| मांसं न भक्षयामीति संकल्पोऽपि महाफलदः .. | ५-५६ |
| चतुर्वर्णानां प्रेताशौचनिरूपणम् .. | ५-५७ |
| दन्तजातानुजात-कृतचूडादीनामाशौचमर्यादा .. | ५-५८ |
| सपिण्डेषु शावाशौचकालः .. | ५-५९ |
| सापिण्ड्यं सप्तमपुरुषावधि, वंशजजन्मनामावेदने समानोदकत्वम् .. | ५-६० |
| अथ जननाशौचकालनिर्णयः .. | ५-६१ |
| शवस्पृशादीनां विशुद्धिकालमर्यादा .. | ५-६२-६३ |
| गुरोश्चरमेष्टिं कुर्वतः शिष्यस्य शुद्धिकालः .. | ५-६४ |
| गर्भस्त्रावादौ मासतुल्यरात्रिभिः स्त्रियाः शुद्धिः .. | ५-६५ |
| अकृतचूडनिर्वृतचूडानां मरणे शुद्धिमर्यादा .. | ५-६६ |
| ऊनद्विर्वाषिकप्रेतस्यास्थिसंचयनव्यवस्था .. | ५-६७-६८ |
| आ त्रिवर्षस्य जातदन्तस्योदकक्रियादिनिर्णयः .. | ५-६९ |
| सन्नह्यचारिप्रेते सूतके च कालमर्यादा .. | ५-७० |
| वाङ्मात्रेण प्रतिगृहीताया मरणे शुद्धिनिरूपणम् .. | ५-७१ |
| यावदाशौचं बान्धवानां विहित आचारः .. | ५-७२ |
| सन्निध्यसन्निधौ शावाशौचविधिविशेषः .. | ५-७३ |
| विदेशे सन्निधौ वा मरणे सपिण्डानामाशौचनिर्णयः .. | ५-७४-७५ |
| दशाहातिक्रान्ते जन्मरणादावाशौचः .. | ५-७६-७७ |
| अन्तर्दशाहे मरणजन्मापत्तौ निर्णयः .. | ५-७८ |
| उपनेतृमरण आशौचकालः .. | ५-७९ |
| उपसंपन्नश्रोत्रियमरणाशौचकालः .. | ५-८० |
| राजनि प्रेते आशौचः .. | ५-८२ |
| चतुर्वर्णानामाशौचशुद्धिव्यवस्था .. | ५-८३ |
| अघाह्वृद्धिनिषेधः .. | ५-८४ |
| चाण्डालादिस्पर्शशुद्धिः .. | ५-८५ |
| अशुचिदर्शने मन्त्रादिजापतः शुद्धिः .. | ५-८६ |

विषयः

अ. श्लो.

| | | |
|---|-------|-----------|
| नारास्थिस्पर्शं शुद्धिव्यवस्था | | ५-८७ |
| ब्रह्मचारिणे विषय आशौचः | | ५-८८ |
| वृथासंकरजातानामुदकक्रियानिषेधः | | ५-८८ |
| गर्भभर्तृद्रुहां योषितां पाषण्डादीनां चोदकक्रियानिर्णयः | | ५-८९ |
| आचार्यादीभिर्हरतो व्रतवियोगो नेत्याह | | ५-९० |
| ब्राह्मणादीनां निर्हरणे द्वारदिव्यवस्था | | ५-९१ |
| व्रतिनां यज्ञदीक्षितानां चाशौचनिर्णयः | | ५-९२ |
| प्रजापरिरक्षारतानां महात्मनां सद्यःशौचम् | | ५-९३ |
| युद्धहतादीनां सद्यःशौचम् | | ५-९४ |
| नृपस्याष्टलोकपालानां तेजोऽश्वत्त्वम् | | ५-९६ |
| राज्ञां सद्यःशौचम् | | ५-९७ |
| आहवहृतानां सद्यःशौचम् | | ५-९८ |
| ब्राह्मणादिवर्णानां शुद्धिव्यवस्था | | ५-९९ |
| सपिण्डाशौचस्योपसंहारः | | ५-१०० |
| असपिण्डप्रेतनिर्हरणेऽन्नमशनतोऽन्नशनतश्च शौचकालमर्यादा | | ५-१०१ |
| इच्छयानिच्छया वा प्रेतानुगमने शुद्धिव्यवस्था | | ५-१०३ |
| स्वीयजातीयेषु सत्सु शूद्रेण प्रेतनिर्हरणे प्रतिषेधः | | ५-१०४ |
| शुद्धिकर्तृणां निरूपणम् | | ५-१०५ |
| समेषां शौचानामर्थशौचः परमो मतः | | ५-१०६ |
| सर्वत्र साम-दान-जप्यादिभिर्विदुषामकार्यकारिप्रच्छन्नपापादीनां शुद्धिः | | ५-१०७ |
| नदी वेगेन, रजसा स्त्रियः, संन्यासेन द्विजोत्तमाश्च शुद्धयन्ति | | ५-१०८ |
| गात्र-मनो-बुद्ध्यादीनामपःसत्यविद्याज्ञानादिभिः शुद्धिः | | ५-१०९ |
| शरीरशौचनिर्णयस्योपसंहारः | | ५-११० |
| भस्मनाद्भिर्मृदा च धातूनां शुद्धिः | | ५-१११ |
| सुवर्ण-रजतभाण्डानां शुद्धीकरणविधिः | | ५-११२ |
| हेम्नो रजतस्य चोत्पत्तिकारणं तेनैव शुद्धिश्च विदितेति प्रतिपादनम् | | ५-११३ |
| ताम्रादिधातूनां शुद्धीकरणप्रतिपादनम् | | ५-११४ |
| द्रवादीनां शुद्धिनिरूपणम् | | ५-११५-१२२ |
| पक्षिजग्ध-केशकीटादिदूषितशुद्धिः | | ५-१२३ |
| द्रव्यादिशुद्धिषु मृद्वारिमार्जनं लेपगन्धनिवृत्तिं यावदादेयत्वम् | | ५-१२४ |
| देवैरदृष्टादिन्नयाणां शुद्धत्वेन प्रकल्पनम् | | ५-१२५ |
| मेध्यभूमिगता आपः पवित्राः | | ५-१२६ |
| आपणभूमौ पण्यत्वेन प्रसारितं द्रव्यं नैकैः स्पृष्टमपि पवित्रम् | | ५-१२९ |
| रतिसंसर्गप्रवृत्तौ स्त्रीणामास्यं पवित्रम् | | ५-१२० |

विषयः

| | | |
|---|-------|-----------|
| श्वभिर्हृतस्य मांसं शुचि | | अ. श्लो. |
| नाभेरुर्ध्वगतानीन्द्रियाणि मेध्यान्यश्वस्तान्यमेध्यानि | | ५-१३१ |
| पुरीषादिस्पर्शोऽपि वायुगवादयो मेध्याः | | ५-१३२ |
| द्वादशदैहिकमलादिशुद्धचर्यं मृदायदिद्ये | | ५-१३१ |
| नृणां द्वादशमलानां नामग्राहं निरूपणम् | | ५-१३२ |
| विष्णुमूर्तोत्सर्गे त्वाश्रमानुगुणं मृत्परिमाणव्यवस्था | | ५-१३३ |
| स्त्रीशूद्रार्थं शारीरशौचव्यवस्था | | ५-१३४-१३६ |
| शूद्रधर्मनिरूपणम्, शौचविधिः, द्रव्यशुद्धिश्च | | ५-१३७ |
| स्त्रीणां धर्माचारव्यवस्था | | ५-१३८-१४३ |
| वाल्याद्यवस्थानुगुणं स्त्रीणां कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयः | | ५-१४४-१४५ |
| पितृानुमता दत्ता वा कन्या पतिं शुश्रूषेत्, मृतेऽपि तं नातिक्रमेत् | | ५-१४६-१४८ |
| गुणशीलहीनः कामवृत्तोऽपि पतिर्देववदाराधनीयः | | ५-१४९-१५१ |
| प्रेते पतौ मरणावधि एकपत्नीसदृग्धर्ममनुचरेत् | | ५-१५२-१५४ |
| अपत्यलोभादन्योत्पन्ना प्रजा तस्यास्तस्य वा न भवति | | ५-१५५-१५८ |
| स्त्रीधर्मचरानुगुणवृत्तायाः स्त्रिय इहपरत्र कीर्तिप्राप्तिः | | ५-१५९-१६० |
| प्रोक्तविधिना पञ्चयज्ञाननुष्ठाय सपत्नीको गृहमेधी भवेत् | | ५-१६१-१६६ |

—: ० :—

षष्ठोऽध्यायः

| | | |
|--|-------|---------|
| गृहस्थाश्रमानन्तरं वानप्रस्थाश्रमनिरूपणम् | | ६-१-४ |
| गृहस्थविहितानेव यज्ञाननुतिष्ठेत् | | ६-५ |
| वानप्रस्थाश्रमे त्रैकालिकाचारनिरूपणम् | | ६-६-१२ |
| तत्र वर्ज्यावर्ज्यनिर्णयः | | ६-१३-१६ |
| अग्निपक्वादिभोजनप्रशंसा | | ६-१७-१९ |
| पूर्णिमामावास्योर्यवागूं सकृदश्नीयात् | | ६-२० |
| वैखानसशास्त्रानुगुणं वर्तनप्रशंसा | | ६-२१ |
| वानप्रस्थाश्रमिणां स्थानासनविसारविचारः | | ६-२२ |
| ग्रीष्मादिऋतुषु आत्मानं पञ्चभिस्तापयेत् | | ६-२३ |
| पितृदेवादितर्पणादिबनाथमुश्रतरतपश्चरणेन स्वदेहं शोषयेत् | | ६-२४ |
| श्रौताग्निप्रमुखानग्नीनात्मनि समारोप्य मूलफलाशनो भवेत् | | ६-२५ |
| वृक्षमूलशायी भूत्वा तापसादिभ्यो भैक्षमाहरेत् | | ६-२६-२७ |

विषयः

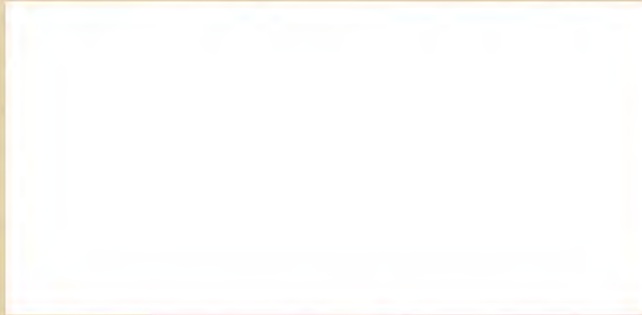
अ. श्लो.

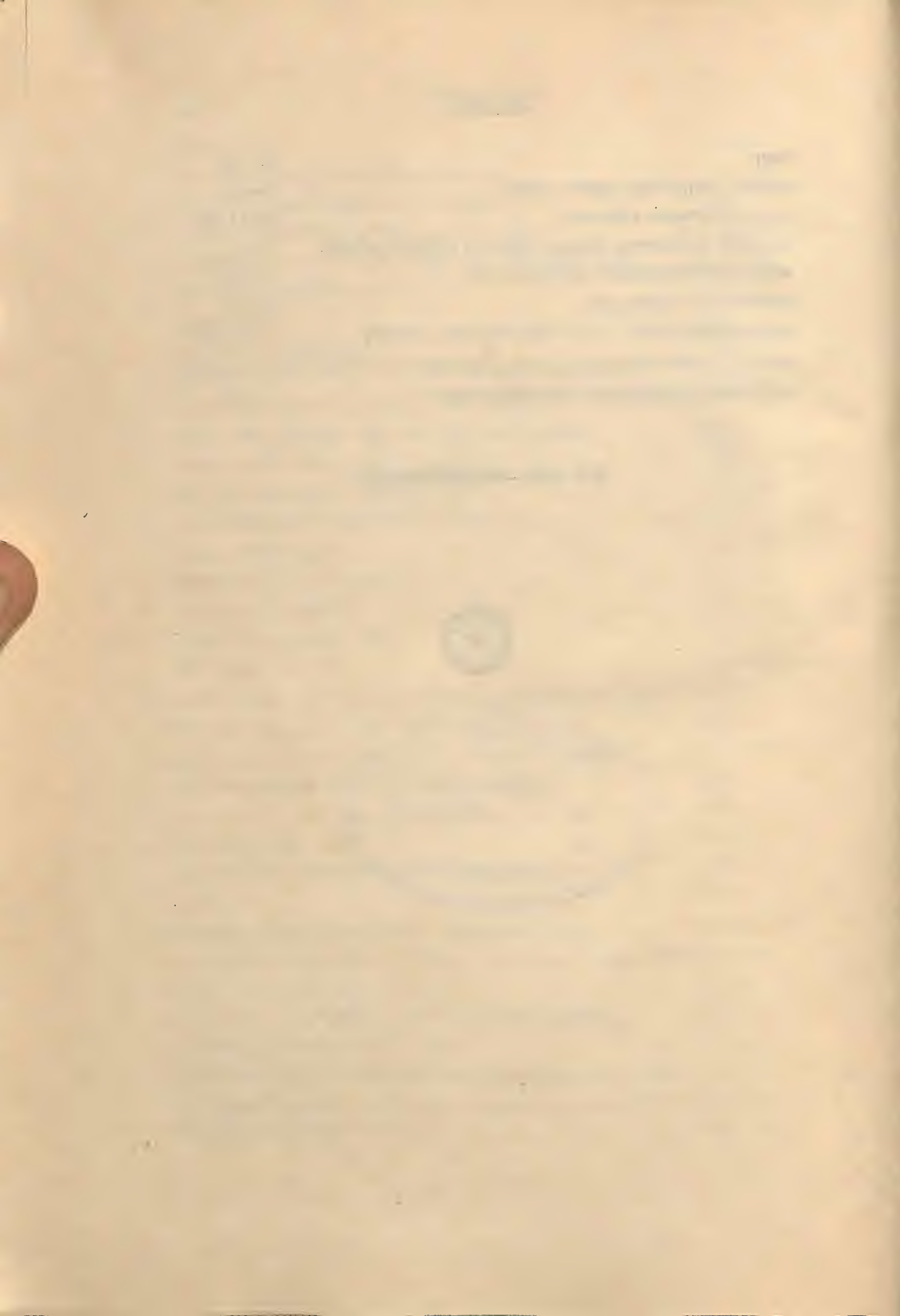
| | | |
|--|-------|---------|
| वनवासी विप्रो ब्रह्मप्राप्त्यर्थमौपनिषदध्ययनं कुर्यात् | | ६-२८-३० |
| ऐशानीं दिशमास्थायानिलाशनो महाप्रस्थानं कुर्यात् | | ६-३२ |
| महर्षिचर्यया वीतशोकभयस्तनुं त्यजन् ब्रह्मलोके महीयते | | ६-३२-३४ |
| ऋणत्रयमपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेदन्यथा मोक्षं सेवमानोऽधो गच्छति | | ६-३५-३७ |
| प्रव्रज्यापूर्वं ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् | | ६-३८ |
| चतुर्थश्रमप्रशंसा | | ६-३९ |
| चतुर्थश्रमे विहिताचारो भवेत् | | ६-४०-४३ |
| मुक्तस्य लक्षणम् | | ६-४४ |
| नियतिनियतं मरणकालमेव प्रतीक्षेत, न मरणं कामयेत् | | ६-४५ |
| मनःपूतो भवेत्, सत्यवक्ता भवेत्, परद्रव्याभिध्यानं च न कुर्यात् | | ६-४६ |
| अतिवादान्क्षमेत, न केनापि समं वैरं कुर्याद्यावद्देहम् | | ६-४७ |
| नानृतं वदेत्, अध्यात्मरतो निरपेक्षोऽत्र विहरेत् | | ६-४८-४९ |
| ज्यौतिषादिविद्याफलादिकथनेन भिक्षां न लिप्सेत् | | ६-५० |
| भिक्षार्थं प्रतिषिद्धस्थलानि | | ६-५१ |
| चतुर्थश्रमिणो विहिताः पात्रदण्डादयः | | ६-५२-५४ |
| भोजनस्यैककालता विहिता | | ६-५५ |
| लाभालाभादौ हर्षविषादौ न कार्यौ | | ६-५६ |
| अभिपूजितलाभस्य निन्दा | | ६-५८ |
| स्वल्पान्नाभ्यवहारी भूत्वा रहःस्थाने वसन् इन्द्रियाणि विषयेभ्यो निवर्तयेत् | | ६-५९ |
| इन्द्रियनिरोधरागद्वेषक्षयेणाहिसया चामृतत्वमाप्नोति | | ६-६० |
| दुःखात्मकः संसार इति निरूपणम्, प्रियैर्वियोग अप्रियैश्च संयोगादयः | | ६-६१-६२ |
| योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः पुनर्गर्भसंभवो देहादुत्क्रमणादिदुःखम् | | ६-६३ |
| अधर्मप्रभवा धर्मार्थप्रभवाश्च दुःखसुखसंयोगहेतवः | | ६-६४ |
| परमात्मनो गतीर्योगेनान्वेक्षेत | | ६-६५ |
| परिव्राजकेन विहितमात्मोपासनसर्वसमतादिधर्ममनुष्ठीयेत् | | ६-६६ |
| तत्रोदाहरणम् | | ६-६७ |
| क्षुद्रजन्तवो शरीरावयवसंवलना नश्यन्ति तद्विषयकं प्रायश्चित्तम् | | ६-६९ |
| प्राणायामैर्दोषा रागादयो दहन्ते, धारणाभिश्च पापं, प्रत्याहारेण संसर्गा दहन्ते | | ६-७०-७२ |
| अन्तर्यामिपुरुषस्य गतिर्ध्यानयोगेन संपश्येत् | | ६-७३ |
| सम्यग्दर्शनसंपन्नः संसारं नानुवर्तते, केवलकर्मकारी संसारं प्रतिपद्यते | | ६-७४ |
| ज्ञानकर्मणोः समुच्चयान्मोक्षमाप्नोति साधकः | | ६-७५ |
| शरीरमिदमस्थिस्नायुयुतं मांसशोणितदिग्धलेपनं दुर्गन्धिपूर्णं रोगायतनमतस्स्यजेत् | | ६-७६-७८ |
| प्रियेषु सुकृतमप्रियेषु दुष्टतं विसृज्य ध्यानेन ब्रह्माभ्येति, तत्रैव चावतिष्ठते | | ६-७९-८२ |
| वेदाख्यं ब्रह्मज्ञानमन्विच्छतां च शरणम् | | ६-८३-८४ |

विषयः

| | अ. श्लो. |
|--|----------|
| क्रमेणानेन पाप्मानं विधूय ब्रह्मरूपा भवन्ति | ६-८५ |
| एवं प्रव्रज्याश्रममुक्त्वा कर्मयोगमाह | ६-८६-८९ |
| यथा समुद्रो नद्यादिजलसमाश्रयस्तथा सर्वाश्रमिणां गृहस्थाश्रमे संस्थितिः | ६-९० |
| चतुर्भिरप्याश्रमभिर्दशस्वरूपो धर्मोऽनुष्ठेयः सदैव | ६-९१ |
| दशलक्षणो धर्मः सनामग्राहमाह | ६-९२ |
| दशलक्षणधर्मस्य फलश्रुतिः, वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वानृणः सन्संन्यसेत् .. | ६-९३-९४ |
| सर्वकर्माणि संन्यस्य परमात्मोपासनापरोऽस्पृह एनोऽपहृत्य परमां गतिमाप्नोति | ६-९५-९६ |
| ब्राह्मणधर्मचातुराश्रम्योपसंहारो राजधर्मकथनप्रतिज्ञा च | ६-९७ |

इति पञ्चम-षष्ठाध्यायानुक्रमकोशः





मनुस्मृतिः

व्याख्यानवकोपेता

*

पञ्चमोऽध्यायः ५

*

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् स्नातकस्य यथोदितान् ॥

इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मचारिगृहस्थयोरध्यायत्रयेण ये धर्मा विहितास्ताच्छ्रुत्वा ऋषयो मरीच्यादयो भृगुमाचार्यमिदं वक्ष्यमाणं वस्त्वब्रुवन् पृष्ठवन्तः । “ननु चात्र स्नातकस्येति श्रूयते । तत्र ब्रह्मचारिग्रहणं किमर्थम् ?” उच्यते—वृत्तसंकीर्तनमेतत् । ब्रह्मचारिणो धर्मा उक्ता एव । महात्मानमनलप्रभवमिति च भृगुविशेषणम् । अनलादग्नेः प्रभव उत्पत्तिर्यस्य तम् । ननु प्रथमेऽध्याये ‘अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु’ (१/३४) इत्यत्र मनोरपत्यं भृगुरुक्तः । सत्यम् । अर्थवादः । अमुत्र अग्नेः सकाशाद् भृगोर्जन्म श्रुतं तद्दर्शनेनैवमुक्तम् । तथा च नामनिर्वचनम् । “भ्रष्टाद्वेत्तसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् यद्वितीयमासीत्तद् भृगुरिति” । उपचारतो वैतदुच्यते । तेजस्वितासामान्यादग्नेरिव प्रसव इति । न चात्राभिनिवेष्टव्यं कतरः पक्षो युक्त इति । अनिदं परत्वादस्य शास्त्रस्य । सर्व एवायं प्रश्नप्रतिवचनसन्दर्भो वक्ष्यमाणस्यान्नदोषस्य गौरवज्ञापनार्थः । परिग्रहदुष्टादन्नस्वभावदुष्टं गुरुतरमिति । सम्बन्धिदोषात्स्वरूपदोषो बलवानन्तरङ्गत्वात् । ननु च पूर्वं बहुतरं प्रायश्चित्तं श्रूयते ‘अमत्या क्षपणं व्यहमिति’ । इह तु ‘शेषेषूपवसेदह’रिति । तत्कथमस्य गुरुतरत्वम् ? उच्यते । लशुनाद्यपेक्षमेतत् । तेषु हि ‘मत्या जग्ध्वा पतेत्’ इति पतितप्रायश्चित्तं भवति ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ भक्ष्याभक्ष्यविवेकं प्रस्तौति श्रुत्वैतानिति । अनलप्रभवमिति द्वितीयसृष्टौ तस्यानलरूपाद् ब्रह्मशुक्रादुद्भूतत्वात् यथा ‘यद् द्वितीयमासीत्तद् भृगुरभव’दित्यैतरेयब्राह्मणे ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषयः स्नातकस्यैतान्यथोदितधर्मान् श्रुत्वा महात्मानं परमार्थपरं भृगुमिदं वचनमब्रुवन् । यद्यपि प्रथमाध्याये दशप्रजापतिमध्ये ‘भृगुं नारदमेव च’ (१/३५) इति भृगुसृष्टिरपि मनुत एवोक्ता तथापि कल्पभेदेनाग्निप्रभवत्वमुच्यते । तथाच श्रुतिः—‘तस्य यद्वेत्तसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवत् यद्वितीयमासीत्तद् भृगुरिति । अत एव भ्रष्टाद्वेत्तस उत्पन्नत्वाद् भृगुः ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तिष्यमाणार्थं वृत्तं कीर्तयति श्रुत्वेति । श्रोतृणां मेधावित्ते

वक्तुः शास्त्रकथने श्रद्धा स्यादिति सूचनार्थमध्यायत्रयेण ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्विदितान्धर्मान्मरी-
च्यादयोऽनुवदन्ति श्रुत्वेत्यादिना । अनलप्रभवं भृगुमिति । तदुक्तं शान्तिपर्वणि 'शुके
हुतेऽनौ तस्मिस्तु प्रादुरासँस्त्रयः प्रभो ॥ पुरुषा वपुषा युक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्गुणैः ॥
भृगुत्वेन भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्योऽङ्गिरोऽभव'दित्यादि ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । मनुपुत्रस्यैव भृगोर्वर्णयज्ञेऽनलप्रभवत्वं पुराणे श्रूयते । तस्मान्न पूर्वा-
परविरोधः ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणमाह श्रुत्वेति । काञ्चित्पतिव्रतां दृष्ट्वा
ब्रह्मणः शुक्रमपतत् ब्रह्मा तदा तच्छुक्रमग्निकुण्डेऽक्षिपत् तदग्निकुण्डाज्जातो भृगुः ।
अनलप्रभवं भृगुमृषय इदमूचुः द्वितीयसृष्टावनलरूपत्वात् ॥ १ ॥

(७) मणिरामः । अनलप्रभवं यद्यपि प्रथमाध्याये मनुत एव भृगोरुत्पत्ति-
रुक्ता तथापि कल्पभेदेनाग्निप्रभवत्वमुच्यते ॥ १ ॥

(८) गोविन्दराजः । श्रुत्वंतानिति । इदमूचुर्महाभागमिति । एतान् यथोक्तान्
स्नातकधर्मान् ऋषयः श्रुत्वा अग्नेर्जातिं परोपकारिणं भृगुं इदं वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः ।
प्रथमेऽध्याये मनुप्रभवत्वं भृगोरुक्तम् । इह तु श्रौतार्थवाददृष्ट्याऽग्निप्रभवत्वमुच्यते ।
तत्र हि "तस्य यद्रेतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवत् । यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुः"
इति श्रूयते । अत एव भ्रष्टाद्रेतस उत्पन्न इति भृगुरित्येवं भवति । एवं च एकस्मिन् जन्मनि
तस्यैकं कारणं अन्यस्मिन्चापरमिति न कदाचिदनुपपत्तिः ॥ १ ॥

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥

कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । यन्महर्षिभिः पृष्टं तदिदानीं दर्शयति एवमिति । शास्त्रव्यापार-
परामर्शः । यथोक्तमिति शास्त्रार्थं परामृशति ।

एतेन शास्त्रसन्दर्भेण यादृशो धर्म उक्तस्तत्पुनस्तमनुतिष्ठतां द्विजातीनाम् । 'विप्र'ग्रह-
णस्य दर्शनार्थत्वाद्वक्ष्यति (५।२६) "एतदुक्तं द्विजातीनामिति" ।

कथं मृत्युः प्रभवति—स्नातकावस्थायां ब्रह्मचर्यावस्थायां वा । यतः परिपूर्णयु-
भिस्तैर्भवितुं युक्तं पुरुषायुपजीविभिः । शतवर्षं पुरुषाणामायुस्ततः पुराऽपमृत्युना
मरणमेषां न युक्तम् । यत उक्तम् "आचाराल्लभते ह्यायुः" (४।१५६) "जपतां
जुह्वतामिति" (४।१४६) ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कथं मृत्युरिति कस्मिन् स्नातकव्रते त्यक्ते मृत्युभयमित्यर्थः ।
वेदशास्त्रविदामिति स्वधर्मज्ञानसाधनोपदर्शनेन तत् ज्ञानं दर्शितम् ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । एवं यथोक्तं स्वधर्मं कुर्वतां ब्राह्मणानां श्रुतिशास्त्रज्ञानां
वेदोदितायुषः पूर्वं कथं मृत्युः प्रभवति ? आयुरल्पत्वहेतोरधर्माचरणस्याभावात् । सकल-
संशयोच्छेदनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । आश्रमचतुष्टयसाधारणत्वादस्याध्यायस्य चातुर्वर्ण्यचातुरा-
श्रम्यसाधारणधर्मप्रतिपादकत्वमाह एवमिति । शास्त्रोक्तं स्वधर्ममनुतिष्ठतां । कथमिति
प्रकारे विप्रपदमुपलक्षणम्, चातुर्वर्ण्यस्य वेदशास्त्रविदामपीति भावः ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । आचारवान्पुरुषः शतं वर्षाणि जीवतीति भवता पूर्वमुक्तम् । तेन
स्वधर्ममनुतिष्ठतामकालमृत्युर्नोपपद्यत इति ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्राणां यथोक्तमेवमनुतिष्ठतां मृत्युः कथं प्रभवति ? ॥ २ ॥

(७) मणिरामः । आयुरल्पत्वकारणाधर्माचरणाभावात् कथमल्पायुष्ट्वमित्यभि-
प्रायः ॥ २ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवमिति । एवमतिक्रान्तं शास्त्रोक्तं स्वधर्ममाचरतां
वेदशास्त्रज्ञानां ब्राह्मणानां कथं प्रभो मृत्युराक्रामति ? न तेषां वेदोक्तायुषां पुरा
मृत्युना भाव्यम्, आयुःक्षयकारणस्य धर्मलोपादेरभावात् ॥ २ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ॥

श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च स्वधर्ममनुतिष्ठतामिति प्रश्नेन युक्तं 'येन दोषेणे'ति
उत्तरश्च ग्रन्थो नैवोपपद्यते ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मानवः प्रथमजन्मनि मनुसुतत्वात् ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । स मनोः पुत्रो भृगुर्धर्मस्वभावो येन दोषेणाल्पकाले विप्रान् हन्तु-
मिच्छति मृत्युः श्रूयतामित्येवं तान्महर्षीञ्जगाद ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रापि चतुःप्रकारानाह स तानिति द्वाभ्यां । जिघांसति
नरकाप्त्यै ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । भृगुस्तान्महर्षीन्नुवाच येन दोषेण विप्रान्मृत्युर्जिघांसतीति श्रूयताम् ॥ ३ ॥

(८) गोविन्दराजः । स तानुवाचेति । अनभ्यासेनेति । वेदनाभ्यास-आचारलोप-
आलस्य-अन्नदोषाख्यायुःक्षयकारणानि; एवं च वेदाभ्यासाचारानुष्ठानानालस्येषु उक्तशास्त्र-
प्रमेयभूतेषु कृतेष्वपि यदा वक्ष्यमाणान्तदोषो न परिह्रियते तदा तेन हेतुभूतेन अकाल-
मृत्युर्विप्रान् हन्तुमिच्छति ॥ ३-४ ॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ॥

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्यते । अनभ्यासेनेत्यादिदृष्टान्तत्वेनोच्यते । यथा भवद्भिः प्रतिपन्ना वेदानभ्यासादयः पुरायुषो मरणहेतवः, एवं वक्ष्यमाणोऽन्नदोषः । सत्स्वपि वेदाभ्यासादिषु न तावत्स्वधर्मो यः पूर्वत्र कथितः, किं त्वयमन्नदोषो गरीयस्तरः । पृथक् प्रकरणाच्चैतदभिधीयते ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनभ्यासेनेति । एतेनैते प्रतिनियताः स्नातकधर्माः सर्वथा नातिक्रमणीया इति दर्शितम् । अनभ्यासेनानध्ययनेनाधीतानां च त्यागेन । आचारस्य च शिष्टाचरितस्य मङ्गल्यालम्भनादेः । आलस्यात् अलसतया क्रियमाणेषु कर्मसु शक्त्या-ङ्गानुपसंहारात् । अन्नदोषाद् दुष्टान्नाशनात् । तत्र केचित्संसर्गदुष्टान्नदोषा गणान्नमित्यादिना पूर्वाध्याये उक्ताः ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदानामनभ्यासात्स्वीयाचारपरित्यागात् । सामर्थ्ये सत्यवश्यकर्तव्यकरणानुत्साहलक्षणादालस्यात् । अदनीयदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् हन्तुमिच्छति । एतेषामधर्मोत्पादनद्वारेणायुःक्षयहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । तानाह अनभ्यासेनेति । अनधीतेन अधीतविस्मरणेन च । आलस्यात्तत्पूर्वकस्वधर्मननुष्ठानात् ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । अन्नदोषाद्भक्ष्यदोषात् । अन्नदोषस्यैवाकालमृत्युहेतुत्वमत्र प्रतिपाद्यम् । वेदानभ्यासादीनामुपन्यासो दृष्टान्तार्थः ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नदोषाद्भक्ष्याभक्ष्यान्नदोषान्मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ॥

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । लशुनादयः पदार्था लोके प्रसिद्धा एव । कवकशब्दो जातिशब्दः । क्वचित्कुर्याकुरिति प्रसिद्धेऽर्थे मन्यते । छत्राकानि कवकान्येव । तथाहि कवकशब्देन प्रतिषिद्धं, छत्राकशब्देन प्रायश्चित्तं वक्ष्यति (५।१९) “छत्राकं विड्वराहं चेति” । न च छत्राकं नाम पदार्थान्तरं प्रसिद्धम् । न चाक्षरवर्णसामान्येन यो यच्छत्राकारस्तं तं छत्राकमिति युक्तं प्रतिपत्तुम् । तथा सति सुवर्चलादीनां समाचारविरोधी प्रतिषेधः प्राप्नोति । तस्माद्यान्येव कवकानि तान्येव छत्राकाणि । तथा च निरुक्तकारः—“क्षुण्णमहिच्छत्रकं भवति यत् क्षुद्यत इति” । तेन यान्येतानि भूमावकृष्टायामनुपूर्वजायां च सितवर्णानि जायन्ते तानि च कवकानि । वक्ष्यति च “भौमानि कवकानीति” । दर्शितं च ‘पदा क्षुण्णमिवेति’ । पादप्रहारेण यानि क्षुद्यन्ते । यतो यानि वृक्षाद्गुल्माज्जायन्ते तेषां तदाकाराणामप्रतिषेधः । कुकुण्डानि कवकानि वैद्यके व्याख्यातानि । एतच्च व्याख्यानं न गवादिशब्दवत् । शाके कवकशब्दो लोके प्रयुज्यते । अतोऽस्य समाचाराद्वैद्यकादिशास्त्रार्थे निश्चयः । प्रदर्शितश्चासौ । लशुनादीनां तु समानवर्णगन्धा अपि विष्णुना प्रतिषिद्धाः ।

पाराशरिकायां तु शब्देनैव निषेधः प्रायश्चित्तविशेषार्थ उक्तः “चान्द्रायणमिति” (अ. ११ श्लो. १०६) । तेन लवतककर्णिकारादीनां प्रतिषेधः । अमेध्यप्रभवान्यमेध्यजातानि च संसर्गजातानि । अन्ये त्वाहुर्मूलवास्तूकवत्केवलामेध्यप्रभवानां युक्तः प्रतिषेधः । ततश्च यान्यधिकपुष्ट्यर्थे धान्यशाकादीन्यमेध्यक्षेत्रजातानि संसृज्यन्ते तानि न दुष्यन्तीति, तदयुक्तम्; श्रुतेः सर्वस्याप्यभक्ष्यत्वात् । इहापि च यद्यमेध्यसंसर्गमन्तरेण न किञ्चिद्वस्तुत्पद्यते ततः स्यादपि । यतस्तु किञ्चिन्मेध्याज्जायते किञ्चित्संसृष्टात्ततोऽयं प्रतिषेधः केवलेऽमेध्यप्रभवे, न संसृष्टे अवतिष्ठते । मांसस्य सत्यपि शुक्रशोणितामेध्यप्रभवत्वे नायं प्रतिषेधः, पृथक्प्रकरणारम्भात्तस्य ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधुनाऽवशिष्टान्नजातिदुष्टान्नदोषानाह लशुनमिति । श्वेतकन्दो बृहत्पत्रो लशुनं । गृञ्जनं क्षुद्रपत्रः । क्लीबलिङ्गता छान्दसी । पलाण्डू रक्तकन्दः कवकं छत्राकं । अमेध्यप्रभवानि विष्ठादिषु जातानि कन्दादीनि ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदानभ्यासादेरुक्तत्वादन्युक्तमन्नदोषमाह लशुनमिति । लशुन-गृञ्जनपलाण्ड्वाख्यानि त्रीणि स्थूलकन्दशाकानि । कवकं छत्राकम्, अमेध्यप्रभवानि विष्ठादिजातानि तण्डुलीयादीनि । ‘द्विजातीना’मिति (आचार. १७८) याज्ञवल्क्यवचनादेतानि द्विजातीनामभक्ष्याणि । द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नदोषादित्याद्युक्तं तत्रादौ दुष्टान्नान्याह लशुनमित्येकादशभिः । लशुनादीनि त्रीणि स्थूलकन्दशालीनि तत्रापि लशुनं शुद्धमूलं गृञ्जनं रक्तमूलकं पलाण्डुं रक्तवर्तुलमूलं । कवकं छत्राकं भूमिजं वार्क्षभूजं च । अमेध्यं मूत्रपुरीषादि तज्जातानि ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अन्नदोषस्यैवोपरिष्ठादुष्टान्नान्याह लशुनमिति । लशुनं सूक्ष्मरक्तकन्दनालं रसोत्तमं । गृञ्जनं शाकविशेषः । पलाण्डुः स्थूलश्वेतकन्दनालो लशुनानुकारी । कवकं कुरवण्डकम् । अमेध्यप्रभवानि माषवराकादीनि । द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । लशुनं श्वेतकन्दो बृहत्पत्रः । गृञ्जनं क्षुद्रपत्रो लोहितसूक्ष्मकन्दः । पलाण्डुः स्थूलरक्तकन्दः । कवकानि छत्राकसर्पछत्रशिलीन्ध्राणि । एतानि द्विजानामभक्ष्याणि । च पुनः अमेध्यस्थानप्रभवानि ॥ ५ ॥

(७) मणिरामः । अभक्ष्यानाह लशुनमित्यादिना । कवकं छत्राकं, अमेध्यप्रभवानि तण्डुलीयादीनि ॥ ५ ॥

(८) गोविन्दराजः । कः पुनरसावन्नदोष इत्याशङ्क्य तमाह लशुनमिति । लशुन-गृञ्जनपलाण्ड्वाख्यानि शाकानि । कवकं छत्राकविशेषः खुकं खण्डकमित्यायुर्वेदप्रसिद्धम् । अमेध्यप्रभवानि च मनुष्यादिजगध्रवीजपुरीषनिर्गतत्वेन केवलामेध्योत्पत्तिकानि पुरीषस्थानोत्पन्नानि चामेध्यसंसर्गप्रभवानि तण्डुलीयाकादीनि द्विजातीनामभक्ष्याणि । द्विजाति-

ग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम्, चातुर्थ्यं तु अभक्ष्यप्रकरणं ब्राह्मणस्यैव 'नाश्रोत्रियतते यज्ञे' (४।२०५) इत्युपक्रम्य 'भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्' इत्यभिधानात् । अत एव प्रकरणभेदः ॥ ५ ॥

लोहितान् वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा ॥

शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । वृक्षकोटरस्त्रावेण हेत्वन्तरेण वा बहिर्यन्मूलस्कन्धफलपलाश-शाखाकुसुमव्यतिरिक्तं वृक्षलग्नं जायते स वृक्षनिर्यासः । लोहितग्रहणात्कपूर्वादीनामप्रतिषेधः । व्रश्चनाच्छेदनाद्येषां प्रभवो जन्म । एवं वृक्षादेर्वल्कप्रदेशा ये तत्रैव जायन्ते तेषामलोहितानामप्रतिषेधः । शेलुः श्लेष्मातकः प्रसिद्धो वैद्यकादिशास्त्रेभ्यः । न तु सुतस्य क्षीरस्य सन्तानिका, अप्रसिद्धत्वात् । यत्तु "पीयूषसाहचर्यात्सन्तानिका युक्तेति",—भवति साहचर्यं विशेषहेतुरुभयत्र प्रयोगे सति, न पुनः साहचर्यमदृष्टप्रयोगाणां प्रयोगज्ञापकम् । गव्यं च । गव्यग्रहणान्माहिषादेरप्रतिषेधः । अनाद्यमग्निमात्रसंयोगात्पिण्डीभूतमनासवत् च । सद्यः-प्रसूताया गोः क्षीरं पीयूषशब्देनोच्यते । "ननु च क्षीरस्य सविकारस्य दशाहं चाभक्ष्यतां वक्ष्यति । त्रिचतुराणि वाऽहानि तादृशं क्षीरं भवति" । सत्यम् । यदि कथंचित्कस्या अपि दशाहात्परेण भवति तदिदमर्थवत् । प्रयत्नेनेत्यादि पदद्वयं श्लोकपूरणार्थम् । अभक्ष्या-णीत्यनुवर्तते ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोहितान् व्रश्चनजानपि क्रथनादिनाकृष्टान् । व्रश्चनप्रभवान् वृक्षक्षतजानलोहितानपि निर्यासान् । शेलुः श्लेष्मातकफलं । गव्यं गोसंबन्धिपेयूषं नवप्रसूताया गोर्मासपर्यन्तं पयः । महिष्यादिक्क्षीराणां तु दशाहोर्ध्वमेव भक्ष्यत्वम् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । लोहितवर्णान् वृक्षनिर्यासान्वृक्षान्निर्गतरसान्कठिनतां यातान् । व्रश्चनं छेदनं तत्प्रभवानलोहितानपि । तथाच तैत्तिरीयश्रुतिः 'अथो खलु य एव लोहितो यो वाऽऽव्रश्चनान्निर्येषति तस्य नाशयं काममन्यस्ये'ति । शेलुं बहुवारकफलं । गोभवं पेयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरमग्निसंयोगात्कठिनं भवत्येतान्यतस्त्यजेत् । 'अनिर्दशाया गोः क्षीर'- (५।८) मित्यनेनैव पेयूषस्यापि निषेधसिद्धावधिकदोषत्वात्प्रायश्चित्तगौरवज्ञापनार्थं पृथङ्-निर्देशः अत एव यत्नत इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । वृक्षनिर्यासान् वृक्षकोटरेभ्यो जातान् लोहितानिति कर्पूर-वारणार्थम् । व्रश्चनं छेदनं तत्प्रभवम् । तथाच तैत्तिरीयश्रुतिः 'अथो खलु य एव लोहितो यो वाऽऽव्रश्चनान्निर्येषति तस्य नाशयं काममन्यस्ये'ति । अयमेव लोहितो यो व्रश्चना-न्निःसृतस्तस्य नाशयं काममन्यस्येति तस्य नाशयमभक्ष्यमन्यस्यानिषिद्धस्य कामं भक्षणमिति श्रुतेरर्थः । व्रश्चनप्रभवानामलोहितोऽपि निषिद्धः । शेलुं बहुवारकं । पेयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरं, 'अनिर्दशाया' इत्यनेनैव प्राप्तत्वेऽप्यत्यन्तनिषेधार्थम् । गर्भादारभ्य स्तनस्थकठिन-तरदुग्धं वा ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । ब्रश्चनप्रभवान्हिङ्गुप्रभृतीन् । शेलुः श्लेष्मातकः । गव्यं पेयूषं तत्क्षणप्रसूताया गोः प्रथमदुग्धम् । 'पीयूषोऽभिनवं पयः' इत्यमरः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । लोहितान् आरक्तान्वृक्षनिर्यासादीन्निर्वर्जयेत् । ब्रश्चनप्रभवान् वृक्षच्छेदजातान् । लोहितग्रहणात् हिङ्गुकर्पूरादीनामनिषेधः । शेलुं श्लेष्मातकफलं । गव्यं गोरिदं गव्यं । नवप्रसूताया दुग्धविकारं पेयूषं पेयूषीति संज्ञं । एतानि प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥ ६ ॥

(७) मणिरामः । लोहितान् लोहितवर्णान् वृक्षनिर्यासान् वृक्षनिर्गतस्रान् घनीभूतान् । ब्रश्चनप्रभवान् वृक्षच्छेदनजातान् अलोहितानपि । शेलुः श्लेष्मातकः लहसोराभाषा । गव्यं पेयूषं तत्कालप्रसूतायाः गोः क्षीरं 'अनिर्दशाया गोः क्षीर'मित्यनेनैव पेयूषस्यापि निषेधे सिद्धे प्रायश्चित्ताधिक्यार्थं पृथङ्निर्देशः ॥ ६ ॥

(८) गोविन्दराजः । लोहितान् यत्र पुष्पादिव्यतिरिक्तान् प्रस्रावादिना वृक्षेभ्यो निर्गतास्तथा । वृक्षे गुन्दप्रदेशोद्भवान् शेलुं च श्लेष्मातकं "शेलुः श्लेष्मातकः स्मृत" इत्यभिधानकोशाद्यायुर्वेदप्रसिद्धेः, नतु क्षीरसूतक्षीरसन्तानिका यथाऽन्यैर्व्याख्यातम्, असिद्धेः । गोसंबन्धि च पीयूषम् । नवप्रसूताया गोः क्षीरं यदग्निसंयोगात् कठिनीभवति तद्यत्नतो वर्जयेत् । एतच्च दशाहात्परेणापि यदि कदाचित्स्यात् तदा निषिध्यते । दशाहोर्नर्वातिनस्तु 'अनिर्दशाया गोः क्षीर' इत्यनेनैव निषिद्धत्वात् ॥ ६ ॥

वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च ॥

अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र कृसरसंयावमिति समाहारे द्वन्द्वः । तिलैः सह सिद्ध ओदनः 'कृसर'शब्देनोच्यते । संयावो भोज्यविशेषः सर्पिर्गुडतिलादिकृतः पुरेषु प्रसिद्धः ।

"ये तु यौतेमिश्रणार्थत्वाद्यानि मिश्रीकृत्यान्नानि साध्यन्ते मुद्गकुष्ठकादिभिस्तानि संयावशब्देनोच्यन्त" इति, तेषां कृसरग्रहणमनर्थकम् । सोऽपि ह्यनेन प्रकारेण 'संयाव' एव । वृथाशब्दः सर्वत्रानुषज्यते । यदात्मार्थं क्रियते, न देवपितृतिथ्यर्थम् । तदा कृसरादीनामुपदेश इति — तदयुक्तम्; न हि गृहस्था एकेनार्थेन पचन्ति । हविष इवावापात्प्रभृति तादर्थ्येनोद्देशः । किं तर्हि ? अनुद्दिष्टविशेषस्य सामान्यतः कृतस्यान्नस्य पच्ययज्ञानुष्ठानं विहितम् । तत्राकृतवैश्वदेवस्य भोजने विहितातिक्रमः, न पुनः प्रतिषेधः समस्ति । तथा हि द्वे प्रायश्चित्ते भवतः । विहितातिक्रमात्प्रतिषिद्धसेवनाच्च । कृसरादयस्तु देवताविशेषं वास्तुयज्ञादिविषयमनुद्दिश्य कृताश्चेदाह्निकविधयोऽपि प्रतिषिध्यन्ते । यश्चापि 'नात्मार्थं पचेदिति' सोऽप्यवश्यकर्तव्यत्वात् कृतातिक्रमस्य भोजनप्राप्त्यनुवादो न पुनः प्रतिषेधः । तथा सति द्विमूलकल्पनाप्रायश्चित्तं स्यादित्युक्तम् । न चान्यार्थत्वेनापि कृतस्यात्मार्थता पाकस्य निषेद्धुं शक्यते । पच्यमानार्थो हि पाकस्तस्य तद्द्वारिका न शक्या आत्मार्थता निषेद्धुं, तेनैव वृत्तिविधानात् । न हि भृत्यादिशिष्टभोजनं गृहस्थस्य शेषसंस्कारो न चात्र सङ्कल्पः श्रुतो,

येन 'मदर्थे पच्यतामिति' पाककाले संकल्पमात्रं निषिध्यते । आत्मार्थं चोत्तरकालमविचार्येत्युच्यते । मिथ्यासङ्कल्पदोषश्च स्यात्-देवतार्थतया सङ्कल्पितस्यात्मार्थतया योग इति । तस्मादयमनुवादो 'यत्पचन्नात्मार्थमेवोपयोज्यं प्राग्विधेर्वैश्वदेविकादिति' । तथा च अपक्व-भोजनेऽपि विधिमेतं स्मरन्ति-"यदन्नः पुरुषो राजंस्तदन्नास्तस्य देवता" इति (रामायणे अयोध्याकाण्डे) । न च बुभुक्षमाणस्यैवाधिकारः, गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिनिमित्तत्वात् । तेन यदहर्न भुञ्जीत तदहरप्यकुर्वन्प्रत्यवैति । एतदुक्तं भवति-स्वार्थं वा पचतु परार्थं वा, मा पाक्षीदिति सर्वथा कृतवैश्वदेवातिक्रमणव्रता अपि न प्रवर्तन्ते इति नित्यतामनुवदति । यच्चापि पठति-"लौकिके वैदिके वाऽपि हुतोत्सृष्टे जले क्षितौ । वैश्वदेवस्तु कर्तव्यः पञ्च-सूनापनुत्तये" इति-अनेनापि नित्यतैवोच्यते । न हि वैदिके वैश्वदेवसम्भवः । न च स्मार्तवचने प्रमाणमस्ति ।

पायसापूपमिति । पायसा सिद्ध ओदनः 'पायसः', न दध्यादि पयोविकारः । **अपूपाः** पुरोडाशाः । **देवान्नानि** समाचारप्रमाणकानि । **हवींषि** श्रुतिविहितानि होतव्यानि-प्रागग्रहहोमाद्-यतो हविःशेषस्य भक्ष्यतां वक्ष्यति । **अनुपाकृतस्य** अयज्ञाहतस्य पशोर्मांसानि । 'उपाकरणं' पशोः संस्कारविशेषः । स पशुयागेषु विहितः । एतेन च यज्ञोपयुक्तशेषभक्ष्यता मांसस्य लक्ष्यते ।

वृथाशब्दाधिकारेऽप्यनुपाकृतग्रहणमतिथ्यादिशिष्टस्यापि गोव्यजमांसस्य प्रतिषेधार्थम् । गोऽव्यजमांसमेव वाऽनुपाकृतशब्देन विवक्षितम् । गोऽव्यजस्यैव तन्नालम्भश्चोदितो यतः शिष्टं प्रोक्षितमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

(२) **सर्वज्ञानारायणः ।** वृथा विप्रेभ्यो देवेभ्यश्चादत्त्वा । **कृसरस्तिलमुद्गमाषसहसिद्ध** ओदनः । **संयावो** गुडक्षीरघृतादिसाधितः पेयविशेषस्तत्करिकेति प्रसिद्धः । **अनुपाकृतानि** पशुबन्धाङ्गभूतमन्त्रवद्भस्पर्शरूपसंस्कारेणासंस्कृतानि । एतत्पूर्वाध्यायस्थवृथामांसपदव्याख्यानम् । तथाच श्राद्धादावपि मांसभक्षणे दोष इति गम्यते । **देवान्नानि** देवेभ्यो निवेदितान्नानि । **हवींषि** हविःशेषाः । ऋत्विग्यजमानव्यतिरिक्तानामभक्ष्याः ॥ ७ ॥

(३) **कुल्लूकः ।** देवताद्यमुद्देशेनात्मार्थं यत्पच्यते तद् वृथा, **कृसरस्तिलेन सह** सिद्ध ओदनः । तथाच **छन्दोगपरिशिष्टम्** "तिलतण्डुलसंपक्वः कृसरः सोऽभिधीयते ।" **संयावो** घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धस्तत्करिकेति प्रसिद्धः । **क्षीरतण्डुलमिश्रः पायसः । अपूपः** निष्टकः एतान्वृथापक्वान्विवर्जयेत् । पशुयागादौ मन्त्रबहुलेन पशोः स्पर्शनमुपाकरणं तद्रहितः पशुरनुपाकृतस्तस्य **मांसानि देवान्नानि** नैवेद्यार्थमन्नानि प्राङ्निवेदनात् । **हवींषि च पुरोडाशादीनि** होमात्प्राग्वर्जयेत् । **अनुपाकृतमांसानीत्येतद्विशेषनिषेधदर्शनात्** 'अर्नचितं वृथामांसम्' (४।२।३) इति सामान्यनिषेधो गोबलीवर्दन्यायेनानुपाकृतमांसेतरश्राद्धानुद्देश्यमांसभक्षणे पर्यवस्यति ॥ ७ ॥

(४) **राघवानन्दः ।** कृसरस्तिलेन सह सिद्ध ओदनः । **संयावः** घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धः । एतच्चतुष्टयं देवान्नं तेभ्यो दत्तवैव भोज्यम् । **अनुपाकृतमांसानि** पशुयागादौ

मन्त्रेण पशोः स्पर्शनमुपाकरणं तद्रहितपशोर्मांसानि । देवान्नानि देवपूजार्थं संचितानि । हवींषि होमार्थं पितृर्थं वा संचितानि ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । आत्मार्थमुपादानवृथात्वम् । तिलमिश्रमोदनं कृसरः । संयावं पिष्टविकारोऽपुपादि । उपाकृतं यज्ञविशिष्टम् । देवस्वामिकमन्नं देवान्नम् । हविस्तु देवतायै निवेदयिष्यमाणं स्थापितद्रव्यम् । विवर्जयेदित्यनुवर्तते ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृथाकृसरः देवताद्युद्देशमन्तरेण साधितः, कृसरः तिलमुद्गतण्डुल-मिश्रितान्नसिद्धः कृसरसंज्ञः । संयावः गुडक्षीरघृतादिगोधूमचूर्णविकारः । पायसं अपूपमेव अनुपाकृतमांसानि यज्ञे संस्कृतस्य पशोर्मांसानि । देवान्नानि देवतोद्देशेन संकल्पितान्नानि हविर्हवनीयद्रव्यं ऋत्विग्यजमानव्यतिरिक्तानाम् ॥ ७ ॥

(७) मणिरामः । देवताद्युद्देशेन विना स्वनिमित्तमेव 'यत्' क्रियते' तद्वृथा, कृसरः तिलमिश्र ओदनः । संयावः क्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धः । पायसः दुग्धतण्डुलसिद्धः । एतान् वृथा पक्वान् वर्जयेत् । मन्त्रेण पशोः प्रोक्षणं उपाकरणं तद्रहितः पशुः अनुपाकृतः तस्य मांसानि । देवान्नानि नैवेद्यार्थं कृतानि निवेदनात् प्राक् हवींषि पुरोडाशादीनि ॥ ७ ॥

(८) गोविन्दराजः । वृथा कृसरसंयावमिति । कृसरं तिलमुद्गसिद्धमोदनं, संयावं घृतगुडक्षीरादिकृतं पुष्करिकेति प्रसिद्धम्, पायसमपूपं च वास्तुयज्ञादिविशिष्टदेवतायागो-द्देशमन्तरेण कृतम् । कृतान्वाहिकवैश्वदेवकार्यमपि न भक्षयेत् । तथा उपाकरणाख्य-श्रौतसंस्कारविशेषार्हणां गोऽव्यजानां यान्यनुपाकृतानि मांसानि तानि कल्पयता न भक्षयेत् । अतिथ्यादेस्तु "अनर्चितं वृथामांसं" इत्युक्त्वा देवान्नानि च निवेदकादीनि हवींषि च प्राग्घोमात् वर्जयेत् । हविश्शेषस्य हि भक्ष्यत्वं वक्ष्यति ॥ ७ ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा ॥

आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ॥

सप्तरात्रव्रतं कुर्यात् प्रयत्नेन समाहितः ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । यदीह 'अनिर्दशाहं गोः क्षीरमिति' पाठः उष्ट्रादीनामपि दशाहादिकः प्रतिषेध आशङ्क्यते । अनिर्दशाग्रहणानुवृत्त्या तत्र समाचार आत्यन्तिकप्रतिषेधार्थं आश्रयणीयः । अनिर्दशाया इति तु स्त्रीलिङ्गपाठे आशङ्क्य नास्ति । न हि तद्वितान्तरैरनिर्दशाया औष्ट्रमित्यादिभिः सम्बन्धोपपत्तिः ।

उत्तरत्र च पुनः क्षीरग्रहणात् समाचाराच्च औष्ट्रैकशफाविकानिर्दशगवीक्षीराणि सवि-काराणि प्रतिषिध्यन्ते । सन्धिनीविवत्सयोस्तु क्षीरमेव ।

अनिर्दंशा च गौरुच्यते यस्याः प्रसूताया दशाहान्यनतिक्रान्तानि ।

सन्धिनी या उभयोः प्राप्तदोहा कथंचिदन्यतरस्मिन्दुह्यते । प्रातरप्रदुग्धा सायं दुह्यते । सा तु स्वल्पक्षीरत्वादेकस्विन्नेव काले, साऽसी सन्धिनी ।

कश्चिदाह या मृतस्ववत्सा परकीयं वत्सं संचार्य दुह्यते सा 'सन्धिनी' । 'विवत्सा' तु या सत्येव वत्से विनाकृतवत्सा वत्सप्रस्रवणमनपेक्ष्य कुष्ठकयवशालितुषादिना भोजनविशेषेण दुह्यात् ।

विवत्साया इति । एतेनैव वत्सग्रहणेनावत्सा धेनुरानीयतामिति वद्गोरिति लब्धे गोग्रहण-मजामहिष्योरप्रतिषेधार्थम् । न पुनरनिर्दंशाया इत्यत्र । अतश्च गोग्रहणं तत्राजाद्युपलक्षणार्थम् । तथा च गौतमः (१७।२२-२३) "गोश्च क्षीरमनिर्दंशायाः सूतके । अजामहिष्योश्च" इत्याह ।

पयोग्रहणं सन्धिनीक्षीरमिति समासान्तवर्तिनः क्षीरपदस्य नातिसुकरः सम्बन्धो यतः ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिर्दंशाया इति पेयूषान्तरादोषाधिक्यप्रदर्शनार्थम् । गोरित्यजामहिष्योरप्युपलक्षणम् । उष्ट्रैकशफाविकपदैरुष्ट्रादिपयांस्युच्यन्ते । सन्धिनी वृषाक्रान्ता गौः ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रसूताया अनिर्दंशाया गोर्दुग्धम् । गोरिति पेयक्षीरपशूपलक्षणार्थं, तेनाजामहिष्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः । तथाच यमः 'अनिर्दंशाहं गोक्षीरमाजमहिषमेव च ।' तथोष्ट्रभवं । अश्वाद्येकखुरसंबन्धि । मेषभवं । सन्धिनी या ऋतुमती वृषमिच्छती तस्याः क्षीरम् । तथाच हारीतः 'सन्धिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेत् ऋतुमत्तद्भवति' । विवत्साया मृतवत्सायाः । असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत् । धेन्वधिकरणन्यायेन वत्सग्रहणादेव गवि लब्धायां पुनर्गोग्रहणं गोरेव न त्वजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । एकशफं एकशफागर्दभाश्वादयस्तेषामिदं दुग्धादि । आविकं अविर्मेषस्तस्येदं । सन्धिनी ऋतुमती ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । अनिर्दंशायाः अनिर्गतदशाहायाः । एकशफाः अश्वादयः । सन्धिनी गर्भिणी ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनतिक्रान्तदशाहमस्या अनिर्दंशाया गोः क्षीरं । औष्ट्रं पयः एकशफं वडवादीनां पयः । अवेः आविकं पयः । सन्धिनीक्षीरं वृषेण सन्धीयते या सा सन्धिनी । मृतवत्सायाः पयः ॥ ८ ॥

(७) सणिरामः । आविकं मेघ्याः क्षीरं । सन्धिनी ऋतुमती वृषं इच्छन्ती तस्याः क्षीरं ॥ ८ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनिर्दशाया इति । प्रसूतायाश्चानिर्दशाया गोः संबन्धि क्षीरं । तथा उष्ट्रसंबन्धि अश्वाद्येकशफैडकसंबन्धि च तथा “अदुग्ध्या दोहकालेषु सन्धिनी सन्निरिष्यते” इति त्रिकाण्डाभिधानात् भक्ष(?)क्षीराया अपि सन्धिन्याः क्षीरं, तथा मृतवत्सायाश्च गोः पयो वर्जयेत् । वत्सग्रहणादेव गविलब्धायां गोग्रहणं गोरेव, नत्वजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम् । अत्र क्षीरग्रहणे प्रकृते सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पय इति पुनः क्षीरग्रहणपयोग्रहणाच्च सन्धिनीविवत्सायाश्च क्षीरमेव प्रतिषिध्यते । न तु तद्विकारा इति कश्चिदाह—तदसत्; स्वभावाशुचिनो विकाराभ्यनुज्ञानस्यान्याय्यत्वात् । यथा चाशुभात्रेषु तस्य निषेधदर्शनम् । शङ्खश्चाह ‘क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः । सप्तरात्रव्रतं कुर्यात् प्रयत्नेन समाहितः’ इति । सन्धिन्याश्च तद्वितनिर्देशस्य कृतत्वाच्च क्षीरग्रहणं कर्तुमुपयुज्यते सन्धिनीक्षीरमिति च समासान्तर्वर्तितत्वात् क्षीरशब्दस्य गोः पय इति पयोग्रहणमुपयुज्यते ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ॥

स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । आरण्या गोहस्तिमर्कटादयः । पुंसां क्षीराभावः । सर्वेषां मृगाणामिति जातिमात्रविवक्षायां पुंलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात्स्त्रीभिः सम्बन्धः । मृगक्षीरं कुक्कुटाण्डमिति वत् । दर्शितं चैतत्पुम्भावविधौ महाभाष्यकारेण । माहिषं विना । पयोऽपेक्षया नपुंसकनिर्देशः ।

स्त्री मानुषी । यद्यपि ‘स्त्री गौः सोमक्रयणी’त्यादौ सास्नादिमत्यर्थे प्रयोगदर्शनम्, तथापि जात्यन्तरस्याप्रकृतत्वात् प्रसिद्धतरत्वात् तत्र प्रयोगः स्यात् । “स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति स्त्रियो रत्नमनुत्तममिति” नार्येव प्रतीयते । एवकारमञ्जनादिप्रतिषेधे व्याचक्षते । न केवलं स्त्रीक्षीरं भक्षणे वर्ज्यं । किं तर्हि ? अन्यास्वप्येवंविधासु क्रियासु । एष तु स्मृत्यन्तरसमाचारसापेक्ष एवशब्दः सूचको युक्तः, न त्वस्यार्थस्य वाचकः ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आरण्यानां मृगव्यतिरिक्तानामप्यरण्यजानाम् । तथा मृगाणां मृगजातीनां गवयादीनां संबन्धि पयः । स्त्रीक्षीरं मानुषीक्षीरम् । अत्र क्षीरप्रक्रमे पुनः क्षीरग्रहणमस्याः क्षीरमेवाभक्ष्यं नतु घृतादीति दर्शयितुमिति केचित् । शुक्तस्य पुनरत्राध्याये निषेधो दध्यादिप्रतिप्रसवार्थः ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । मृगशब्दोऽत्र महिषपर्युदासात्पशुमात्रपरः । माहिषं क्षीरं वर्जयित्वा सर्वेषामारण्यप्रभवपशूनां हस्त्यादीनां क्षीरं स्त्रीक्षीरं च सर्वाणि शुक्तानि वर्जनीयानि । स्वभावतो मधुररसानि यानि कालवशेनोदकादिना चाम्लीभवन्ति तानि शुक्तशब्दवाच्यानि । ‘शुक्तं पर्युषितं चैवे’ति (४।२।११) चतुर्थे कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुनरिहोच्यते ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । माहिषं दुग्धादि विनारण्यानां । स्त्रीक्षीरं स्वभार्याया अन्यस्त्रियो वा । एतानि त्रीणि वर्ज्यान्येव ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वासां मृगीणां महिषीं विनेति पाठः । कालातिपत्या स्वरसं विहाय रसान्तरगतं शुक्तम् ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीक्षीरं द्विस्तनीनाम् ॥ ९ ॥

(७) मणिरामः । मृगाणां पशूनां । आरण्यानां हस्त्यादीनां । शुक्तानि स्वभावतो मधुराणि कालान्तरेणाम्लीभूतानि ॥ ९ ॥

(८) गोविन्दराजः । आरण्यानामिति । माहिषवर्जमारण्यानां सर्वेषां हस्त्यादीनां मृगाणां सम्बन्धि क्षीरं स्तनैः च वर्जयेत् । तथा यानि प्राप्तस्वरसानि कालान्तरेणोदकादिसंसर्गकाल-परिवासाभ्यां चाम्लीभवन्ति तानि सर्वाणि शुक्तानि वर्जयेत् ॥ ९ ॥

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम् ॥

यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥१०॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेण सर्वशुक्तेषु प्रतिषिद्धेषु केषुचिदयमपवादः । शुक्तान्युच्यन्ते यानि प्राप्तसारस्यानि कालात्ययेन द्रव्यान्तरसंसर्गेण वाऽऽम्लतामापद्यन्ते । यथाऽऽम्लताका-दीनि मधुराणि चिरकालमतिरसत्वाच्छुक्तानि भवन्ति । निष्पीडितो मधुररसः काल-तोऽम्लतामेतीत्यादिना एवंविधानि । यानि तु स्वभावतोऽम्लानि दाडिमामलकजम्बीरादीनि तानि नैव 'शुक्तानि' । यानि च प्राप्तकालोत्पत्त्यादीनि । न ह्ययमाम्लपर्यायः शुक्तशब्दः । तत्र केवलानि पाकतः शुक्तानि प्रतिषिध्यन्ते । द्रव्यान्तरैश्च पुष्पमूलकादिभिर्योजितान्यत्र जायन्ते । तथा च गौतमः (१७ । १४) "शुक्तं केवलमदधि" ।

अभिषूयन्ते । अभिषव उदकेन संसृज्य परिवासनम् । "यद्येवं काल एव तर्ह्यम्लताहेतुः" । सत्यम् । एतान्यपि द्रव्याणि । तृतीया च करणे सहयोगे वा । पुष्पादिभिरुदकेन सह अभिषूयन्ते सन्धीयन्ते । केचित्त्वाहुः—यत्र पुष्पमूलान्यम्लतां जनयन्ति । यानि दाडिमामलकादीनि शुक्तानि तानि भक्ष्याणि, यानि द्राक्षादिभिर्मधुरैरभिषूयन्ते सन्धीयन्ते तानि न भक्ष्यन्ते । अभिषवो ह्युच्यन्ते शुक्तताजननम् । यानि पुष्पादिभिः शुक्तीक्रियन्ते । न च द्राक्षादीनि शुक्ततापादकानि । किं तर्हि ? केवल एव कालः—एतत्तु न सम्यक्; अशब्दार्थत्वात् । न हि 'सोममभिषुणोतीति' शुक्तं करोतीति प्रतिपत्तिः । किं तर्हि ? य एव प्राग्व्याख्यातोऽर्थः । दधिसम्भवं उदश्विन्मस्तु-किलाटकूर्चिकादि ॥ १० ॥

(२) सर्वजनारायणः । दधिसम्भवं तक्रनवनीतादि । यानि काञ्जिकादीनि अभिषूयन्ते मिश्रीक्रियन्ते । शुभैरनिषिद्धैः ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । शुक्तेषु मध्ये दधि भक्ष्यं दधिसंभवं च सर्वं तक्रादि । यानि तु पुष्प-
मूलफलैरुदकेन संधीयन्ते तानि भक्षणीयानि । शुभैरिति विशेषणोपादानान्मोहादिविकार-
कारिभिः कृतसंधानस्य प्रतिषेधः । तथाच बृहस्पतिः—‘कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान्न
वर्जयेत् । अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत् ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । दधिसंभवं दध्युपादानकं दधिमिश्रं च तेनामिक्षादिग्रहः । शुभैरिति
विशेषणान्निषिद्धेतरैरभिषूयन्ते रसगन्धादीनि तान्यपि भक्ष्याणीत्यन्वयः । ‘कन्दमूलफलैः
पुष्पैः शस्तैर्युक्तं तु वस्तु यत् । अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत् ॥’ इति बृहस्पतिः
॥ १० ॥

(५) नन्दनः । शुक्तेषु वस्तुषु कानिचित्प्रतिप्रसूते दधीति ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्ष्यमाह दधीति । पुष्पमूलफलैः शुभं रसैर्यान्यभिषूयन्ते मिश्री-
क्रियन्ते तानि मेध्यानि ॥ १० ॥

(७) मणिरामः । दधिसंभवम् सर्वं तक्रादि । अभिषूयन्ते पुष्पाद्यैः उदकेन संधीयन्ते
तान्यपि शुक्तानि भक्षयेत् ॥ १० ॥

(८) गोविन्दराजः । अत्र प्रतिप्रसवमाह दधि भक्ष्यं तु शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्
इति । शुक्तेषु मध्यादधि तत्संभवं तु सर्वं उदश्विदादि । यानि च शुद्धैः पुष्पादिभिर्दकेन
सह सन्धीयन्ते तानि भक्षणार्हाणि । आचारस्य च स्मृतिवाक्यव्याख्यानस्थानीयत्वात् य
आचाराविरोधी स स्मृत्यर्थः कल्पयितुं न्याय्यः । अतः शिष्टाचारानतिक्रमेण पुष्पादिग्रहणं
द्रव्यान्तरप्रदर्शनमपि विज्ञेयम् । अत्र जामिषुतशुक्तप्रतिप्रसवात् सर्वं शुक्तानीत्ययं प्रतिषेधोऽप्य-
भिषुतविषय एव । ततः स्वभावशुक्तानामामलकादीनामप्रतिषेधः इति केचित्—तदसत्;
‘दधि भक्ष्यं तु’ इत्यनभिषुतस्यापि प्रतिप्रसवात् । न चामलकादीनामभक्ष्यतापत्तिः, न ह्यम्ल-
पर्यायशुक्तशब्दोऽपि [तु] यथोक्तार्थ एव ॥ १० ॥

क्रव्यादः शकुनीन् सर्वान् तथा ग्रामनिवासिनः ॥

अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिद्विभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रव्याद आममांसभक्षकाः कडकगृध्रादयः । अभक्ष्यवत्केवलाम-
मांसभक्षका गृह्यन्ते । न तूभयरक्ता मयूरादयः । ग्रामनिवासिनः अक्रव्यादा अपि । एकशफा
अश्वश्वतरगर्दभादयः । अनिर्दिष्टास्तु न भक्ष्यत्वेनोक्तास्ते न भक्ष्या इति । ये तूक्तास्तत्रैव
भक्ष्याः । ये तूष्ट्रवडवक्रृक्षगौरगर्दभाः प्रजाकामस्तेषां च मांसमश्नीयादिति ।

“ननु च श्रुतित एव तत्र भक्ष्यावाप्तिः । प्रत्युत निर्दिष्टग्रहणे सति श्रुतौ चोदितानाम-
न्यत्र भक्ष्यताशङ्का, ‘अनिर्दिष्टान्वर्जयेन्न निर्दिष्टानिति’ वाक्यार्थप्रतिपत्तेः । न च स्मृतौ
केचिद्भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः, येन तद्व्यतिरिक्तविषयमनिर्दिष्टग्रहणं व्याख्यायेत । अतः श्रुतौ

येऽनिर्दिष्टास्ते न भक्ष्या इति प्राप्नोति” । उच्यते । आचाराविरोधी स स्मृत्यर्थः । अनिर्दिष्टग्रहणमनुवादः ।

टिट्टिभः शकुनिरेव, टिट्टीति यो वाशते । प्रायेण शब्दानुकरणनिमित्तं शकुनीनां नामधेयप्रतिलम्भः । तदुक्तं निरुक्तकारेण ‘काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलमिति’ ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रव्यं मांसं तन्मात्रादः क्रव्यादः । ग्रामनिवासिनो ग्राममात्रचरान् । अनिर्दिष्टान् भक्ष्यत्वेनानुक्तान् । तथैकशफानश्वादीन् ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । आमं मांसं ये भक्षयन्ति ते क्रव्यादास्तान्सर्वान्गृध्रादीन्पक्षिणो वर्जयेत् । तथा ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् । तथा श्रुतौ केचिदेकशफा भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः तथाच ‘उष्ट्रं वाडवमालभेत तस्य च मांसमश्नीयादि’ति । केचिच्चा निर्दिष्टा रासभादयस्तेषां मांसं वर्जयेत् । येऽपि यज्ञाङ्गत्वेन विहितास्तेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा । टिट्टिभाख्यं च पक्षिणं वर्जयेत् ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतानेकोनविंशतो नाद्यादित्याह क्रव्यादा नाम मांसभोजिनः । शकुनीन् पक्षिणः । ग्रामनिवासिनः पारावतादीन् । अनिर्दिष्टेति विशेषणात् ‘त्वाष्ट्रं वाडवमालभेते’ति तन्मांसं भक्ष्यमिति । एकशफानिति पक्षिविशेषणम् ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अथ भक्ष्येष्वभक्ष्यानाह क्रव्यादानिति । क्रव्यं मांसं तदति भक्षयतीति क्रव्यात् गृध्रादयः क्रव्यादः । ग्रामनिवासिनः पारावतादयः । अनिर्दिष्टाननुपदिष्टान् ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्ज्यानाह क्रव्यादानिति । क्रव्यं मांसं तद्भक्षयन्ति ये क्रव्यादास्तान्गृध्रादीन् । तथा सर्वान्ग्रामनिवासिनः पारावतप्रभृतीन् न निर्दिष्टाननिर्दिष्टान् भक्ष्यत्वेनाकथितानेकशफादीन् । टिट्टिभः शब्दानुकारी एतादृशान्वर्जयेत् ॥ ११ ॥

(७) मणिरामः । क्रव्यादान् आममांसभक्षकान् गृध्रादीन् । ग्रामनिवासिनः पक्षिणः पारावतादीन् । अनिर्दिष्टांश्चैकशफान् रासभादीन् । ये च यज्ञादौ विहिताः तेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा ॥ ११ ॥

(८) गोविन्दराजः । क्रव्यादशकुनीन् सर्वानिति । आममांसमेव ये भक्षयन्ति तान् श्येनादीन् सर्वान् पक्षिणो वर्जयेत् । एवं चोभयभक्ष्याणां मयूरादीनामप्रतिषेधः । तथा च शङ्खः—“तित्तिरं च मयूरं च लावकं च कपिञ्जलम् । वार्ध्रीणसं वर्तकं च भक्ष्यानाह यमः सताम्” इति । ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् वर्जयेत् । तथा श्रुतौ भक्ष्यत्वेन च ‘उष्ट्रं वाडवमालभेत तस्य च मांसमश्नीयादि’तिवत् ये न निर्दिष्टा एकशफाः तान् वर्जयेत् । येतु यत्र निर्दिष्टाः तांस्तत्रैव भक्षयेत् यज्ञाङ्गत्वेन तेषां तत्रैव भक्ष्यत्वनोदनात् नान्यत्र टिट्टिभाख्यं च पक्षिणं वर्जयेत् ॥ ११ ॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।

सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । कलविङ्को ग्रामचटको निगमेषूक्तः, ग्रामवासित्वात्तस्य सिद्धे प्रतिषेधे पुनः प्रतिषेधः स्त्रियाश्चटकाया अभ्यनुज्ञानार्थः । पुंशब्दो ह्ययं वृषभवत् । अन्ये त्वारण्यस्य निवृत्त्यर्थं मन्यन्ते । ते हि वर्षासु वनवासिनो भवन्ति । बाहुल्यव्यपदेशाच्च ग्रामचटका उच्यन्ते । यथा महिषा आरण्याः ।

प्लवहंसचक्रवाकानां वक्ष्यमाणजालपादप्रतिषेधात्सिद्धे प्रतिषेधे नित्यार्थे ग्रहणम् । अत आट्यादीनां विकल्पेन भक्षणं गम्यते । ग्रामकुक्कुटम् । ग्रामग्रहणादारण्याभ्यनुज्ञानम् ।

“कुतः पुनरारण्यस्याभक्ष्यताशङ्का” । स्मृत्यन्तरे हि “कुक्कुटो विकिराणामिति” पठ्यते । अतश्चाविशेषेणाभक्ष्यता प्राप्ता वचनेन । तस्य सामान्यप्रतिषेधस्य विशिष्टविषयता प्रज्ञायते ।

“ननु विकल्पः कस्मान्न भवत्यनेन शास्त्रेणास्याभ्यनुज्ञानाच्छास्त्रान्तरेण चाविशेषेण तस्यापि प्रतिषेधात्” । नायं विकल्पस्य विषयः । विरोधे हि तुल्यबलानां विकल्पः, न चात्र विरोधोऽस्ति । न ह्यनयोः स्मृत्योः शास्त्रभेदोऽपि । सामान्यस्य विशेष उपसंहर्तुं न्याय्यत्वात् । शास्त्रान्तरतस्तृतीयस्याप्येकशास्त्रस्य दर्शितत्वात् । “यद्येवं जालपादप्रतिषेधस्यापि हंसादिविशेष एवोपसंहारो युक्तो नाविशेषेण काकजालपादानां सर्वेषां प्रतिषेधः” ।

भवेदेवं यद्यपौरुषेयोऽयं ग्रन्थः स्यात् । भिन्नकर्तृके त्वपौरुषेयत्वे न सामान्यस्य किञ्चित्प्रयोजनं हंसादिविशेषमात्रपर्यवसाने । भिन्नकर्तृकत्वे तु पौरुषेयत्वे सति सामान्यदर्शिनो विशेषविषयमज्ञानं सम्भवति, विशेषदर्शिनोऽपि सामान्यविषयम् । उभयोश्च मूलकल्पनायामेकस्य सामान्यवेदनं वचनमूलं कल्प्यते, अन्यस्य विशेषवचनम् । तयोश्च वैदिकयोर्भिन्नशाखाधीतयोरसति शास्त्रभेदे, एकवाक्यतैव न्याय्या । न च वेदे पर्यनुयोगोऽस्ति, ‘किं सामान्येन यदि विशेषनिष्ठता’; तस्य कर्तुरभावात् । श्रुताद्धि तत्र प्रतिपत्तिः केवलशब्दशक्तिसमाश्रिता । न प्रयोजनवशेनार्थान्तरकल्पनम् । रज्जुवालादयः शाकुनिकेभ्य उपलब्धव्याः ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कलविङ्को वन्यो ग्राम्यश्चेति वन्यनिषेधार्थं पृथङ्निषेधः । प्लवो जलकाकः । चक्राह्वश्चक्रवाकः । रज्जुवालो जलचरपक्षिभेदः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । कलविङ्कं चटकं तस्य ग्रामारण्योभयवासित्वादेव निषेधः इत्यारण्यस्याप्यभक्ष्यत्वार्थं जाति(?)शब्देन निषेधः । प्लवाख्यं पक्षिणं तथा हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटसारसरज्जुवालदात्यूहशुकसारिकाख्यान्पक्षिणो वर्जयेत् । वक्ष्यमाणजालपादनिषेधेनैव हंसचक्रवाकयोरपि निषेधसिद्धौ पृथङ्निषेधोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः, सच व्यवस्थितो विज्ञेयः । आपदि भक्ष्या नत्वनापदि; इच्छाविकल्पस्य रागत एव प्राप्तेः । ग्राम-

कुक्कुटे तु ग्रामग्रहणमारण्यकुक्कुटाभ्यनुज्ञानार्थं न त्वेतद्व्यतिरिक्तग्रामवासिविकल्पार्थम् । आपदर्थं गतं प्रयोजनं भवति । वाक्यान्तरगतविशेषावधारणपरत्वस्यान्याय्यत्वात् ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । कलविङ्को ग्रामचटकः । ग्रामवासित्वात्तस्य प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्ग्रहणमष्टकासु स्त्रीणामारण्यानां चानुमत्यर्थम् ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । कलविङ्को ग्रामचटकः । प्लवो हंसविशेषः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कलविङ्कं ग्रामचटकं । प्लवं जलकुक्कुटं । हंसं चक्रवाकं ग्रामकुक्कुटं सारसं रज्जुवालं वृक्षकुक्कुटं, दात्यूहं । 'दात्यूहः कालकण्टक' इत्यमरः । एतादृशांश्च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

(७) मणिरामः । कलविकं चटकं । प्लवः जलकुक्कुटः । चक्रांगः चक्रवाकः । रज्जु-
वालः । वृक्षकुक्कुटः 'कठफोरा' इति प्रसिद्धः । दात्यूहः चातकः । जालपादनिषेधेनैव हंस-
चक्रवाकयोरपि निषेधे सिद्धे पृथगनयोरुक्तिः अन्येषां जालपादानामापदि विकल्पार्थः । तथाच
आपद्यप्येतौ नियमे न भक्षणीयौ, अन्ये जालपादास्तु विकल्पेन भक्ष्या इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(८) गोविन्दराजः । कलविङ्कमिति । कलविङ्को ग्रामचटकः निगमेषु पाठात् ।
तस्य वर्षासु वनवासत्वेनोभयनिवासात् ग्रामनिवासप्रतिषेधः । वृत्त्याशङ्क्यामिदं वचनम् ।
तथा प्लवं संकटविलाख्यं पक्षिणं हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटशुकसारिकां वर्जयेत् । ग्रामकुक्कुट-
ग्रहणं आरण्याभ्यनुज्ञानार्थम् । तस्य ग्रामनिवासित्वादेव प्रतिषेधे सिद्धे जात्यैकाच्चारण्यस्या-
भक्ष्यताशङ्का स्यात् । तदर्थं वचनम् । ननु ग्रामनिवासित्वादेव प्रतिषेधसिद्धेः (ग्रामकुक्कुट-
प्रतिषेधसिद्धेः) ग्रामकुक्कुटग्रहणमेतद्व्यतिरिक्तग्रामनिवासिविकल्पार्थम् किं न व्याख्यायते
किमारण्याभ्यनुज्ञानपरत्वेनेति ? नैवम् । स्वपदार्थगतप्रयोजनसद्भावे सति वाक्यान्तरगत-
विशेषावधारणपरत्वस्यान्याय्यत्वात् सारसं लक्ष्मणाख्यं पक्षिणं रज्जुवालं च पायिकाख्यं
दात्यूहं चक्रवाकजलकुक्कुटशब्दाभ्यां प्रसिद्धं वर्जयेत् ॥ १२ ॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ॥

निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतुद्य प्रहृत्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति । स्वभाव एष एषां पक्षिणाम् ।
प्रतुदाः शतपत्रादयः । जालपादा आट्यादयः । तेषां विकल्प उक्तः ।

“ननु च यत्र विकल्प अन्यतरत्वेच्छातः प्रवृत्तिः । सा चाप्रतिषिद्धेऽपि स्थितैव । लौकिकं
हि भक्षणं तत्सत्येवार्थित्वे, न शास्त्रीयं, येन नियमतः स्यात् । तत्र विकल्पितस्य प्रतिषेधस्य
न किञ्चित्प्रयोजनं पश्यामः” । उच्यते । दत्तोत्तरमेतत् ।

“यत्राबुद्धिपूर्वप्रयोगाच्छब्दादेवार्थावगतिः । पौरुषेयस्त्वयं ग्रन्थः समाहितचेतसा प्रयत्नवता
शतसाहस्रिकं संक्षेप्तुमाचार्येण प्रणीतः, यत्राशक्यमनर्थकं प्रयोक्तुम् । अत आचार्याभिधानं

उन्नीयते । नतु जालपादप्रतिषेधेऽसति तद्विशेषं हंसं स्वशब्देन निषेधयति । यत एतदपि स्मरण-
मेव । अन्ये तु जालपादस्त्विति प्रमादपाठः स्यात्” ।

उक्तं चैतदिङ्गितेन चेष्टितेन महता वा सूत्रप्रणयनेनाचार्याणामभिप्राया लक्ष्यन्ते ।
विशेषश्चात्रानुमीयते । “जालपादादि न भक्षयेत्” इति विवक्षिते सामान्यप्रतिषेध उभयोरर्थव-
त्त्वाय । यत्र मांसविक्रयार्थाः पशवो हन्यन्ते सा सूना । आपणो मांसस्येत्येके । बल्लूरं मांसं
संशोष्य चिरस्थापितम् । नखैर्विकीर्य भक्षयन्ति ते नखविष्किराः मयूरकुक्कुटादयः ।
आपत्स्विति वचनात्तु तेषां पाक्षिकी भक्ष्यताऽप्यस्ति । स हि पठति ‘कुक्कुटो विकिराणामिति’ ।
न चास्य मानवस्य वचनस्य कुक्कुटोपसंहारः शक्यो वक्तुं, कुक्कुटनामग्रहणस्यानर्थक्य-
प्रसङ्गात् ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतुदान् चञ्च्वा प्रतुद्य कृमीन्भक्षयतः । जालपादानुक्तहंसा-
दिव्यतिरिक्तानपि, तेषां तु पृथग्वचनं दोषाधिक्यार्थम् । नखविष्किरान् नखैर्भूमिं विकीर्य
कृमीनुत्पाट्य भक्षयतः । निमज्जतो निमज्ज्य निमज्ज्य मत्स्यादान् मत्स्यान्भक्षयतः । सूना
अनेकप्राणिप्राणवियोजनस्थानं ततो गृहीतं सौनं । बल्लूरं शुष्कमांसम् ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतुद्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति तान्दावाघाटादीन् । जालपादानिति
जालाकारपादान् शरारिप्रभृतीन् । कोयष्टिचाख्यं पक्षिणं नखविष्किरान्नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति
तानभ्यनुज्ञातारण्यकुक्कुटादिव्यतिरिक्तान् श्येनादीन् । तथा निमज्ज्य ये मत्स्यान्खादन्ति
तान्मद्गुरप्रभृतीन् । सूना मारणस्थानं तत्र स्थितं यन्मांसं भक्ष्यमपि । बल्लूरं शुष्कमांसं
एतानि वर्जयेत् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतुदान् दावाघाटादीन् । जालपादान् शराटिप्रभृतीन् । हंसचक्र-
वाकयोर्जालपादत्वेऽपि पृथगग्रहणमतिनिन्दार्थम् । नखविष्किरान् कुक्कुटाद्यतिरिक्तत्वे सति
नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तान् । मत्स्यादान् मद्गुरप्रभृतीन् । सौनं वधस्थलस्थितमज्ञातमांसम् ।
बल्लूरं शुष्कमांसम् ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । कोयष्टिष्टिष्टिभकः । नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति ते नखविष्किराः ।
निमज्जन्तो मत्स्यादा जलव्यालादयः । सौनं सूनास्थानम् । बल्लूरं शुष्कमांसम् । ‘उत्तप्तं
शुष्कमांसं स्यात्तद्वल्लूरं त्रिलिङ्गकमित्यमरः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतुदान् शब्दं कुर्वाणांस्तित्तिरादीन् । जालपादांश्च जालाकारपादांश्च ।
नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तान्नखविष्किरान् श्येनादीन् । तथा निमज्जतः मत्स्यादीन्पक्षिणः ।
सूनास्थाने मांसं सौनं । बल्लूरं शुष्कमांसम् ॥ १३ ॥

(७) मणिरामः । प्रतुदान् चञ्च्वा ये प्रतुद्य भक्षयन्ति तान् दावाघाटादीन् । जाल-
पादान् जालाकारपादान् शरारिप्रभृतीन् । कोयष्टिः टिट्टिभः । नखविष्किरान् नखैर्विकीर्य ये
भक्षयन्ति तान् श्येनादीन् । निमज्जतश्च मत्स्यादान् मद्गुरप्रभृतीन् । सौनं वधस्थानस्थं ।
बल्लूरं शुष्कमांसं ॥ १३ ॥

मनुस्मृति ३/२

(८) गोविन्दराजः । प्रतुदानिति । प्रहृत्य चञ्च्वा भक्षयन्ति तान् दावाघाटादीन्, जालपादांश्च कोयष्टिधूसरिकाख्यं पक्षिणं, नखैः विक्षिप्य ये भक्षयन्ति तान्, श्रद्धाभ्यनुज्ञातारण्य-कुक्कुटव्यतिरिक्तान् चकोरकुभादींश्च तथा निमज्ज्य ये मत्स्यानदन्ति मद्गवादयः तान् 'सूना घातनस्थानं' इतीत्यभिधानिकस्मरणात् आघातस्थाने भवं मांसं भक्ष्याणामपि वल्लूरं शुष्कमांसं वर्जयेत् । जालपादत्वादेव प्लवहंसचक्रवाकानां निषेधसिद्धौ पृथग्वचनं तदन्येषां मायादीनां विकल्पज्ञापनार्थम् । विकल्पश्चापदि भक्ष्याण्यनापदि नेत्येवं व्यवस्थितो विज्ञेयः । यतो बुद्धिपूर्वकारिविरचिते ग्रन्थे आचार्यस्यैवमभिप्राय उन्नीयते । नूनं जालपादप्रतिषेधो नास्वासति (प्रतिषेधेनाश्वासः) येन जालपादविशेषान् हंसादीन् स्वशब्देन निषेधति । न चात्यन्तानाश्वासः तथासति जालपादप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । तस्माद्विशेषोऽज्ञानुमीयते । कस्यांचिदवस्थायां मद्गवादीनां भक्षणमभिमतं कस्यांचित्प्रतिषेध एवेति । तेनापदि तु भक्षणं अनापदि तु निषेध एव, प्रतिषेधद्वयार्थत्वात् । यदि पुनस्तुल्यविकल्पः स्यात् तदा जालपादनिषेध-स्यानर्थक्यमेव स्यात्; तद्वचनमन्तरेणैव तथाविधविकल्पस्य कदाचिद्भक्ष्याणि कदाचिन्नेत्येव तत्फलं सम्पद्यते । तच्च ज्ञापनमन्तरेणैव लौकिकत्वाद्भक्षणस्य अर्थित्वानर्थित्वाभ्यां सिद्धम् । तस्मात् जालपादप्रतिषेधाभिधानादेव व्यवस्थितोऽयं विकल्प इत्यवसीयते ॥ १३ ॥

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।

मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । बकबलाकाकाकोलादीनां मत्स्यादग्रहणात्सिद्धे प्रतिषेधे तदन्येषां विकल्पार्थं पुनर्वचनम् । मत्स्यादा अपक्षिणोऽपि मत्स्यादग्रहणादभक्ष्या विज्ञेयाः नक्रादयः, क्रियानिमित्तत्वान्मत्स्यादशब्दस्य । काकोलश्च श्येनो देशान्तरप्रसिद्धेः, अयं बाल्लीकेष्वेव-मुच्यत इति प्रसिद्धम् ।

विड्वराहप्रतिषेधाच्चारण्याभ्यनुज्ञा ग्रामवासिप्रतिषेधश्च पूर्वसूत्रे प्रकरणाच्छकुनि-विशेषणार्थो विज्ञेयः । एवं हि चेह विड्वराहग्रहणमर्थवद्भवति । ग्रामवासी शूकरो 'विड्वराहः' । "ननु च यदि तत्र प्रकरणाद् ग्रामवासिनः पक्षिणो गृह्यन्ते, इहापि 'मत्स्यादाः' पक्षिण एव ग्रहीतुं न्याय्याः" । नैवम् । न चात्र शकुनीनां प्रकरणमस्ति विड्वराहमत्स्यानामपक्षिणामपि निर्देशार्थम् । सर्वशः सर्वदा । उत्सर्गोऽयम्, अस्यापवादं वक्ष्यामः ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलाका विसकण्ठी । काकोलो द्रोणकाकः, तेन काकमात्रोप-लक्षणम् । मत्स्यादान् मत्स्यभक्षिणो वन्यानापि वराहान् तथा विड्वराहान् विष्ठाभक्षकान् । मत्स्यानेव च सर्वशः सर्वे मत्स्या न भक्ष्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । बकबलाकाद्रोणकाकखञ्जनांस्तथा मत्स्यादान्पक्षिव्यतिरिक्तानपि नक्रादीन्विड्वराहांश्च । विडिति विशेषणमारण्यसूकराभ्यनुज्ञानार्थम् । मत्स्यांश्च सर्वान्वर्जयेत् ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । काकोलं द्रोणकाकं । खञ्जरीटं 'खञ्जन' इति प्रसिद्धम् । मत्स्यादान् नक्रादीन् । बकबलाकयोर्मत्स्यादत्वेन प्रतिषिद्धत्वेऽपि पुनर्ग्रहणमेषां विकल्पार्थमिति मेधातिथिः ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । बलाका बकविशेषः । काकोलो द्रोणकाकः । मत्स्यादा नक्रादयः । मत्स्यादनिषेधे सामान्यतः सिद्धेऽपि विशेषेण केषांचिदुपादानं दोषातिशयसूचनार्थम् ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रोणकाको काकोलः । विड्वराहं ग्रामशूकरं । सर्वशः मत्स्यानेव वर्जयेत् ॥ १४ ॥

(७) मणिरामः । काकोलः द्रोणकाकः । मत्स्यादान् नक्रादीन् । विड्वराहः ग्रामशूकरः, आरण्यशूकरस्य भक्ष्यत्वात् ॥ १४ ॥

(८) गोविन्दराजः । बकं चैवेति । बकं बलाकं काकोलं च द्रोणकाकं "काकोलो द्रोणकाक उदाहृत" इति त्रिकाण्डपाठात् । खञ्जरीटाख्यं पक्षिणं मत्स्यादांश्च अपक्षिणोऽपि नक्रादीन् ग्रामशूकरांश्च मत्स्यांश्च सर्वान् वर्जयेत् ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ॥

मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य मत्स्यप्रतिषेधविधेरर्थवादोऽयम् । यत्सम्बन्धि मांसं योऽश्नाति स तन्मांससम्बन्धिन्याऽशनक्रियया व्यपदिश्यते । यथा सर्पादो नकुलः, मार्जारो मूषकादः, इत्यादि । यस्तु मत्स्यादः स सर्वमांसाशी भवति । गोमांसाद इत्यपि व्यपदेष्टुं युक्तः । अतो निन्दातिशयान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदुपपादयति यो यस्येति । यस्य मांसं छागादेः यो नरोऽश्नाति स तन्मांसाद इत्येवोच्यते लोकैः । यस्तु मत्स्यादः स सर्वमांसाद इति । मत्स्यानां सर्वमांसाशित्वेन तदशने सर्वमांसाशनदोषात् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । मत्स्यभक्षणनिन्दामाह यो यस्येति । यो यदीयं मांसं खादति स तन्मांसाद एव परं व्यपदिश्यते, यथा मार्जारो मूषिकादः । मत्स्यादः पुनः सर्वमांसभक्षकत्वेन व्यपदेष्टुं योग्यस्तस्मान्मत्स्यान् खादेत् ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । मत्स्यस्य सर्वप्राणिभक्षणयोग्यत्वात्तद्भक्षकस्यापि सर्वमांसादत्वमित्याह य इति ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यो यस्य जीवस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते, मत्स्यान्वर्जयेत् ॥ १५ ॥

(८) गोविन्दराजः । अस्यार्थवादः । यो यस्य मांसमिति । यो यत्संबन्धि मांसमश्नाति तन्मांसाद् एवं निन्दार्थमुच्यते । नान्यमांसादपापलेशं लभते मत्स्यादः पुनः सर्वमांसभक्ष इति व्यपदेष्टुं युज्यते तान् मत्स्यान् वर्जयेत् ॥ १५ ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ॥

राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । पाठीनरोहितौ मत्स्यजातिविशेषौ, तयोर्हव्यकव्यनियोगेन श्राद्धादौ भक्ष्यताऽभ्यनुज्ञायते, नान्वाहिके भोजने । राजीवसिंहतुण्डसशल्कानां सर्वशः हव्यकव्याभ्यामन्यत्राप्यनिवृत्तिर्भोजने । राजीवाः पञ्चवर्णाः कैश्चिदिष्यन्ते । अपरैस्तु 'राजयो' रेखा येषां सन्ति । सिंहतुण्डाः सिंहाकृतिमुखाः । सशल्काः शकलिनः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र विशेषमाह पाठीनेति । पाठीनो ववालः । आद्यावदनाहौ । हव्यकव्ययोः श्राद्धस्य देवपितृभागयोनियुक्तौ । नियोगे सति तेन श्राद्धे पाठीनरोहितयो राजीवादीनां च वक्ष्यमाणानां च भक्षणे न मत्स्यभक्षणदोषः । ततोऽन्यत्र तु भक्षणे "मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्यहं वसेदि"ति (याज्ञ. आ. १७५) स्मृत्यन्तरोक्तं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । एतेनैव एव मत्स्याः श्राद्धेया इत्यपि दर्शितम् । नियुक्तैरिति क्वचित्पाठः । राजीवो राजग्रीवाख्यो मत्स्यः । सिंहतुण्डाः सिंहसदृशवक्त्रा मत्स्यभेदा मद्गुरादयो शल्का अपि । सशल्कानखण्डत्वग्युक्तान् रोहितादिभ्योऽन्यानपि सर्वान् । सर्वत्र चात्र नियुक्तावित्यनुवर्तते, पूर्वं 'मत्स्यानेव च सर्वशः' इति सर्वमत्स्यानां रागप्राप्तभक्षणनिषेधात् ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं भक्ष्यमत्स्यानाह पाठीनरोहिताविति । पाठीनरोहितौ मत्स्यभेदौ भक्षणीयौ । हव्यकव्ययोनियुक्ताविति समस्तवक्ष्यमाणभक्षणनिषिद्धोपलक्षणार्थं, तेन प्राणात्ययादावदोषः । तथा राजीवाख्यान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्च सर्वान्वक्ष्यमाणलक्षणोपेतानद्यात् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पाठीनरोहितौ दैवपैत्रादिकर्मणि नियुक्तावेवादनीयौ-नत्वन्यदा, राजीवसिंहतुण्डसशल्कमत्स्यास्तु हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्षणीया इत्याचक्षतुः । न तन्मनोहरम्; पाठीनरोहितौ श्राद्धे नियुक्तौ श्राद्धभोक्तृवैव भक्षणीयौ, नतु श्राद्धकर्त्रापि, राजीवादयो हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्ष्या इत्यस्याप्रमाणत्वात् । मुन्यन्तरैश्च रोहितपाठीनराजीवादीनां तुल्यत्वेनाभिधानात् । तथाच शङ्खः 'राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च । पाठीनरोहितौ चाऽपि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः ॥' याज्ञवल्क्यः (आचार. १७७) 'भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधागोधाकच्छपशल्यकाः । शशश्च मत्स्येष्वपि तु सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ॥ हारीतः 'सशल्कान्मत्स्यान्यायोपपन्नान्भक्षयेत्' एवंच 'भोक्तृवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ । राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसंमता' ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तेषु प्रतिप्रसवमाह पाठीनेत्यादि । हव्यकव्ययोनियुक्तौ विनियुक्तौ सन्तावाद्यौ भक्ष्यौ । राजीवादिष्वप्येवं योजना । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु 'राजीवा-

दयोऽन्यदापि भोक्तव्या' इत्याहुः ॥ 'राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च ॥ पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः' इति शङ्खवचनात् ॥ तत्र सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः, राजीवः शकुलः, सिंहतुण्डः सिंहस्येव मुखं यस्य स प्राणिप्रभेदः । सशल्काः सबल्काः । रोहितराजीवयोः सशल्कत्वेऽपि पुनर्ग्रहणमत्यादरार्थम् ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । अस्यापवादमाह पाठीनेति । पाठीनश्चक्राख्यो मत्स्यविशेषः । आद्यौ भक्ष्यौ । सर्वावस्थं न भक्ष्यावित्युक्तं नियुक्तौ हव्यकव्ययोरिति । राजीवान्पञ्चवर्णान् । सिंहतुण्डान् सिंहमुखान् । सह शल्कैर्बल्कलैर्वर्तन्ते इति सशल्काः । एतान् राजीवादीन्मत्स्यविशेषानद्यादिति शेषः । सर्वशो हव्यकव्ययोरनियुक्तानपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाठीनादीन्भक्ष्यानाह पाठीनेति । पाठीनरोहितौ रोहितसंज्ञो लोहितवर्णः । हव्यकव्ययोः कार्ये आद्यौ भक्ष्यौ । राजीवान् पञ्चवर्णान् सिंहतुण्डांश्च सिंहमुखान्मत्स्यान् सशल्कान् शल्कैः सह वर्तन्ते सशल्कास्तान् भक्षयेत् ॥ १६ ॥

(७) मणिरामः । मत्स्येषु भक्ष्यानाह पाठीनेति । पाठीनः पाठीति प्रसिद्धः । रोहितः 'रोहू' इति प्रसिद्धः । आद्यौ भक्षणीयौ । राजीवः पञ्चवर्णः । सशल्कः शल्कैः शुक्त्याकारैः वर्तते इति सशल्कः ॥ १६ ॥

(८) गोविन्दराजः । इदानीं जातिविशेषक्रियाविशेषसमवलम्बनेन मत्स्यप्रतिप्रसवमाह पाठीनरोहिताविति । पाठीनः चन्द्रकारण्यो मत्स्यभेद एव । रोहितोऽपि रोहितमत्स्याख्यः । तौ दैवपितृकर्मविनियुक्तौ इत्यदनाहो न त्वन्यदा । राजीवाः पुनः पञ्चवर्णा मत्स्यविशेषाः । तथा सिंहमुखाः सशल्काश्च शकलिचिलिचिमशब्दाभ्यामायुर्वेदप्रसिद्धाः । सर्वदा हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्षणार्हाः ॥ १६ ॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ॥

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । एकचराः सर्पोलूकादय एकाकिनश्चरन्ति । अज्ञातानामतो जातिविशेषतश्च । मृगद्विजान् मृगाः पक्षिणश्च न भक्ष्याः । भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् । येषु प्रतिषिद्धास्ते ताद्रूप्ये असति भक्ष्यतां प्राप्ताः समुद्दिष्टा इव भवन्ति । न तु भक्ष्याणां समुद्देशोऽस्ति । परिहर्तव्यतया विशेषतोऽविज्ञाता भक्ष्यपक्षपतिता 'भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टा' इत्येवमुच्यन्ते । पञ्चनखाश्च वानरशृगालादयः । सर्वग्रहणं पादपूरणार्थम् ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकचरान् संधचारिजातीयान्दैवादेकाकिनश्चरन्तः भक्ष्येषु समुद्दिष्टान् गणितानपि । अज्ञातांश्चाप्रसिद्धान्मृगद्विजान् द्विजाः पक्षिणः । सर्वान् पञ्चनखान् भक्ष्यमाणव्यतिरिक्तान् ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । य एकाकिनः प्रायेण चरन्ति सर्पादयस्तानेकचरान् तथा य अभियुक्तैरपि नामजातिभेदेनावधार्य विभागतश्च मृगपक्षिणो न जायन्ते तान् भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टानिति सामान्यविशेषनिषेधाभावेन भक्ष्यपक्षनिक्षिप्तान्भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टांश्च तथा सर्वान्पञ्चनखान्वानरादीन् भक्षयेत् ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमनुसरति नेति । एकचरान् सर्पादीन् भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् समुद्दिश्यमानान् एकचरान् स्वतन्त्रानिति वा न भक्षयेत् । मृगाश्च द्विजाः पक्षिणश्च तान् अज्ञातान् जातितो नामतश्च पञ्चनखान्वानरादींश्च न भक्षयेदित्यनुषङ्गः । श्वाविधादीन्पञ्चनखान्पञ्च वर्जयित्वाऽप्यान्न भक्षयेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । एकचरान् सर्पादीन् । अज्ञातान्मनुष्यैर्नमितो जातितश्च । भक्ष्येषु सामान्यतोऽभक्ष्यतया न ज्ञातेष्वपि समुद्दिष्टान्विशेषतः । शास्त्रान्तरेण भक्ष्यतया निर्दिष्टान्न भक्षयेत् ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकचरान् न भक्षयेत् । अज्ञातांश्च मृगद्विजान् जातितो ये अज्ञातः मृगाः पक्षिणश्च तान्न भक्षयेत् । सर्वान्पञ्चनखान्भक्ष्येषु समुद्दिष्टानपि न भक्षयेत् ॥ १७ ॥

(७) मणिरामः । एकचरान् एकाकिनो भ्रमन्ति ते एकचराः तान्-सर्पादीन् । अज्ञातान् नामजातिभेदेन, अभक्ष्येष्वपि न समुद्दिष्टान् अभक्ष्ये सामान्यविशेषेण 'ये' नोक्ताः ते अर्थात् भक्ष्येषु उक्ताः तानपि वर्जयेत् पञ्चनखान् वानरादीन् ॥ १७ ॥

(८) गोविन्दराजः । न भक्षयेदिति । ये एकाकाः प्रायेणाटन्ति सर्पादयः तांस्तथा अभियुक्तैरपि नामजातिभिः ये मृगपक्षिणो न जायन्ते तान् विशेषसामान्यप्रतिषेधानाक्रमणे सति भक्ष्यपक्षे पतितत्वात् भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टान् एवं पञ्चनखांश्च सर्वान् नरमार्जारादीन् न भक्षयेत् ॥ १७ ॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ॥

भक्ष्यान् पञ्चनखेष्ववाहुरनुष्टांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चनखानां मध्याच्छ्वाविधादयो भक्ष्याः । स्मृत्यन्तरे तु खड्गे विकल्पः । तथा च वशिष्ठः (१४ । १७) "खड्गे तु विवदन्ते" इति ।

उष्ट्रवर्जिता एकतोदतो गोऽव्यजमृगा भक्ष्याः । "ननु च श्वावित्रभृतीनां पञ्चनखानां भक्ष्यत्ववचनादन्येषामभक्ष्यतासिद्धेः 'सर्वान्पञ्चनखानिति' प्रतिषेधवचनमनर्थकम्" । नैष दोषः । सर्वशब्देन प्रतिषेधे स्पष्टा प्रतिपत्तिर्भवति । भक्ष्यविशेषनिर्देशेन तदन्येषां या अभक्ष्यता-प्रतिपत्तिः सा आनुमानिकी प्रतिपत्तिः । गौरवं हि तथा स्यात् ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वावित् कण्टकी प्राणिभेदः यः श्वानं स्वगात्रकण्टकैर्विध्यति । शल्यकस्तत्सदृशोऽपरः । एकतोदतः एकदन्तपङ्क्तियुक्तान् ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र प्रतिप्रसवमाह स्वाविधमिति । स्वाविधं सेधाख्यं प्राणिभेदं शल्यकं तत्सदृशं स्थूललोमानम् । तथा गोधागण्डककच्छपशशान्पञ्चनखेषु भक्ष्यान्मन्वादयः प्राहुः । तथा उष्ट्रवर्जितानेकदन्तपङ्क्त्युपेतान् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । पञ्चनखानां मध्ये पञ्चानामेव हव्यकव्यार्थत्वम् । तत्र स्वाविधः शुनो विध्यतीति दन्तुरः । शल्यकं शल्यानि कण्टकाकाराणि रोमाणि सन्ति यस्य तं । गोधा कृकलासाकारा । 'देवान्पितृन्समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दुष्यतीत्युक्तेः । अनुष्टान् उष्ट्रभिन्नान् । एकतोदतः एकपङ्क्तिदन्तयुक्तान्गवादीन् ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । पञ्चनखेष्वपि केषांचिद्भक्षणं प्रतिप्रसूति स्वाविधमिति । शल्यकं शाली । गोधा कृकलासानुकारिणी । खड्गः पित्वे प्रशस्तो मृगविशेषः । अनुष्टानुष्ट्रवर्जितान् । एकतोदतोऽजप्रभृतीन् ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वाविधं सेधाख्यं । गोधा कृकलासानुकारिणी । खड्गकूर्मशशांस्तथा भक्ष्यानाह । अनुष्टान् उष्ट्रव्यतिरिक्तान् ॥ १८ ॥

(७) मणिरामः । पञ्चनखेषु भक्ष्यानाह स्वाविधमिति । स्वावित् सेधा 'साही'ति भाषायां प्रसिद्धः । शल्यकं भवित्सदृशः कंटकरहितः स्थूललोमा । गोधा गोह इति भाषायां । खड्गः 'गेंडा' इति भाषायां प्रसिद्धः । कूर्मः कच्छपः । शशः 'ससा' इति भाषा । एते पञ्चनखेषु भक्ष्याः । अनुष्टान् एकतोदतः उष्ट्रव्यतिरिक्तान् एकपङ्क्तिदन्तयुतान् ॥ १८ ॥

(८) गोविन्दराजः । अत्र प्रतिप्रसवमाह स्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथेति । स्वाविधं सेधाख्यं प्राणिभेदं शल्यकं चाषं गोधां च प्राणिविशेषं खड्गं गण्डकं कूर्मं कच्छपं शशं च पञ्चनखेषु मध्यात् भक्षणार्हान् मन्वादय आहुः । तथा एकदन्तपङ्क्त्युपेतेषु मध्यात् उष्ट्रवर्जितानजादीनिति भावः ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ॥

पलाण्डुं गृज्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । छत्राकं कवकानि । विड्वराहः ग्रामशूकरः स्वतन्त्रविहारः । एतानि भक्षयित्वा पतितो भवेत् । पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात् । वक्ष्यति च (११।५६) "गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्" ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जग्ध्वा एकैकं प्रत्येकमेव स्मृत्यन्तरे निषेधात् । पतेत् 'द्विजाति-कर्मभ्यो हानिः पतन'मिति गौतमोक्तपातित्यवान्भवति । तेन प्रायश्चित्ताचरणात्प्राक् संध्या-दावनधिकार उक्तः । एवं यत्र यत्रान्यदोषे पातोक्तिस्तत्र द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । कवकग्रामसूकरलशुनादीनामन्यतमं बुद्धिपूर्वकं गुरुप्रायश्चित्तोप-देशादभ्यासतो भक्षयित्वा द्विजातिः पतति । ततश्च पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात् । 'गर्हितानां तथा जग्धिः सुरापानसमानि षट्'इति ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रायश्चित्तार्थं पुनश्छत्राकादिग्रहणम् । मत्या ज्ञानेन जग्ध्वा भक्षयित्वा पतेत्, अतः पतितस्येव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिषिद्धेष्वपि केषांचिद्वर्जनीयतामन्वाह छत्राकमिति । छत्राकं द्विविधं भूजं वृक्षजं चेति ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्षणे प्रत्यवायमाह छत्राकमिति । मत्या ज्ञात्वा जग्ध्वा भक्षयित्वा द्विजः पतति पतितो भवेत् । पुनर्लशुनादिग्रहणं प्रायश्चित्तातिशयार्थम् ॥ १९ ॥

(७) मणिरामः । छत्राकादीनामन्यतमस्य बुद्धिपूर्वकभक्षणे प्रायश्चित्तमाह छत्राकमिति । मत्या ज्ञानतः पतेत्, पतितप्रायश्चित्तं कुर्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

(८) गोविन्दराजः । छत्राकमिति । कवकग्रामसूकरलशुनादीनामन्यतमं बुद्धिपूर्वं प्रायश्चित्तगुत्वात् अभ्यासतो भक्षयित्वा द्विजातिः पतेत् । द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनमिति । ततश्च प्रायश्चित्तं तस्य न भवति । तथा वक्ष्यति “गहितान्नाद्ययोर्जग्धः सुरापानसमानि षट्” (११।५६) इति ॥ १९ ॥

अमृत्येतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥

यतिचान्द्रायणं वार्षि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । अमत्या अबुद्धिपूर्वं षड् जग्ध्वा षण्णामन्यतममपि । भक्षणस्य अविधेयत्वनिमित्ततया साहित्यस्याविवक्षा । शेषेषु अभक्ष्येषु भक्षणे लोहितवृक्षनिर्यासादिषु एकमहोरात्रं न भुञ्जीत । अहः-शब्दो रात्रावपि दृष्टप्रयोगः । “अहश्च कृष्णमहरर्जुनं चेति” (ऋग्वेद० ६।९।१) । येषु चात्र प्रकरणे प्रतिषिद्धेषु प्रायश्चित्ताधिकारे प्रतिपदं प्रायश्चित्तमन्यद्वक्ष्यते “ऋग्व्यादसूकरे”त्यादि (मनु० ११।१५६) तत्र तदेव द्रष्टव्यं प्रतिपदविहितत्वात् । अस्य चोपवासस्यान्यत्र चरितार्थत्वात् ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मतिरिच्छा तदभावोऽमतिः । षट् षण्णां मध्ये यत्किंचिदेकम् । अत्र त्वमत्या भक्षणे ‘विहितं यदकामानां कामात्तद्विगुण’मिति वचनात् मतिभक्षण-प्रायश्चित्तं द्विगुणमूह्यम् । सांतपनं द्व्यहसाध्यं वक्त्रमात्रप्रवेशे । सम्यग्भक्षणे तु यतिचान्द्रायणम् । शेषेषु अभक्ष्येष्वमेध्यप्रभवकन्दादिष्वमत्या भक्षितेषु । मत्या द्व्यहोपवासः । एतच्च तन्मध्य-पतितात्पप्रत्यवायहेतुभक्षणे पेयूषपानमत्स्यभक्षणादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्ताधिक्यविधानात् ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । एतानि छत्राकादीनि षट् बुद्धिपूर्वकमेव भक्षयित्वाऽभिधेयभक्षणस्य निमित्तत्वेन साहित्यस्याविवक्षितत्वात् । एकादशाध्यायवक्ष्यमाणस्वरूपं सप्ताहसाध्यं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं वा चरेत् । एतद्व्यतिरिक्तेषु लोहितवृक्षनिर्यासादिषु प्रत्येकं भक्षणाद-

होरात्रोपवासं कुर्यात् । छत्राकादीनां च प्रायश्चित्तापकर्षो वर्जनादरार्थः । शेषेषूपवसेदहरिति लाघवार्थः, तत्र हि क्रियमाणे लोहितनिर्यासग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । शेषेषु छत्राकादिषड्वर्जितेष्वमेध्यप्रभवादिपञ्चनखान्तेषूपवासमात्रम् । कामतो भक्षणे प्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतानि छत्राकादीनि षडमत्याऽज्ञानेन जग्ध्वा भक्षयित्वा कृच्छ्रं कृच्छ्रसंज्ञं व्रतं चरेत् । यतीनां यच्चान्द्रायणं तच्चरेत् । शेषेषु छत्राकादिव्यतिरिक्तेषु वस्तुषु भुक्तेषु सत्सु अहः उपवसेत् ॥ २० ॥

(७) मणिरामः । अज्ञानतो भक्षणे प्रायश्चित्तमाह अमत्येति । अमत्या अज्ञानेन । कृच्छ्रं सान्तपनं । यतिचान्द्रायणं वा चरेत् कुर्यात् । शेषेषु लोहितनिर्यासादिभक्षणे अहः उपवसेत् ॥ २० ॥

(८) गोविन्दराजः । अमत्यैतानीति । एतानि छत्राकादीनि षट् बुद्धिपूर्वकं प्रत्येकं भक्षयित्वा एकादशाध्यायवक्ष्यमाणस्वरूपं सप्ताहं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं चरेत् । एतद्व्यतिरिक्तेषु लोहितनिर्यासादिषु प्रत्येकभक्षणेऽहोरात्रं नाशनीयात् । प्रायश्चित्तस्य प्रकर्षेणोत्कर्षो लशुनादीनां वर्जनादरार्थम् । 'शेषेषूपवसेदह' रित्येतत्पुनर्लाघवार्थम् । तत्र हि क्रियमाणे लोहितनिर्यासादिग्रहणं कर्तव्यं स्यात् ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ॥

अज्ञातभुक्तशुद्धचर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । भोज्यशूद्रगृहभोजिनो ब्राह्मणस्येदमुच्यते । यस्य शूद्रस्य गृहे यानि ब्राह्मणानामभोज्यान्यन्नानि सम्भवन्ति, न दूरतः परिह्रियन्ते, तादृशस्य गृहे यो ब्राह्मणोऽन्नं भुङ्क्ते तस्य प्रतिषिद्धान्नभोजनाशङ्कायां प्राजापत्यकृच्छ्राचरणमुपदिश्यते । अविशेषनोदनायां प्राजापत्यं कृच्छ्रं प्रतीयत इति वक्ष्यामः । अज्ञातभुक्तशुद्धचर्थमज्ञातदोषशङ्कायामाह । दोषो यदि भुङ्क्ते तस्य शुद्धचर्थम् ।

“ननु च ईदृशस्य शुद्धिं वक्ष्यति (५।१२७) “अदृष्टमद्भिर्निर्णयितमिति” । तस्य विषयं तत्रैव दर्शयिष्यामः । ज्ञातस्य तु दोषस्य विशेषतः वैशेषिकं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्, यस्य यद्विहितं प्रतिपदम् ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संवत्सरस्येति षष्ठ्या तन्मध्य इति विवक्षितम् । कृच्छ्रं प्राजापत्यं । द्विजोत्तमो विप्रः । अपिशब्देन शक्तस्याधिककरणमुक्तम् । अज्ञातभुक्तशुद्धचर्थं अज्ञायमानदुष्टसंसर्गभुक्तान्नदोषनिवृत्त्यर्थम् । ज्ञातस्य तु विशेषतो यत्र यथोक्तं तदेव ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजोत्तमपदं द्विजातिपरं, त्रयाणां प्रकृतत्वात् ‘एतदुक्तं द्विजानां’ (५।२६) मित्युपसंहाराच्च । द्विजातिः संवत्सरमध्य एकमपि कृच्छ्रं प्रथमाम्ना-

नात्प्राजापत्याख्यमज्ञातभक्षणदोषोपशमनार्थमनुतिष्ठेत् । ज्ञातस्य पुनरभक्ष्यभक्षणदोषस्य विशेषतो यत्र यद्विहितं तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । यत्तु 'त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यत' (५।१२७) इति ॥ तद् द्रव्यशुद्धिप्रकरणपठितप्रायश्चित्तव्यतिरिक्तद्रव्यशुद्धिविशेषेऽवतिष्ठते ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामज्ञानतो भक्षणे त्वाह समिति । अज्ञातभुक्तिशुद्ध्यर्थ-
मिदं कृच्छ्रमात्रमिति शेषः । विशेषतः विशेषकारणे छत्राकादीनामुक्तत्वात् ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । संवत्सरेति ॥

(६) रामचन्द्रः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थमेकं कृच्छ्रं संवत्सरस्य संवत्सरपर्यन्तं चरेद्-
द्विजोत्तमः । ज्ञातस्य ज्ञानपूर्वं भक्षितस्य विशेषतः ॥ २१ ॥

(७) मणिरामः । संवत्सरस्य मध्ये एकमपि कृच्छ्रं प्राजापत्याख्यं कुर्यात् । ज्ञातस्य
ज्ञानेनाऽभक्ष्यभक्षणस्य शुद्ध्यर्थं विशेषतः यत्र यद्विहितं तत्र तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

(८) गोविन्दराजः । संवत्सरस्यैकमपीति । संवत्सरस्य मध्ये ब्राह्मणः 'शेषेषू-
पवसेदह'रिति समनन्तरप्रस्तुतलोहितवृक्षनिर्यासाद्यसंवेत्तिभुक्तप्रायश्चित्तार्थमपि कृच्छ्रं
कृच्छ्रमध्ये प्रथमाम्नानात् प्राजापत्यं चरेत् । ज्ञातस्य पुनरभक्ष्यभक्षणे विशेषतो यद्यस्य चोदितं
प्रायश्चित्तं तदेव कुर्यात् । अत एव च ज्ञायते असंवेदितः कृतेऽपि व्यतिक्रमे पापं प्रायश्चित्तं
भवतीति । एव च "त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं"
इत्येत्प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तविषयेऽवतिष्ठते । तथा च द्रव्यशुद्धिप्रकरण एतदार्येणाभिहितम् ।
ब्राह्मणग्रहणं द्विजप्रदर्शनार्थं, त्रयाणां प्रकृतत्वात् । "एतदुक्तं द्विजातीना"मिति चोपसंहा-
रात् ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ॥

भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत् पुरा ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । भक्ष्यप्रसङ्गेन हिंसाऽभ्यनुज्ञायते । अत्यर्थं क्षुत्पीडायां भृत्यादे-
र्भोजनान्तरासंभवे भक्ष्यमृगपक्षिवधः कर्तव्यः । भृत्याः प्राग्व्याख्याताः । अगस्त्यस्तथा कृतवा-
नित्यगस्त्यग्रहणं प्रशंसार्थम् । यज्ञार्थमित्याद्योऽर्धश्लोकोऽर्थवाद एव; तत्र हि वधः प्रत्यक्ष-
श्रुतिविहितत्वादेव सिद्धः । प्रशस्ता ये भक्ष्यतयाऽनुज्ञाताः । एष एवार्थ उत्तरश्लोके
विस्तरतः कर्मार्थवादतया कथ्यते ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र मांसेषु भक्ष्याणि कानिचिदुक्तानि, मांसोत्पादनं च प्राणिनो
हत्वा हतानां वा मांसग्रहणेनेति द्विधा । तत्र 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यत' इत्यादिषु प्राणिवधस्या-
तिपापहेतुत्वं प्रतीयते, तथाच स्वयं प्राणिवधाचरणेऽपि यत्र ब्राह्मणानां न तादृशी हिंसा-
दोषस्तत्प्रसंगात्कथयति यज्ञार्थमिति । यज्ञार्थं पाकयज्ञहविर्यज्ञसोमयज्ञसिद्धयर्थं वध्याः । स्वयं

भृत्यानां भरणीयानां मातापितृभार्यादीनां दुर्भिक्षाद्यापदि वृत्तिर्जीवनमात्रं तदर्थम् । अगस्त्यो ह्याचरदुभयार्थम् । अगस्त्यग्रहणं ब्राह्मणकार्यतां दर्शयितुम् ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं भक्षणप्रसंगेन यागाद्यर्थे हिंसामप्यनुजानाति यज्ञार्थमिति । ब्राह्मणादिभिर्यागार्थं प्रशस्ताः शास्त्रविहिता मृगपक्षिणो वध्याः । भृत्यानां चावश्यभरणीयानां वृद्धमातापितृादीनां संवर्धनार्थम् । यस्मादगस्त्यो मुनिः पूर्वं तथा कृतवान् । परकृतिरूपोऽयमनुवादः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भक्ष्यप्रसङ्गेन हिंसां कुर्वित्यनुजानाति यज्ञार्थमिति । भृत्यानां भरणीयानां । सदाचारं प्रमाणयति अगस्त्य इति ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । भक्ष्यत्वेनानुज्ञातानां मृगपक्षिणां यज्ञार्थं भृत्यार्थं च वधो ब्राह्मणानामपि निर्दोष इत्याह यज्ञार्थमिति ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह यज्ञार्थमिति । मृगपक्षिणः वध्या हिंस्या यज्ञार्थं ब्राह्मणैः प्रशस्ता उक्ताः । अगस्त्यः भृत्यानां पितृादीनां तृप्त्यर्थं पुरा आचरत् ॥ २२ ॥

(७) मणिरामः । यागाद्यर्थं हिंसामप्यनुजानाति यज्ञार्थमिति । भृत्यानां अवश्यभरणीयानां मातापितृादीनां । यस्मादगस्त्यो मुनिः पूर्वं कृतवान् ॥ २२ ॥

(८) गोविन्दराजः । यागार्थं ब्राह्मणादिभिः कृतैः प्रशस्ता ये चोदिताः श्रुतौ मृगपक्षिणः ते वध्या इति श्रुत्युक्तानुवादः । भृत्यानां चैवेत्येतद्विधित्सितम् । स्वाम्यादापनार्थं (?) भृत्यानामवश्यभरणीयानां वृद्धमातादीनां स्थित्यर्थं च वध्याः । अगस्त्यो यस्मात् पूर्वमेवं कृतवानिति चोपसंहारात् ॥ २२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ॥

पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । षड्विंशत्संवत्सरं नाम सत्रं तत्र मृगपक्षिवध आम्नातः सोऽनेनानूद्यते । इदं तत्र ब्राह्मणं 'संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति स तत्र यान्यान्मृगान्हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशा भवन्ति' । अर्थवादत्वाद्बभूवुरिति भूतप्रत्यये न विवक्षा । तेनाद्यत्वेऽपि भवन्ति ।

एवं पुराणेष्वपि । न केवलं कश्चिदद्यत्वे सत्राणां व्यवहार इति दर्शनाभिप्रायमेतत् पुराणेष्विति । न पुनः 'अद्यत्वे यदि केचित्सर्वाण्येव हरेयुस्तेषामेष विधिर्न भवतीति' मन्तव्यम् । अथवा यः स्वयं शास्त्रार्थं, वेदितुमसमर्थः केवलं परप्रसिद्ध्या "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति न्यायेन प्रवर्तते, तत्र त्वेतदुच्यते पुराणेष्विति । नायमिदं प्रथमको धर्मः । किं तर्हि ? अनादिः । पुराणा ऋषयः । ब्राह्मणाः केचन तपःसिद्धाः, जात्यन्तरं वा । यथा महाभारतादौ वर्णितम् । न चात्र निर्बन्धः कर्तव्यः "ऋषीणां जात्यन्तरत्वे गन्धर्वादिवत्कथं

यागेष्वधिकारः” इति । यतोऽयमर्थवादो येन केनचिदालम्बनेन प्रतीयते । ब्रह्मक्षत्रसत्त्वाः ब्रह्मक्षत्रिययज्ञाः ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाह्यन्येष्वृषीणां यज्ञेषु सत्रेषु पुराणेषु अतिपूर्वकालेषु मृग-पक्षिमांसेन पुरोडाशा बभूवुः । तानि तु ब्रह्मक्षत्रसत्त्वेषु ब्राह्मणक्षत्रियजातीयैर्मिलितैः कृतेषु सत्त्वेषु यज्ञेषु सत्त्वरूपेषु वा बभूवुः । भवति हि ब्राह्मणक्षत्रियौ गृहपती कृत्वा ब्राह्मणैर्ऋत्विग्भूतैः सत्रं, तत्र तरसाः पुरोडाशा भवन्तीति श्रुतावुक्तम् । तरसा मांसमयाः । तदुत्पादनप्रकारश्च ‘संस्थिते गृहपतिर्मृगयामेती’त्यादिनोक्तः । तत्र मृगयाप्रकारस्य ब्राह्मणैरज्ञानात्क्षत्रियस्यापि गृहपतित्वेनान्तर्भावनं क्रियत इति ब्रह्मक्षत्रसत्त्वेष्विति विशेषितम् ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्पुरातनेष्वपि ऋषिकर्तृकयज्ञेषु च भक्ष्याणां मृगपक्षिणां मांसेन पुरोडाशा अभवन्तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनैरपि मृगपक्षिणो वध्याः ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । ‘संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति स यांस्तत्र मृगान्हिनस्ति तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ती’ति, ‘वसन्ताय कपिञ्जलानालभेते’ त्यादिश्रुतेर्यज्ञार्थं तेषां पुरोडाशा इत्याह बभूवुरिति । ऋषीणां यज्ञेषु ब्रह्मं ब्राह्मणजातिः तथा क्षत्रं तयोः सत्त्वेषु यागेषु मृगाणां पक्ष्यादीनां पुरोडाशादयो बभूवुरिति पुराणेषु श्रूयत इति शेषः ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । मृगपक्षिणां मांसानीति शेषः । ब्रह्मक्षत्रसत्त्वेषु ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां च यज्ञेषु ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्ष्याणां मृगपक्षिणामगस्त्येन प्रोक्षितानां मांसैः पुरोडाशा बभूवुः । ब्रह्मक्षत्रसत्त्वेषु ‘ब्राह्मणक्षत्रियैर्मिलित्वा कृतेषु । तद्यथा ‘ब्राह्मणक्षत्रियौ गृहपती कृत्वा ब्राह्मणैर्ऋत्विग्भूतैः सत्रं भवति, तत्र तरसाः पुरोडाशा भवन्ती’ति, श्रुतावुक्तम् । तरसा मांस-मयाः । तत्प्रकारश्च “संस्थिते गृहपतिर्मृगयामेती”त्यादिनोक्तः । ब्राह्मणस्य मृगया-प्रकाराज्ञानात्क्षत्रियस्य ब्राह्मणमिलितस्याधिकारः ॥ २३ ॥

(७) मणिरामः । हि यस्मात् पुराणेषु पुरातनेषु ऋषियज्ञेषु भक्ष्याणां मृगपक्षिणां मांसेन पुरोडाशा बभूवुः । तस्माद्यज्ञार्थं आधुनिकैरपि मृगपक्षिणो वध्याः ॥ २३ ॥

(८) गोविन्दराजः । बभूवुरिति । यस्माच्चिरन्तनेष्वपि संबन्धिषु यज्ञेषु ब्राह्मण-क्षत्रिययज्ञेषु च भक्ष्याणां मृगपक्षिणां संबन्धिनाऽऽममांसेन पुरोडाशा अभूवन् । तस्माद्यज्ञार्थ-मपि ते वध्याः ॥ २३ ॥

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमर्गाहितम् ॥

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भूवेत् ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । भक्ष्यं यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तम् । भोज्यमोदनादि । भुक्तिभुज्योरे-कार्थत्वेऽपि पृथगुपादानाद्विषयभेदोऽयं प्रतीयते । अर्गाहितं शुक्ततामनापन्नम् । तत्पर्युषित-मप्याद्यम् । रात्र्यन्तरे पर्युषितमुच्यते । पूर्वद्युः सिद्धमप्यपरेद्युः पर्युषितं भवति ।

स्नेहसंयुक्तमिति । एवं संदिह्यते— किं यत्स्नेहसंयुक्तं सत्पर्युषितं रसमिश्रशकादि तत्पर्युषितमशितव्यम्, उत शुष्कस्यापि पर्युषितस्य भक्षणकाले स्नेहसंयोगः कर्तव्यः ? भक्ष्यापूपाद्यपि पर्युषितं भोजनकाले स्नेहेन संयोज्य भक्षयितव्यमिति । अत्र सन्दिह्यते—“स्नेहयुक्तानां भक्ष्यतोच्यते, तत्पर्युषितमाद्यमिति । उद्दिश्यमानं स्नेहसंयुक्तमिदं न पुनर्विधेयार्थं । न हि तच्छब्दसम्बन्धोऽस्य श्रुतो यत्पर्युषितं तत् स्नेहसंयुक्तमाद्यमिति” । उच्यते । हविः-शेषाणां पर्युषितानामस्नेहसंयुक्तानां तेषां वचनमनर्थम् । न च तेषां स्नेहसंयुक्तानां परिवासः संभवति । एवं च तेषां वचनमर्थवद्भवति यदि भोजनकाले तेषां स्नेहसंयोगो नापेक्ष्यते । अतस्तेषां तावद्भोजनकाल एव स्नेहसंयोगनिरपेक्षतया वचनस्यार्थवत्त्वम् । “यद्येवं तथापि न संदेहः । अर्थवत्त्वाद्विशेषपदस्य विधेयार्थता स्नेहसंयुक्तशब्दस्य न्याय्या” । उच्यते । एतावदत्र सन्देहे बीजम् । यथाश्रुतसम्बन्धस्य बलीयस्त्वात्किं हविःशेषपदमनुवादोऽस्तु उतानर्थकत्वं मा प्रापदिति यत्पर्युषितं तेन स्नेहसंबन्धः क्रियताम् । तत्रानर्थक्याद्व्यवहितकल्पना ज्यायसी । समाचारान्निर्णयः । सर्पिस्तैलवसामज्जाः ‘स्नेहाः’ ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पर्युषिते विशेषमाह यत्किंचिदिति । यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं येन केनचित्स्नेहेन संयुक्तं सर्वतोव्याप्तं न त्वेकदेशस्नेहसंबन्धादपि, हविःशेषस्य पर्युषितस्य पृथग्भक्ष्यत्वाभिधानात् । एवं हि हविषोऽभिघारणादवश्यं स्नेहेनैकदेशसंबन्धो व्याप्तिस्तन्नास्तीति तस्य पृथग्भिधानं युज्यते । भक्ष्यं लङ्ङुकादि । भोज्यमोदनादि ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं पर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह यत्किंचिदिति । यत्किंचित्खरविशदमभ्यवहार्यं मोदकादि भोज्यं पायसादि अर्गाहितमुपघातान्तररहितं तत्पर्युषितं रात्र्यन्तरितमपि घृततैलदध्यादिसंयुक्तं कृत्वा भक्षणीयम् । नतु प्रागेव यत्स्नेहसंयुक्तं तत्पर्युषितं भक्षणीयमिति व्याख्येयम्, तथाच सति हविःशेषस्य स्नेहसंयोगावश्यंभावात् ‘यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं’मित्यनेनैव भक्षणे सिद्धे ‘हविःशेषं च यद्भवे’दित्यनर्थकं स्यात् । स्मृत्यन्तरेऽपि भक्षणकाल एवाभिघारणमुपदिश्यते । तथाच यमः ‘मसूरमाषसंयुक्तं तथा पर्युषितं च यत् । तत् प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीत ह्यभिघारितम् ॥’ हविःशेषं तु चरुपुरोडाशादि पर्युषितमपि भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमेव भक्षणीयं पृथगुपदेशात् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । एतानि पर्युषितान्यप्यदनीयानीत्याह यदिति द्वाभ्यां । आद्यं भक्षणीयं अस्निग्धं भक्ष्यं भोज्यं स्नेहसंयुक्तं कृत्वा । तथाच यमः ‘मसूरमाषसंयुक्तं तथा पर्युषितं च यत् । तच्च प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीताज्याभिघारितमिति ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । पर्युषितमभक्ष्यमित्युक्तं तस्यापवादं श्लोकद्वयेनाह यदिति । अर्गाहितमनिषिद्धं यत्किंचिद्भक्ष्यमपूपादि । भोज्यमन्नादि । तदुभयं स्नेहसंयुक्तं घृतादिना संयुक्तं चेत्पर्युषितमप्याद्यमदनीयम् । स्नेहयुक्तं हविःशेषं यत्तदप्यदनीयम् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्ष्यं मोदकादि भोज्यं ओदनादि तत्पर्युषितमप्याद्यं भक्ष्यम् । यत् हविःशेषं तद्वाद्यं भक्ष्यं भवेत् ॥ २४ ॥

(७) मणिरामः । पर्युषिते प्रतिप्रसवमाह यदिति । यत् किञ्चित्-अर्गाहितं भक्ष्यं भोज्यं पर्युषितमपि यत्स्नेहसंयुक्तं कृत्वा भक्षणीयं नान्यथा । हविःशेषं तु स्नेहशून्यमपि भक्षणीयं, न तत्र पर्युषितदोष इत्यर्थः ॥ २४ ॥

(८) गोविन्दराजः । अधुना पर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह यत्किञ्चिदिति । यद्भक्ष्यं खरविशदमभ्यवहार्यम् मोदकादि । यच्च भोज्यं पायसादि उपघातान्तररहितं तदधि-घृतादिस्नेहयुक्तं कृत्वा पर्युषितमपि रात्र्यन्तरितं अद्यं अदनाहम् इत्येवं तच्छब्दव्यत्ययेनैतद् व्याख्येयम् । यथा श्रुतयोजनायां हविषोऽभिधारणे सति स्नेहसंयोगावश्यंभावित्वाद्द्विविशेषस्य 'यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्त'मित्यनेनैव सिद्धत्वे सति पुनरभिधानमनर्थकं स्यात् । यच्च हुतशिष्टं पुरोडाशादि पर्युषितं स्यात् तत् भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमप्यदनाहम् ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ॥

यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रियाः ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । चिरस्थितं द्विराद्यान्तरितम् । अपिशब्दादाक्तमित्यत्रापि सम्बन्धयितव्यम् । स्नेहाक्तमिति, यवगोधूमजं सक्त्वपूपादि । पयसो विक्रिया विकारा दधिमथि-तादयः ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चिरस्थितं पर्युषितमस्नेहाक्तमप्याद्यं भोज्यं यवगोधूमयो-विकारजातमित्यर्थः ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेकरात्र्यन्तरिता अपि यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेहसंयोगरहिता अपि द्विजातिभिर्भक्षणीयाः ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । पयसश्चैव विक्रियाः पर्युषिता भक्ष्या इत्यन्वयः । अर्गाहितं चेद्भक्ष्यमिति स्वतो र्गाहितं स्नेहसंयुक्तमपि न भोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । अस्नेहाक्तमसंयुक्तं घृतादिभिः ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजातिभिः अस्नेहाक्तं यवगोधूमजं । चिरस्थितमिति । आद्यं भक्ष्यं भवति । च पुनः दुग्धस्य विक्रियाः ॥ २५ ॥

(७) मणिरामः । रात्र्यन्तरिता अपि, यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेहसंयोगरहिता अपि भक्षणीयाः ॥ २५ ॥

(८) गोविन्दराजः । चिरस्थितमिति । यवगोधूमक्षीरविकाराः सर्वे नैकरात्र्यन्तरितः सन्तः स्नेहप्रोक्षणरहिता अपि द्विजादिभिरदनीयाः ॥ २५ ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ॥

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येन श्लोकार्धेन पूर्वप्रकरणमवच्छिनत्ति । तदेतदनन्तरमनु-
क्रान्तं प्रकरणमेतत् द्विजातीनां न शूद्राणामिति, उत्तरं तु यद्वक्ष्यते 'तच्छूद्राणामपी'ति प्रकरण-
व्यवच्छेदप्रयोजनम् । अतश्च मांसभक्षणे प्रकारो वक्ष्यते । यच्च तद्वर्जनेन फलं तच्छूद्रस्यापि
भवतीति । अन्यथा "अभक्ष्याणि द्विजातीनाम्" (५।५) इत्यधिकाराल्लशुनादिष्विव
शूद्रस्य मांसभक्षणेऽपि कामचारः स्यात् । "यद्येवं देवाद्यर्चने शिष्टस्य मांसस्य भक्ष्यता वक्ष्यते
(५।३२) 'देवान्पितृश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यतीति' । देवाद्यर्चनं मेध्येन मांसेन ।
ये च द्विजातीनां प्रतिषिद्धा मृगशकुन्तास्तेऽमेध्याः । अतश्च तेषां मांसेन देवाचर्यानां भवा-
दतच्छेषस्य भक्ष्यत्वादन्वेऽपि प्रकरणभेदाः—यथा ब्राह्मणादीनां मृगपक्षिणः प्रतिषिद्धाः—
ते शूद्रस्यापि प्रकारान्तरेण प्रतिषिद्धा भवन्ति । तत्र प्रकरणभेदेन न किञ्चिदुच्यते ।
लशुनादिप्रतिषेधः शूद्रस्य न भवति" । अस्ति तावत्प्रकरणभेदेन प्रयोजनं लशुनादि-
प्रतिषेधे शूद्रस्याधिकारो मा भूदिति । मांसेऽपि देवाद्यर्चने गृहस्थस्याधिकाराद्गृहस्थस्य
शूद्रस्य यथाकाम्यम् ।

"ननु च पाकयज्ञे शूद्रस्याधिकारः स्थित एव । भोजनं गृहस्थानां च विहितम् । न
च लशुनादिभिः पाकयज्ञाः क्रियन्ते । ततश्च नापि शूद्रस्य यथाकाम्यं लशुनादयो भक्ष्याः स्युः" ।
को दोषः ? "द्विजातिग्रहणमनर्थकम्" । परिहृतमेतद्गृहस्थस्य प्रोषितस्य वा कामचारः ।
न च गृहस्थेन यदहुतं तन्न भोक्तव्यम् । 'शेषभुग्भवेदि'त्यस्यायमर्थः—'अकृतवैश्वदेव-
क्रियेण न भोक्तव्यम्' । तत्र यस्यैव यागसाधनता द्रव्यस्य तदेव मेध्यं होतव्यम् । अन्ये तु
भोजनकाले कुतश्चिदाहुत्य मध्यगेहे वा भुञ्जते । तच्च हुतशेषमपि न प्रतिषिद्धम् । मांसे तु
पुनर्वचनास्त्रियमः 'न कदाचिद्देवानुपर्युक्तं भोज्यमिति' । "यदि चातुर्वर्ण्यस्यात्राधिकारस्तदा
यद्वक्ष्यति परस्तात् शुद्धिविधौ—'चतुर्णामपि वर्णानां'मिति—तदनर्थकम्" । तत्रैव तस्य
प्रयोजनं वक्ष्यामः । अथ—"'श्वमांसाद्यपि शूद्रस्य भक्ष्यं प्राप्नोति द्विजातिग्रहणात्पूर्वम्" ।
किं त्वेकादशे (११।१५४) 'विड्वराहखरोष्ट्राणामि'त्यादिश्लोकत्रयनिर्दिष्टाः शूद्रस्यापि
न भक्ष्या इति ज्ञापकं दर्शयिष्यामः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इह खलु मांसेषु सर्ववर्णाविशेषेण भक्ष्याभक्ष्यविवेको दर्शितः ।
तत्र द्विजातीनां त्रयाणां यादृशेन नियमेन भक्ष्यमांसानामपि भक्षणं तत्कथयितुमवतारयति
एतदुक्तमिति । द्विजातीनां त्रयाणां सामान्यात्तदुक्तम् । भक्षणे वर्जने च विधिं प्रकारं
द्विजातीनामेव ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद् द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमुक्तम् । अत ऊर्ध्वं मांसस्य भक्षणे
वर्जने च विधानं निःशेषं वक्ष्यामि ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । अशेषतः 'शेषः' प्रायश्चित्तं, सोऽपि परिशिष्टो विद्यते न यत्र तेन
प्रायश्चित्तसहितं भक्ष्यमुक्तमिति सूचीकटाहत्यायेन प्रायश्चित्ताभिधानमेकादशोक्तम् । द्विज-
स्यैवात्र प्रायश्चित्तमुक्तं न तु शूद्राणामिति मेधातिथिः । तत्र शूद्राणां मांसभक्षणे दोष एव
नास्तीति 'जग्ध्वा मांस'मित्युपक्रम्योपसंहारेऽ'सकृद्द्विज' इति तत्रोक्तेः । स्थानभ्रष्टा एते

भवन्तीति भावः । प्रतिज्ञान्तरमाह मांसस्येति । भक्षणवर्जने यथा भक्षितव्यं यथा वा नेति ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । विधि प्रकारम् ॥ २६ ॥

(७) मणिरामः । भक्ष्याभक्ष्यस्योपसंहारमाह एतदिति ॥ २६ ॥

(८) गोविन्दराजः । द्विजातीनामेतत् भक्ष्याभक्ष्यं निशेषेणोक्तम्, अत ऊर्ध्वं मांसस्य भक्षणे वर्जने च विधिः विधानं वक्ष्यामि ॥ २६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ॥

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्थये ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नीषोमीये पशौ हुतशिष्टं मांसं लक्षणया प्रोक्षितमुच्यते । “ननु प्रोक्षितशब्दो यौगिक ‘उक्ष सेचने’ इत्यस्य धातोः प्रक्षालनक्रियानिमित्तकः । तथा च ‘प्रोक्षणीरासादय’ ‘घृतं प्रोक्षणीयमिति’ ‘प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्थ’ इति सर्वत्र क्रियायोगात्प्रयुज्यते । यद्यासेचनसाधनम्, तत्र कुतो वैदिकसंस्कारनिमित्तकानां स्वसम्बन्धि पशुलक्षणाद्वारेण मांसं प्रवर्तते । मुख्यं च शब्दार्थमतिक्रम्य किमिति लक्षणाऽऽश्रीयते ? अतः प्रक्षालितमुदकादिना युक्तम्” । सत्यम् । यद्यत्र वाक्यान्तराण्यर्थवादाश्च शेषभूता न स्युः— ‘अनुपाकृतमांसाणि’ ‘असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैरिति’ । अतस्तत्पर्यालोचनयाऽयमेवार्थोऽवतिष्ठते । “यद्येवं तत एव सिद्धत्वात्किमनेन” । केचिदाहुः—अनुवादोऽयम् । मांसेच्छया भक्षणस्य विधिस्तावदयं न भवति, क्षुत्प्रतिघातार्थिनो लिप्सया प्रवृत्त्युपपत्तेः । स हि विधिरुच्यते यः पुरुषस्य दृष्टेन प्रयोजनेन प्रवृत्तावसत्यां प्रवृत्त्यवबोधकः, ‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति’ । शास्त्रमेवात्र प्रमाणम् । यत्र ‘अस्मिन्कृते इदमभिमतमभिनिर्वर्तते अकृते वाऽयमनर्थ आपतति’ एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते, तत्र न शास्त्रमेव मृग्यते । यत्र तु नायमन्यतोऽवगमः केवलागमैकगोचरः स विधिरिति चोच्यते । इह तु भोजने कृते पुष्टिरुपजायते, यद्दुःखं तन्निवर्तत इति, बाला अपि स्तनपायिनोऽनुपदिष्टमवयन्ति । नियमोऽपि न भवति, तद्रूपानवधारणात् । यदि तावत्प्रोक्षितं च भक्षयेदेवेति नियमस्तदा कालविशेषावच्छेदाभावादाहारविहारकाला अप्यवसीदयुरनवरतमश्नन्नेवासीत, अशक्यश्चार्थ उपदिष्टः स्यात् । यथोक्तम् “अश्राद्ध-भोजीति” ‘यदहरेव प्रत्यवेयादिति’ । महाभाष्यकारेण विधिविशेष एव च नियम उक्तः । असम्भवति च विधौ कुतो नियमः ? न चान्येन प्रोक्षितमन्येन लभ्यते । तस्मादयमनर्थः । अथ—‘प्रोक्षितमेवेति अप्रोक्षितं नेति परिसंख्या । (न हि) प्रोक्षिताप्रोक्षितोभयभक्षणस्य (त्यागादेअशनाया निवृत्तौ युगपत्पर्यायेण वा प्रवृत्त्या परिसंख्यालक्षणस्य विद्यमानत्वात्” । तथाऽप्यनुपाकृतमांसाणीत्येव सिद्धम् । अन्ये त्वस्य पक्षस्यैवं दोषमुपपादयन्ते । अविशेषेण सर्वाप्रोक्षितप्रतिषेधे शकुनीनामपि प्रतिषेधः प्राप्नोति । न च येषामेव प्रोक्षणं विहितं तेषां तु प्रतिविधानाद्यभावादिति न विशेषपरिग्रहे प्रमाणमस्ति । तदयुक्तं मन्यन्ते । एवं सति भेदेन शकुनीनां प्रतिषेधानुक्रमेण गमकत्वात् ।

तस्माच्छ्रुतकमङ्गत्वेन नियमस्य प्रोक्षितमांसभक्षणस्यायमनुवाद इति युक्तं दृष्टान्त-
तया । यथा यज्ञेऽवश्यं भक्षणम्, अभक्षणाच्छास्त्रातिक्रमः, एवमुत्तरेष्वपि निमित्तेषु ।
अनुवादश्चेत्परिसंख्यापेक्षाऽप्यस्तु । गोऽव्यजमांसमप्रोक्षितं न भक्षयेदित्यनेनैतदनुपाकृतानामेवा-
सद्रूपमनूयते अप्रोक्षितस्यापि ब्राह्मणकाम्यादिनिमित्तेष्वनुज्ञापनार्थः ।

अन्यच्च “अर्नचितं वृथामांसमपि” (४।२१२) चातुर्थिकेन वृथामांसशब्देन एतद-
नुपरिज्ञातार्थमितरथा न विज्ञायेत किं तद्वृथामांसमिति । अथवा एकत्र भोक्तुरूपदेशोऽन्यत्र
कल्पयित्वा येन देवाद्यर्चनं न कृतं तदीयं मांसमन्येनाप्यतिथ्यादिना न भोक्तव्यम् । अन-
धिकृतेनापि देवाद्यर्चनेन ह्यतिथ्यादयः परगृहे तदीयेन मांसेन देवार्चनेऽधिक्रियन्ते । अथ
कल्पयित्वा यदि कृतं तदाऽर्हत्यशितुम् । द्वितीयस्तु प्रतिषेधो “देवान्पितृनि” (५।३२)
स्वगृहेऽधिकृतानामकृतवतां भक्षणाय । यस्तर्हि “असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैरिति” (५।३६) स
उक्तः प्रोक्षणशब्दार्थः । एवं पञ्चापि निषेधवाक्यानि पृथगर्थानि दर्शितानि । ब्राह्मणानां
च काम्या । ‘काम्या’ कामना इच्छा । काम्याशब्दः छान्दसः ।

“यदा ब्राह्मणादीनामप्रोक्षितानामिदमनुज्ञानं, तदा किं पुनरयं नियमः ? अभक्षणे
शास्त्रातिक्रमः ? उत प्रतिप्रसवमात्रम् ? प्रतिप्रसवे भोक्तव्यं विवाहे पुनर्भोक्तव्यमिति
वचनादपि प्रतिषेधाप्रवृत्तिर्विवाहे गम्यते” । न भोजनार्थमावश्यकं किं तु ब्राह्मणा यदि
गरीयांसस्तदा तद्वचनातिक्रमो न युक्तः ।

अन्ये तु ‘क्रीत्वादि’श्लोके (५।३२) ब्राह्मणानामित्यनुवर्त्य शशादिमांसस्यापि विधि-
मिच्छन्ति । यज्ञविवाहयोरन्यत्र च गोष्ठीभोजनादौ यदि ब्राह्मणा अर्थयन्ते तदा तेषां मांसं
स्वरूपेण देवौद्देशिकया न प्रतिषिद्धम्, अवस्थाविशेषेण प्रोक्षणं देवार्चनादीनि कर्तव्यानि ।
विशेषः प्रतिषिद्धः । तस्य ब्राह्मणकामनानिमित्तत अभ्यनुज्ञाता, नतु “क्रव्यादान्शकुनान्”
(५।११) इत्यादेः प्रतिषेधस्य—“निवृत्तिस्तु महाफलेति” कृतसङ्कल्पस्तस्याप्यनुज्ञान-
मिष्यते । प्रोक्षितेऽप्रोक्षिते च कृतार्चनेऽकृतार्चने वा ।

यथाविधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये । मधुपर्कं च श्राद्धे च नियुक्तोऽप्रोक्षणेनापि
भक्षयेत् । एष हि यथाशास्त्रं नियोगस्तत्र श्राद्धे नियमा उक्ता एव । “केतितस्तु
यथान्यायं” (२।१९०) “कथंचिदप्यतिक्रामन्निति” । श्राद्धं भोक्ष्ये इत्यभ्युपेत्येदमहं
नाशनामीति न लभ्यते वक्तुम्, अभक्ष्यमशुचिकरं व्याधिजननं च वर्जयित्वा, हविष्य-
विधानान्न भक्ष्यं यद्यद्रोचते तत्तन्नाप्रीतिकरं दीयते । अत इदं वचनं मधुपर्कं एव । “ननु
मधुपर्कं नास्ति नियोगः” । अशितव्यं मधुपर्काहिंणेति नियमः, नासौ मधुपर्कस्य विधिः ।
स हि तत्ताधिकृतो न धन्यो राजादिः । यथैव “नास्यानश्नन्गृहे वसेदिति” गृहस्थस्य नियमो
दृश्यते । एतेनावगम्यते अमतिके न दातव्यमिति । यैस्तु कामचार एवं पूजितसमादानेन
पूज्यस्याशनेन, न हि तत्तदर्थं कर्म । “ननु चातिथ्यमेवानित्यम्” । सत्यम् । दृष्टं प्रीत्युत्पादनेन
धर्मार्थमनुष्ठानम् । तस्य नियमोक्तधर्मार्थमेव दातुस्तस्य हि गोरुत्सर्गपक्षे विहितो “नामांसो
मधुपर्कः स्यादिति” । नन्वात्विज्ये वचनस्यापि विषय इति चेत् । अस्त्वयमपि पूर्ववदनुवादः
मनुस्मृति ३/३

श्राद्धे आर्त्विज्ये च । “ननु चार्त्विज्ये उक्तमेव इडादिभक्षणं यजमानस्य तत्र शास्त्रनिबन्धनो नियमः, नर्त्विजाम्” । सत्यम् । किंतु ऋत्विजो यदि न भक्षयन्ति ते प्रवाद्यन्ते । अविदितेन अदृष्टेनापि दोषेण युज्यन्ते ।

ननु तेषां भक्षणमधिकृतानामास्ताम् । न हि ते कर्मफलेन युज्यन्ते । भृत्यादिर्हि परिक्रीतो विहितान्पदार्थाननुतिष्ठति । विहितञ्च “यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्तीति” तेषां भक्षणतोऽस्यकाभ्युपगतात्विज्यानां नियतं भक्षणं तदा तेनानूद्यत इति युक्तम् । न हि श्राद्ध-भुजामृत्विजां च भक्षणे शास्त्रीयनियोगः । यजमानस्यैवानुवादः किमर्थं इति चेन्नानुवादः प्रयोजनमपेक्षते । किं तर्हि ? प्राप्तमस्ति चात्रोच्यते । अत्रापि यदा गोपेन गोवधपूजाऽभ्युपगता तदाऽवश्यमशितव्यम् । तदनुग्रहार्थमसौ मधुपर्कपूजां प्रतीक्षते । अतः पूर्वा तेन क्रिया सम्पादनीया । अन्यथा प्राक्रमिकस्याभावादपरिपूर्णेन मधुपर्केण तदनुग्रहासम्पत्तेस्तास्मिन्प्रतिषिद्धमांसाशने मधुपर्कपूजाऽऽर्त्विज्यं च प्रथममेवाभ्युपगन्तव्यम् । ब्राह्मण-भोजने च । ब्रह्मचारिणस्तु व्रतवदनुज्ञानादनशनमेव ग्राह्यं मांसस्य ।

प्राणानामेव चात्यये । प्रकृतत्वाद्देवाद्यर्चनमन्तरेण अभक्ष्यमाणे व्याधिना क्षुधा भोजना-न्तरासम्भवे जीवनाशशङ्कायां गोजावि भक्षयितव्यम् । ‘सर्वत एवात्मानं गोपायेदित्येतच्छ्रुति-मूलोऽयं नियमः । अतश्चेदृशे निमित्ते मांसमनश्नन्नात्महा सम्पद्यते । आत्मवधश्च “सर्वत एवात्मानं गोपायेत्तस्मादु ह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादलोक्यं ह्येतद्भवतीत्यादि” श्रुति-भिर्मन्त्रार्थवादैश्च तैर्दोषवान्नेति ज्ञापितम् । तथाहि मन्त्रः “असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥” (ईश. उप. ३) इति ब्रह्मचारिणोऽपि प्राणात्यये भक्षणमिष्यते । तस्यैव बाल्याद्यवस्थानिमित्तं वाचनिकं प्रायश्चित्तं भविष्यतीति—“ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कदाचनेति” (११।१५८) । क्षुधा तु प्राणात्ययाशङ्कायां प्रतिषिद्धमांसाशनमपीति **व्यासः** (ब्र० सू० ३।४।२८) । जाघनी-निदर्शनेनैकाहिकं चेप्यते । एतावता अतीतव्याधौ तु न शक्यमेतत् ज्ञातुमवश्यमशितेनानेन जीवतीति । तत्र न प्रतिषिद्धग्राम्यकुक्कुटादिमांसभक्षणमिष्यते । प्रोक्षणदेवाभ्यर्चनरहितस्य तु प्रकृतत्वादस्त्यनुज्ञानम् । व्याधेश्च न केवलमुत्पन्नस्य निवृत्त्यर्थं यावत्कुशक्षय्यातुरदुर्बला-दीनां सर्वकालं मांसाशनं नियमत इष्यते । “स्त्रीमद्यनित्याः क्षयिणः, श्रमव्याध्या च कर्षिताः । नित्यमांसरसाहारा आतुराश्चापि दुर्बलाः ॥” अप्रोक्षितस्यापि छागमांसस्य देवताद्यर्चनं तु तैरवश्यं कर्तव्यम् । असम्भवे तु कस्मिंश्चिदहनि न दोषः ॥ २७ ॥

(२) **सर्वज्ञानारायणः ।** प्रोक्षितमुपाकृतं भक्षयेत् यजमानः । तथा बहूनां ब्राह्मणानां यत्र मांसभक्षणे संतोषस्तत्र ब्राह्मणानां काम्यया इच्छया भक्षयेत् । यथाविधि वरणादिना नियुक्तः ऋत्विक् श्राद्धी च । प्राणानामत्यये तदभक्षणे मरणनिश्चये । अत्र च भक्षयेदिति न विधीयते । किंतु रागप्राप्तं भक्षणमनूद्य परिसंख्यायते । यथा मन्वर्थानुवादी बृहस्पतिः ‘रोगी नियुक्तो विधिना हुतं विप्रवृत्तस्तथा । मांसमद्याच्चतुर्ध्रुषा परिसंख्या प्रकीर्तिता ॥ अतोऽन्यथा तु योऽश्नीयाद्विधिं हित्वा पिशाचवत् । यावन्ति पशुरोमाणि तावत्प्राप्नोति

मारण'मिति ॥ अत एवात्र परिसंख्यादोषोऽपि न दोषाय, स्मृत्यैव स्मृतेस्तथा व्याख्यातत्वात् ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रोक्षितं भक्षयेदिति परिसंख्या वा स्यात् नियमविधिर्वा ? । तत्र परिसंख्यात्वे प्रोक्षितादन्यन्न भक्षणीयमिति वाक्यार्थः स्यात् । स चानुपाकृतमांसानीत्यनेनैव निषेधात्प्राप्तस्तस्मान्मन्त्रकृतप्रोक्षणाख्यसंस्कारयुक्तयज्ञहुतपशुमांसभक्षणमिदं यज्ञाङ्गं विधीयते । अत एव संस्कृतान्पशून्मन्त्रैरित्यस्यानुवादं वक्ष्यति । ब्राह्मणानां च यदा कामना भवति तदावश्यं मांसं भोक्तव्यमिति तदापि नियमत एकवारं भक्षयेत् 'सकृद्ब्राह्मणकाम्यये'ति यमवचनात् । तथा 'श्राद्धे मधुपर्के च समांसो मधुपर्क' इति गृह्यवचनात् । नियुक्तेन नियमान्मांसं भक्षणीयमिति । अत एव नियुक्तस्तु यथान्यायमित्यतिक्रमदोषं वक्ष्यति । प्राणात्यये चाहरान्तराभावनिमित्तके व्याधिहेतुके वा नियमतो मांसं भक्षयेत् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रोक्षितमग्नीषोमीयादिपश्ववशिष्टम् । यथाविधि नियुक्तः श्राद्धादौ । अत्यये मांसैकनिर्वर्त्यरोगे इति चतुष्टये नियमविधिः ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । अभक्ष्यमपि मांसं प्रोक्ष्यैव भक्षयेत् । काम्यया प्रार्थनया । यथाविधि नियुक्तो दैवपितृयोनिमन्त्रितः । प्राणानामत्यये क्षुधादिपीडायाम् । एवं चतुर्धा मांसभक्षणे विधिरुक्तः ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मांसं भक्षयेत्प्रोक्षितादन्यन्न भक्षयेदित्यायनिषेधपरम् । च पुनः नियुक्तः सन् निमन्त्रितः सब्राह्मणानां काम्यया भक्षयेत् । च पुनः प्राणानामत्यये नाशे मांसं भक्षयेत् औषधार्थमित्यर्थः ॥ २७ ॥

(७) मणिरामः । प्रोक्षितं मन्त्रकृतप्रोक्षणाख्यसंस्कारयुक्तं यज्ञहुतपशुमांसं भक्षयेत् इति विधीयते । तथाच तदभक्षणे दोषादवश्यमेव तद्भक्षणीयम् । ब्राह्मणानां च काम्यया अवश्यं मांसं भोक्तव्यमिति । यदा ब्राह्मणानामिच्छा भवति तदा एकवारं भक्षणीयं । 'सकृद् ब्राह्मणकाम्यये'ति वचनात् । यथाविधिनियुक्तस्तु श्राद्धे मधुपर्के च मांसयुक्ते नियुक्तः तत्रापि नियमाद्भक्षणीयम् । प्राणात्यये च आहारांतराभावे च नियमे न भक्षयेत् ॥ २७ ॥

(८) गोविन्दराजः । प्रोक्षितमिति । प्रोक्षणाख्यश्रौतसंस्कारयुक्तः गोऽव्यजसंचित्प्रियमांसं तद्भक्षयेत् इति श्रुतिः । कर्माङ्गभूतभक्षणनियमानुवादोऽयं ब्राह्मणकामनादिनिमित्तभक्षणनियमसाम्यापादनार्थः । यत्तु प्रोक्षितपरिसंख्यार्थत्वमाहुः । तदसत्; 'अनुपाकृतमांसानि' इत्यस्य अप्रोक्षितप्रतिषेधार्थत्वात् । 'ब्राह्मणानां चे'ति ब्राह्मणप्रार्थनया व्यक्तप्रतिषिद्धमांसाशिनोऽपि च ब्रह्मचर्यादिनियमतोऽश्नीयात् । तथा श्राद्धे मधुपर्के वा तदामिषेण कर्तव्यं, 'नामांसो मधुपर्कः स्यादिति स्मृतिगृह्यशास्त्रप्रयुक्तेनाब्राह्मणेनापि नियुक्तो नियमतो भक्षयेत् । तथा च नियुक्तस्तु इति अतिक्रमदोषं वक्ष्यति । प्राणात्ययेऽपि चक्षुर्निमित्ते व्याधिनिमित्ते च त्यक्तमांसाशिनोऽपि च ब्रह्मचर्यादिनियमतो भुञ्जीत ॥ २७ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ॥

स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राणः कौष्ठ्यो वायुः जीवबीजभूतः । पञ्चवृत्तस्योदानादिकस्य शरीरस्थित्यर्थम् । इदं सर्वं जगत्प्रजापतिरन्नत्वेनाकल्पयत् । इदमिति सामान्यतो निर्दिश्य विशेषणे निर्दिशति स्थावरं जङ्गममिति । अतो हेतोः सर्वं प्राणस्य भोजनम् । तिर्यक्पक्षिमुष्यसरीसृपावस्थहेतुमद्भेदनिर्देशात् द्वितीयं सर्वग्रहणमपुनरुक्तम् । यतः प्रजापतिना सर्वमापदि प्राणस्य कल्पितम्, अतः सर्वमेतस्य भोजनम् । तथा च प्राणसंवादोपनिषदि श्रूयते (छान्दोग्य० ५/२/१) “स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति । यदिदं किञ्चित् आऽश्वभ्य आ कीटपतङ्गेभ्य” इति ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नापरेषां मतमुत्थापयति प्राणस्यान्नमिति । प्राणस्य जीवात्मनः । यतोऽकल्पयदतस्तस्य भोजनं भोज्यम् ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । प्राणात्यये मांसभक्षणानुवादमाह प्राणस्यान्नमिति । प्राणितीति प्राणो जीवः शरीरान्तर्गतो भोक्ता तस्यादनीयं सर्वमिदं ब्रह्मा कल्पितवान् । किं तदाह जङ्गमं पश्यादि स्थावरं व्रीहियवादि सर्वे तस्य भोजनं तस्मात्प्राणधारणार्थं जीवो मांसं भक्षयेत् ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नार्थं भूतार्थवादमाह प्राणस्येति । भोजनं भक्ष्यम् ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । ‘प्राणानामेव चात्यय’ इत्यस्यार्थवादं श्लोक्तव्येणाह प्राणेति । प्राणस्य प्राणिनः ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राणस्यान्नमित्यारभ्य यज्ञायेति पर्यन्तं चार्वाकपूर्वपक्षो निरूप्यते प्राणस्येति । ‘प्राणस्य क्षुत्पिपासे’ इति श्रुतिः । प्रजापतिरिदं सर्वमन्नं प्राणस्याकल्पयत् । सर्वं स्थावरं जङ्गमं प्राणस्य भोजनं स्मृतम् ॥ २८ ॥

(७) मणिरामः । प्राणात्यये मांसभक्षणानुवादमाह प्राणस्यान्नमिति । प्राणो जीवः शरीरांतर्गतो भोक्ता तस्य अदनीयं सर्वमिदं स्थावरं जङ्गमं प्रजापतिरकल्पयत् । तस्मात्सर्वं स्थावरं जङ्गमं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

(८) गोविन्दराजः । प्राणस्येति । कौष्ठ्यस्य वायोः शरीरावस्थित्यर्थमिदं सर्वं प्रजापतिरन्नं कल्पितवान् । किं तत् ? अत आह पश्यादि जङ्गमं मूलफलादि च स्थावरं सर्वं प्राणस्य भोजनम् । तस्मात् प्राणात्यये मांसमदनीयमिति प्राणात्यये मांसभक्षणार्थवादः ॥ २८ ॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ॥

अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । चराश्चरणपतनरणोत्साहयोगिनः श्येननकुलादयः । तेषामचराः सर्पकपोतादयः अन्नम् । एवं दंष्ट्रिणां सिंहव्याघ्रादीनां अदंष्ट्रिणः रुक्पृषतादयो मृगाः । अहस्ताः

सर्पमत्स्यादयः सहस्तानां नकुलनिषादादीनाम् । शूराणां महोत्साहयुक्तानां जीवितनिरपेक्षाणां भीरवः प्रियजीविताः । अल्पसत्त्वा अन्नत्वेन हन्यन्ते ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूराणां सिंहादीनां भीरवो मृगाद्याः ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । 'प्राणस्यान्नमिदं सर्वं'मित्येव प्रपञ्चयति चराणामिति । जङ्गमानां हरिणादीनां अजङ्गमास्तृणादयः । दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो हरिणादयः । सहस्तानां मनुष्यादीनामहस्ता मत्स्यादयः । शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयोऽदनीया एतादृश्यां विधातुरेव सृष्टौ ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । एतमेवानुभवशास्त्राभ्यां स्वहस्तयति चराणामित्यादिना । चराणां जङ्गमानां अचराः स्थावराः । शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । 'सर्वं प्राणस्य भोजन'मित्येतद्विवृणोति चराणामिति । चराणां मनुष्यादीनामचरा वृक्षौषध्यादि । दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो मृगादयः । सहस्तानां मृगनकुलादीनां अहस्ताः सर्पादयः । शूराणां शक्तिमत्तराणां भीरवोऽशक्ता अन्नम् ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अचराः भक्ष्या गोधूमादयः चराणां प्राणिनामन्नम् । दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनां अदंष्ट्रिणो मृगादयः अन्नं भोज्यम् । अहस्ता मत्स्यादयः सहस्तानां मनुष्याणामन्नम् । शूराणां सिंहादीनां भीरवो मृगादयः अन्नम् ॥ २९ ॥

(७) मणिरामः । चराणां गवादीनां अचराः तृणादयः अन्नम् दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनां अदंष्ट्रिणः मृगादयः । सहस्तानां मनुष्यादीनां अहस्ताः मत्स्यादयः । शूराणां सिंहादीनां भीरवः हस्त्यादयः ॥ २९ ॥

(८) गोविन्दराजः । चराणामिति । जङ्गमानामजङ्गमाः स्थावराण्यन्नम् । दंष्ट्रावतां च व्याघ्रादीनां अदंष्ट्रा सर्पादयः । हस्तवतां मार्जारादीनां अहस्ता मत्स्यादयः शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयः । अनिमित्तम् अन्नमिति पूर्वश्लोकस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ २९ ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ॥

धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अन्ता भक्षयिता । आद्यान्प्राणिनः अत्तुं शक्यान् । प्रतिदिवसं भक्षयन्न दुष्यति । धात्रैव प्रजापतिना अत्तार आद्या उभयेऽपि सृष्टाः । तस्मात्प्राणात्यये मांसमवश्यं भक्षणीयमिति त्रिश्लोकी विधेरस्यार्थवादः ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अहन्यहन्याहारबुद्ध्याऽदन्नपि न दुष्यति न पापं लभते । इति तन्मतोपसंहारः ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । भक्षयिता भक्षणाहन्प्राणिनः प्रत्यहमपि भक्षयन्न दोषं प्राप्नोति । यस्माद्विधात्रैव भक्षणाहर्णं भक्षयितारश्च निर्मिता इति । त्रिभिः श्लोकैः प्राणात्यये मांस-भक्षणस्तुतिरियम् ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च, नेति । अत्ता भक्षयिता । आद्यान् भक्षणाहान् । आद्या-
त्तुसृष्टेर्ब्रह्मकृतत्वेन स्वाभाविकत्वात् सापेक्षत्वाच्च न दोष इति भावः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । अहन्यहनि आद्यान् भक्ष्यान् प्राणिनः अत्ता भोक्ता न दुष्यति ।
धात्रैव आद्याः भक्ष्याः प्राणिनः च पुनः अत्तार एव भक्षका एव सृष्टाः ॥ ३० ॥

(७) मणिरामः । अत्ता भक्षयिता । आद्यान् भक्षणाहान् प्राणिनः जीवान् । अहन्य-
हन्यपि प्रत्यहमपि । अदन् भक्षयन् । न दुष्यति । हि यस्मात् । विधात्रैव । आद्याः
भक्षणाहानिः । अत्तारश्च भक्षयितारश्च । सृष्टाः निर्मिताः ॥ ३० ॥

(८) गोविन्दराजः । इत्थं प्रजापतिकल्पनायां सत्यां । नात्ता दुष्यतीति । अदनाहान्
प्राणिनोऽहरहरप्यश्नन् भक्षयिता न दोषान् प्राप्नोति । यस्मात् प्रजापतिनैवादनार्हा भक्षयिता-
रश्चोत्पादिता इति प्राणात्ययमांसभक्षणनियमदाढ्यार्थोऽयमर्थवादो न हेतुः प्राण्युपघातनिषेधो-
पदेशात् ॥ ३० ॥

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ॥

अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । यज्ञार्थं मांसस्य पिण्डप्राशित्वादजग्धिरशनम् । एष दैवो विधि-
र्दैवैरेतद्विहितम् । अन्यथा तु मांसाशिनः शरीरपुष्ट्यर्थकमांसाशने प्रवृत्तिः स राक्षसो विधिः ।
पिशाचानां मांसभक्षणे स्थितिरिति निन्दा ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वमतमाह यज्ञायैति । यज्ञाय यज्ञाङ्गशेषप्रतिपत्तिसिद्धये ।
जग्धिर्भक्षणं दैवो विधिः देवतार्थप्रवृत्तत्वात् । अतोऽन्यथा उपाकृतमांसव्यतिरेकेण । राक्षसो
राक्षसान्नाशनरूपत्वात् । अत एवाग्रे वक्ष्यति (११।१५) —‘यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं
सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हवि’रिति ॥ देवानां हविर्देवतार्थमुपात्तं
मांसहविरश्नताऽन्यमांसं न भक्ष्यमित्यर्थः । अत्र च वचने ‘ब्राह्मणेने’ति वचनाद्ब्राह्मणस्यानुपा-
कृतमांसाशने क्षत्रियाद्यपेक्षया दोषभूयस्त्वं प्रतीयते । एवं च ब्राह्मणैर्मांसभक्षणं यज्ञ एव
कार्यं, तत्राप्यल्पः प्रत्यवायो न तु प्रत्यवायाभाव एव । तथाच महाभारते ‘प्रोक्षिताभ्युक्षितं
मांसं तथा ब्राह्मणकाम्यया । अल्पदोषमिति ज्ञेयं, विपरीते तु लिप्यत’ इत्युक्तम् ॥ प्रोक्षितं
पशुबन्धार्थम् । अभ्युक्षितं श्राद्धार्थं । ब्राह्मणानां काम्ययेति व्याख्यातमेव । अत्र च प्रोक्षित-
व्यतिरिक्तोपादानं प्रोक्षितापेक्षयाधिकपापहेतुत्वेऽपि वृथामांसाशनापेक्षयाऽल्पदोषत्वोप-
वर्णनार्थम् । अत एवानुपाकृतमांसानीत्यभक्ष्यगणे श्राद्धादावपि मांसस्याभक्ष्यत्वाभिधानम् ।
तथा ‘प्रोक्षितं भक्षयेदित्यादिनाऽन्येषामपि प्रकाराणां भक्षणाभ्यनुज्ञानं च न विरुध्यते ।
लिप्यते संपूर्णपापेन युज्यते । यत्तु पुराणादिषु पितृकल्पे सप्तानां द्विजानां भक्षणोद्देशेन गां
हत्वा श्राद्धकरणं तेन च जन्मान्तरे जातिस्मरत्वमुक्तम्, तत्र प्राचीनभाग्यसहितश्राद्ध-
प्रभावाज्जातिस्मरत्वं मांसभक्षणात्त्वनेकतिर्यग्योनिगमनमिति न काचिदनुपपत्तिः । अत एव
यत्स्वार्थं पक्वमपि पितृकार्यादि कृत्वा भुज्यते तद्ब्राह्मणानामतिर्गर्हितं, क्षत्रियादीनां तु न
तादृग्दोषकरं देवपितृादिकार्यमकृत्वा तु भक्षणं सर्वेषां गर्हितमिति व्यवस्था द्रष्टव्या ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । अथ प्रोक्षितभक्षणनियमार्थवादमाह यज्ञायेति । यज्ञसंपत्त्यर्थं तदङ्ग-
भूतमांसस्य जग्धिभक्षणमेतद्वैवमनुष्ठानम् । उक्तव्यतिरिक्तप्रकारेण पुनरात्मार्थमेव पशुं
व्यापाद्य तन्मांसभक्षणेऽपि प्रवृत्ती राक्षसोचितमनुष्ठानमित्युत्तरार्धं वृथामांसभक्षणनिवृत्त्यनु-
वादः ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । जग्धिभक्षणं । यज्ञाय यज्ञार्थम् । मांसस्य तद्विना रागतो
भक्षणे दोषमाह अत इति । अन्यथा उक्तविधिं विना । राक्षस आसुरो नरकायैव ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मांसस्य जग्धिभक्षणं यज्ञाय यज्ञविषय एव पुरोडाशमात्रमित्येष
दैवो विधिः । अतः अन्यथा अविधिना प्रवृत्तिः मांसभक्षणे राक्षसो विधिरुच्यते । तद्यथा
'प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं तथा ब्राह्मणकाम्यया । अल्पदोषमिति ज्ञेयं विपरीते तु लिप्यत' इति
महाभारतवचनेन । यज्ञाङ्गशेषप्रतिपत्तिसिद्धयेऽपि मांसभक्षणं स्वल्पप्रत्यवायहेतुः ॥ ३१ ॥

(७) मणिरामः । जग्धिः भक्षणं । पूर्वार्धं प्रोक्षितमांसभक्षणे नियमार्थं । उत्तरार्धं वृथा
मांसभक्षणनिषेधार्थं । अतोऽन्यथा प्रवृत्तिः । आत्मार्थमेव पशुं व्यापाद्य तदभक्षणे प्रवृत्तिः ॥ ३१ ॥

(८) गोविन्दराजः । यज्ञायेति । यज्ञसंपत्त्यर्थं तदङ्गभूतं यन्मांसभक्षणं एतद्देवो-
चितमनुष्ठानम् । अत एव यत्नतः कार्यम् । एतद्व्यतिरिक्तप्रकारेण पुनर्मांसभक्षणप्रवृत्तिः
रक्षःसमुचितमाचरणं मन्वादिभिरुच्यते । तस्मादेतन्न कार्यमिति प्रोक्षितभक्षणनियमादनु-
वादार्थः ॥ ३१ ॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ॥

देवान्पितृश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । मृगपक्षिमांसविषयमिदं शास्त्रम् । रुरुपृषतादीनां शशकपिञ्ज-
लादीनां मांसं देवानां पितॄणां चार्चनं कृत्वा खादतो न दोषः । यथा गृहे वैश्वदेवाद्यर्थे कृते
संविधानं विनाऽपि वैश्वदेवेनोदनादिभोजनमस्ति, न तथा मांसस्य । एवमर्थमेतत्पुनर्वचनं
देवान्पितृश्चार्चयित्वेति । अन्यथा गृहस्थस्य पूर्वमेव भोजनमेवंरूपम् ।

देवेभ्य इति तेन शब्देनोद्दिश्य शुचौ देशे मांसस्य प्रक्षेपः । यदि वा अग्नये वायवे सूर्याय
जातवेदस इति देवार्चनं कर्तव्यम् ।

अग्नौ एवंपा आहुतयः कृता अग्निमतोऽन्यत्र न भवन्ति । नचाग्नौ होमेन विना बलि-
हरणं कर्तव्यम् । कर्मान्तरस्य प्रयोगान्तरस्य च प्रतिपादितत्वात् । आस्तां तावदेव तत् ।

अन्ये तु श्राद्धं पितॄणामर्चनमाहुः दृष्टश्च श्राद्धेऽर्चनप्रयोगः । पितॄंश्चैव देवान्बदन्ति ।
ततश्च सर्वस्मृतिकारैः श्राद्धमेव विहितम्, न पुनरन्या काचिदेव क्रिया ।

“कथं पुनर्मांसस्य क्रयसम्भवः यावता आपणभूमेर्मांसं क्रीयमाणं सौनमापद्यते ।
सौनिकैरहतस्य स्वयं मृतस्य पशोर्मांसमभक्ष्यमनारोग्यकरत्वात्” ।

उच्यते । व्याधशाकुनिकादिभिराहृतं क्रेष्यते । न च ते सौनिका इति प्रसिद्धास्तैश्च
विक्रयार्थं भ्राम्यद्भिर्गृह आनीतं भवति । तदा सम्भवति क्रयः । न हि तत्सौनमुच्यते ।

स्वयं वाऽप्युत्पाद्य । ब्राह्मणो याच्यया, क्षत्रियो मृगयाकर्मणा ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र क्षत्रियादीन्प्रत्यनिषिद्धमांसभक्षणप्रकारमाह क्रीत्वेति । स्वयमुत्पाद्य मृगयादिना हत्वा । परोपकृतं लब्धं । स्वयमुत्पादनसाहचर्याच्च क्षत्रादिपरमेवैतत् ब्राह्मणस्य यज्ञोद्देशं विना पशुहिंसायाः पूर्वमेव निषेधात् ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । क्रीत्वा आत्मना चोत्पाद्य अन्येन 'वा केनाप्यानीय दत्तं मांसं देवपितृभ्यो दत्त्वा शेषं भक्षयन्न पापमाप्नोति । अतः प्रोक्षितादिचतुष्टयभक्षणवन्नेदं नियतं भक्षणं न दुष्यतीत्यभिधानात् । 'वर्षे वर्षेऽश्वमेधेने'त्यादिवक्ष्यमाणमांसवर्जनविधिरप्येतद्विषय एव; अविरोधात् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । उपकृतं दत्तम् ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । एवं विधातृविहितत्वात्तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य प्राणापेक्षे मांसभक्षणे न दोष इत्याह नात्तेति पञ्चभिः । यज्ञाय जग्धिरेष दैवो विधिः । इतरमपि विधिमाह क्रीत्वेति । अर्चयित्वा मांसेन । मांसं दैवपितृयशिष्टम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रीत्वा स्वयमुत्पाद्य मृगयादिना परोपहतमेव च परेणान्येनोपहतमानीतं मांसं देवान्पितृनर्चयित्वा खादन्न दुष्यति एतत्क्षत्रियविषयम् ॥ ३२ ॥

(७) मणिरामः । परोपकृतं अन्येन दत्तम् ॥ ३२ ॥

(८) गोविन्दराजः । क्रीत्वेति । क्रीत्वा आत्मना चोत्पाद्य । यथोक्तं 'भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थ' इति । अनेनन्य चानीतं यथोक्तं "धाना मत्स्यान् पयो मांसं" इति । एवंविधं मांसं देवपितृभ्यो दत्त्वाऽश्नन् पापं न प्राप्नोति इत्युपाकरणानर्हशशादिमांसविषयमिदम् उपाकरणाहं गोव्यजमांसस्यानुपाकृतस्य देवाद्यर्चनशिष्टस्य 'अनुपाकृतमांसादी'ति प्रतिषेधात् ॥ ३२ ॥

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ॥

जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेतस्तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

(९) मेधातिथिः । पूर्वोक्ताद्देवाद्यर्चनशिष्टात् ब्राह्मणकामनादिनिमित्तात् अन्तरं यद्भक्षणं सोऽविधिस्तेन नाश्नीयात् मांसम् । उक्तानुवादोऽयम् । आपदि प्राणात्यये देवाद्यर्चनमपि नापेक्ष्यम् । "ननु चैतदपि निमित्ततयोक्तमेव । ततश्च विधिरेवायं नाविधिः ।" सत्यम् । प्रोक्षितसम्बन्धाद्गोव्यजस्यैव तत्र संनिधानाशङ्कायां शशादिविषयेऽभ्यनुज्ञानार्थमनापदीत्युच्यते । विध्यर्थानुष्ठानपरो विधिज्ञ उच्यते । तथा लौकिकानुष्ठानेऽपि जानातिरूपचारात्प्रयुज्यते । एष स तज्जानातीति अनुष्ठानपरे प्रयुज्यते । अत्र फलकथायां—जग्ध्वा अशास्त्रीयेण निमित्तेन । प्रेतो मृतस्तैः प्राणिभिरवशोऽद्यते । येन विषयेण यो येषां मांसमश्नाति तस्य विविधा पीडा भवति, एतावन्मात्रपरमेतत् । अन्यथा प्रायेण छागादिमांसमश्नन्ति लोकाः, न च छागादयो मांसाशिनः । अथवा तत्कृतेन पापेन क्रव्याद्भिरप्यद्यमानस्तैरद्यत इत्युच्यते ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृतं ब्राह्मणविषयमुपसंहरति नाद्यादिति । अविधिना उपाकरणव्यतिरेकेण । विधिज्ञो मांसाशनविधिज्ञः द्विजो ब्राह्मणः ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । मांसभक्षणानुष्ठानदोषज्ञो द्विजातिरनापदि तत्तद्देवाद्यर्चनविधानं विना न मांसं भक्षयेत् । यस्मादविधानेन यो मांसं खादति स मृतः सन्यन्मांसं तेन भक्षितं तैः प्राणिभिः परलोके स्वरक्षणाक्षमः खाद्यत इति सर्वश्लोकानुवादः ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनापदि रोगाद्यसंपत्तौ । तैर्भक्षितैः अवशो रक्षणाक्षमः प्रेत्य मृतः अत्ताऽद्यते ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । योज्यं मांसभक्षणे षोढा विधिरुक्तस्तद्विपर्ययेण भक्षणे दोषमाह नाद्यादिति ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तैः पशुभिः द्विजः ब्राह्मणः अद्यते भक्ष्यते अवशः पराधीनः सन् ॥ ३३ ॥

(७) मणिरामः । तैः येषां मांसमविधिना भक्षितं तैः पशुभिरेव स मांसभोक्ता भक्ष्यते ॥ ३३ ॥

(८) गोविन्दराजः । नाद्यादिति । मांसभक्षणप्रकारज्ञो द्विजोऽनापदि देवाद्यर्चनविधानं विना मांसं नाश्नीयात् यस्मादविधानेन यो मांसमश्नाति स मृतः सन् परलोके तैः प्राणिभिः परवशो भुज्यते, यन्मांसमनेन भक्षितं युक्तमिति पूर्वार्थवादः ॥ ३३ ॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ॥

यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसिद्धार्थः श्लोकः ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आहारबुद्ध्या तु भक्षणमतिनिन्दितं तस्येत्याह न तादृशमिति । धनार्थिन इति वदंस्तस्य मांसविक्रयजीविनस्तदेकवृत्तितया नातिशयितदोषतेति च दर्शयति ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । मृगवधजीविनो व्याधादेर्धननिमित्तं मृगाणां हन्तुर्न तथाविधं पापं भवति यादृशमदेवपितृशेषभूतमांसानि खादतः परलोके भवतीति पूर्वानुवाद एव ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । अहो कष्टं वर्तत इत्याह नेति । एनो दुःखं । मृगहन्ता देहयात्राद्यर्थं प्रवर्तते, अयं तु भोगार्थमित्यस्ति विशेषः ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । वृथाऽविधिना ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । धनार्थिनः क्रेतुः मृगहन्तुः तादृशं एनः पापं न भवति वृथामांसानि खादतः प्रेत्य यादृशमेनो भवति ॥ ३४ ॥

(७) मणिरामः । धनार्थिनः मृगहन्तुः व्याघ्रादेः ॥ ३४ ॥

(८) गोविन्दराजः । न तादृशमिति । मृगवधजीविशबरादिव्यतिरिक्तस्य धननिमित्तं मृगाणां हन्तुः न तथाविधं पापं भवति यादृगकृतदेवाद्यर्चनानि खादतः परलोके भवतीति पूर्वार्थवाद एव ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ॥

स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । सम्भवान् जन्मानि । अवश्यं प्राणात्ययसम्भवे देवार्चनं यो न करोति अथ च मांसमश्नाति स दुष्यत्येव ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न चार्त्विज्यश्राद्धभोजनादौ प्रवृत्तो मांसभक्षणदोषदर्शनात्ततो निवर्तेत तत्कालमांसाभक्षणस्यैवातिदोषहेतुत्वात् । अत आदावेव याजनादेर्निवर्तेतेत्याह नियुक्तस्त्विति । यथान्यायं वरणादिना ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । श्राद्धे मधुपर्कं च यथाशास्त्रं नियुक्तः सन् यो मनुष्यो मांसं न खादति स मृतः सन्नेकविंशतिजन्मानि पशुर्भवति । 'यथाविधिनियुक्तस्त्वित्येतन्नियमाति-क्रमफलविधानमिदम् ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । यथाविधि नियुक्त इत्युक्तं तत्त्वार्थवादमाह नीति । नियुक्तः श्राद्धादौ । संभवान् जन्मानि उपरतं ब्रह्मधारणं विना ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । दैवे पितृये च नियुक्तस्य मांसाभक्षणे दोषमाह नियुक्त इति ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिप्रसवमाह नियुक्त इति यथान्यायं विधिना नियुक्तः आर्त्विज्यादौ निमन्त्रितः मानवः ब्राह्मणः मांसं नात्ति न भक्षयति स प्रेत्य भवे जन्मनि एकविंशतिपर्यन्तं पशुतां याति । एतद्ब्राह्मणविषयम् ॥ ३५ ॥

(७) मणिरामः । श्राद्धादौ नियुक्तः सन् यो मांसं न भुङ्क्ते तस्य दोषमाह नियुक्त इति ॥ ३५ ॥

(८) गोविन्दराजः । नियुक्तस्तु यथावद्यो मांसं नाशनाति मानवः इति । श्राद्धमधुपर्कयोः शास्त्रमर्यादानतिक्रमेण नियुक्तः सन् यो मनुष्यो मांसं नाशनाति स मृतः सन् एकविंशतिजन्मानि पशुत्वं प्राप्नोति । इति यथाविधिनियुक्तस्त्विति एतन्नियमव्यतिक्रमफलकथनम् ॥ ३५ ॥

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ॥

मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रोक्षणादयः पशुबन्धे मन्त्रवन्तः संस्कारविहितास्ते येषां क्रियन्ते पशूनां वैदिकवागशेषाणां मांसमद्यात् । सीतायज्ञादिषु च सत्यपि सामयाचारिकयागशेषत्वे मन्त्रसंस्काराभावादभक्ष्यता । शाश्वतम् शाश्वतो नित्यो वैदिक इत्यर्थः । आस्थित आश्रितः ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । 'नाद्यादविधिने'ति यत्प्रागुक्तं तत्र विधिशब्दार्थनिरुक्त्या तदेव स्पष्टयति असंस्कृतानिति । मन्त्रैरुपाकरणनियोजनप्रोक्षणादिमन्त्रैः । एतेनोपाकरणादिसंस्कृतस्यैव पशोर्मांसं विप्रेण भक्ष्यम् । स चान्वष्टकायां पशुकल्पे मधुपर्के सोमे हविर्यज्ञविशेषे चास्तीति तत्रैव मांसाशनं विप्रेण कार्यम् । तदपि पूर्वैर्मुनिभिः कृतत्वात् क्रियते, नतु सर्वथा दोषाभावादिति दर्शयितुं शाश्वतं विधिमास्थित इत्युक्तम् । शाश्वतं विधिं प्रवृत्तिप्रकारं पूर्ववर्षाणाम् । आस्थित आश्रितः । एवंच तदामिषेण कर्तव्यमिति पार्वणप्रकरणोक्तमपि क्षत्रियादिपरमेव ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदविहितमन्त्रवत्प्रोक्षणादिसंस्कारशून्यपशून्विप्रादिः कदाचिन्नाशनीयात् । शाश्वतं प्रवाहानादितया नित्यं पशुयागादिविधिमास्थितो मन्त्रसंस्कृतानेवाशनीयादिति । 'प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं'मित्येतस्यानुवादार्थमेतत् ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । विधिनिषेधप्रकारौ निगमयति असंस्कृतानिति । शाश्वतं शास्त्रोक्तम् ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । सप्तममपि विधिमाह असंस्कृतानिति । असंस्कृतान्याजुषैरुपाकरणपर्यग्निकरणादिप्रयुक्तैर्मन्त्रैरसंयुक्तान् । मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्यात् अभक्षणार्हानपि पशून्मन्त्रैः संस्कृतान्कृत्वाऽद्यादिति ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मन्त्रैः उपकरणप्रयोजनप्रोक्षणादिभिः असंस्कृतान्पशून् । विप्र इत्युपलक्षणमात्रं, अन्योऽपि कथंचन नाद्यात् न भक्षयेत् । मन्त्रैः संस्कृतान्पशून्द्यात् । शाश्वतं विधिमास्थितः शाश्वतमित्यनेन मुनिकृतत्वमुक्तम् । तेनान्यैः कृतमिति तेन तु सर्वथा दोषाभावः ॥ ३६ ॥

(७) मणिरामः । शाश्वतं विधिं प्रवाहानादितया नित्यम् पशुयागविधिम् ॥ ३६ ॥

(८) गोविन्दराजः । असंस्कृतानिति । पशुयागादिचोदितप्रोक्षणादिमन्त्रसंस्काराहितान् गोऽव्यजादिपशून् विप्रादिः न कदाचिदप्यद्यात् । किं तर्हि ? नैमित्तिकं वैदिकपशुयागादिविधिमाश्रितः सन् मन्त्रसंस्कृतानेवाशनीयादित्यनुपाकृतमांसार्थं निरूपणार्थवादमेतत् [मांसनिराकरणानुवादार्थमेतत्] ॥ ३६ ॥

कुर्याद्घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ॥

न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥३७॥

(१) मेधातिथिः । "यद्येषां बुद्धिः स्यात्—सीतायज्ञखण्डियज्ञचण्डिकायागादिषु समाचारप्रमाणेषु, पशुवधः फलकामस्य न्याय्यः, दृष्टा हि पशुवधोपयाचितकेनातिशयवती सस्यसम्पत्तिरिति"—तन्निषेधार्थमाह । सङ्गे प्रस्तावात्पशुवधप्रसङ्गे घृतपशुं कुर्यात् घृतपशुमेव कुर्यात् । पशुना यष्टव्ये तत्स्थाने घृतेन यजेत देवताः । तद्वि सामान्येन यागद्रव्यम् । अथवा पिष्टपशुं पिष्टमयपशुप्रतिकृतिं कृत्वा देवताभ्य उपहरेत्, पिष्टेन वा पुरोडाशादि कृत्वा । कथमयं वृथा पशुवध उच्यते । हिंसायां समाचारः प्रमाणम् ।

ननु स्त्रीशूद्रजनानामवैधत्वान्नात्र देवमूलता शक्या कल्पयितुम् । देवताराधनार्थं तदा ह्येतदाचरन्ति । न च देवताराधनार्थानि वैदिकानि कर्माणि, गुणत्वेन देवताश्रुतेः । अन्वय-व्यतिरेकमूलतां चात्रेच्छन्ति, दृश्यते पशुवधोपयाचितकेन फलसम्पत्तिरिति मन्यमानाः । अतो न वेदमूलता । अन्वयव्यतिरेकावपि भ्रान्तिमात्रम् । असकृद्व्यभिचारात् । अतोऽयं श्लोको न्यायप्राप्तार्थानुवाद एव सौहार्दाचार्येण पठितः ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा तु सर्वथात्यन्तोत्कटरागता पशुभक्षणे भवति तदापि प्रकारेण तदाकांक्षा निवर्तनीया, नतु पशुहिंसा युक्तेत्याह कुर्यादिति । घृतपशुघृतविकारः पशुमांसतुल्यरूपत्वात्पशुः । एवं पिष्टपशुः । संगेऽत्यन्तेच्छायां । भूताद्यभिभवः संग इति तु केचित्-तत्तु न लोकप्रसिद्धमिति हेयमेव ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । सङ्गे आसक्तौ पशुभक्षणानुरागेण घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादयेत् न पुनर्देवताद्युद्देशं विनैव पशून्कदाचिदपि हन्तुमिच्छेत् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । घृतपशुं घृतमयीं पशुप्रतिकृतिं । संगे पशुबलिप्रसक्तौ आसक्त्या भोजने रागप्रसक्तौ वा आवश्यकस्मार्ते कर्माणि वा नतु वैदिके कर्मणि, घृतपशवादावेकादशा-वदानवाधापत्तेः । 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवध' इत्युक्तम् ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । हिंसामविधिना न कुर्यादित्याह कुर्यादिति । सङ्गे संगत उत्सवादिनिमित्ते ज्ञात्यादिसमवाय इति यावद्घृतपशुमुपाकुर्यात् । पशुस्थाने प्रभूतं घृतं पिष्टमपूपपादिकं च दद्यादिति ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । घृतपशुं सङ्गे आसक्तौ कुर्यात् । पिष्टपशुं तथा कुर्यात् । वृथा पशुं हन्तुं कदाचन नेच्छेत् ॥ ३७ ॥

(७) मणिरामः । संगे आसक्तौ पशुभक्षणानुरागे इति यावत् । घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशु प्रतिकृतिं कृत्वा खादयेत् न पुनर्वृथा पशून् हन्तुमिच्छेत् ॥ ३७ ॥

(८) गोविन्दराजः । कुर्यादिति । सङ्गे भूतादिदोषेण शरीराद्यवसादे सति तद्विनाशनार्थं घृतमयीं वा पशुप्रतिकृतिमुपहरेत् न पुनर्देवाद्युद्देशमन्तरेणैव पशुं हन्तुं कदाचिदपि इच्छेत् ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वेह मारणम् ॥

वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । तावतीर्जन्मनामावृत्तीर्मारणं प्राप्नोति वृथापशुघ्नः श्रुतिस्मृत्योरचोदितं पशुवधं यः करोति । तच्च प्रकरणान्महानवम्यादिषु लौकिकैर्यत्क्रियते । 'पशुघ्न' इति कप्रत्यये छान्दसं रूपम् ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तावत्कृत्वस्तावत्संख्यान्वारान् । वृथा उपाकरणादन्यत्र पशुघ्नः ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । देवताद्युद्देशमन्तरेणात्मार्थे यः पशून्हन्ति स वृथापशुघ्नो मृतः सन्यावत्संख्यानि पशुरोमाणि तावत्संख्याभूतं जन्मनि जन्मनि मारणं प्राप्नोति तस्माद्वृथा पशुं न हन्यात् । तावत्कृत्व इति वत्त्वंतात् क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वमुच्प्रत्ययः इह हश्चब्द-आगमप्रसिद्धिसूचनार्थः ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षे दण्डमाह यावन्तीति । अत्र हश्चब्दः प्रसिद्धार्थद्योती ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । तावत्कृत्वः तावतो वारान् हश्चब्दोऽनुकम्पायाम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृथापशुघ्नः पुरुषः इह लोके अधर्मान्मारणं कृत्वा यावन्ति पशुरोमाणि अष्टकोटिरोमाणि तावन्ति पशुप्रायतां प्रेत्य संप्राप्नोति जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मात् यावन्ति पशुरोमाणीति । वृथा उद्देशमन्तरेण यः पशुं हन्ति स मृतः सन् तस्य हतस्य पशोः सकाशात् [यावत्संख्यानि पशुरोमाणि] तत्संख्याकान् वारान् जन्मनि जन्मनि मारणं प्राप्नोति तस्मात् वृथा पशुं न हन्यात् । 'ह'श्चब्द आगमसूचकः ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥

यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । नायमनन्तरोक्तदोषः श्रुतिस्मृतिचोदिते वधे । यो वधो यज्ञा-ङ्गभूतस्तन्निवृत्त्यर्थमेव स्वयंभुवा प्रजापतिना पशवः सृष्टा उत्पादिताः । स्वयमेवेत्यर्थवादः । अस्य जगतो विश्वस्य । यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः । भूत्यै भूतिर्विभवः पुष्टिः स्फीतिः । तस्मात्तत्र यो वधः सोऽवधो विज्ञेयः । हिंसाजन्यस्य पापस्य निवृत्तिरेवमुच्यते ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र यज्ञार्थहनने कथं तादृग्दोषाभाव इत्याशंकांमपनयति यज्ञार्थमिति । लोकस्य भूत्यै जन्मने आहुत्या सूर्याप्यायनवृष्टिबीजपरंपरया शुक्रोत्पत्तौ माण्युत्पादात् । एतेनैकपशुहिंसयाऽनेकप्राणिनिस्तारात्तादृशदोषाभाव उक्तः ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । यज्ञार्थं तु पशुवधे न दोष इत्याह यज्ञार्थं पशव इति । यज्ञ-सिद्धयर्थं प्रजापतिनाऽऽत्मनैवादरेण पशवः सृष्टाः । 'यज्ञश्चाग्नौ प्रास्ताहुति'न्यायात्सर्वस्यास्य जगतो विवृद्धयर्थः । तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव, वधजन्यदोषाभावात् ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्य जगतो भूत्यै उद्भूत्यै । तथाच गीता (अ० ३।१४) 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः । अन्नाद्भवन्ति भूतानी'त्यादि ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । यज्ञार्थं पशुवधे न दोषोऽस्तीत्याह यज्ञार्थमिति । यज्ञे वधो वधकार्या-भावादवधः ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञः अस्य द्विजस्य सर्वस्य क्षत्रियादेः भूत्यै ऐश्वर्याय भवति तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव । पशोर्वध इति पाठः ॥ ३९ ॥

(७) मणिरामः । यज्ञार्थं पशुवधे दोषाभावमाह यज्ञार्थमिति ॥ ३९ ॥

(८) गोविन्दराजः । यज्ञार्थमिति । यज्ञसम्पत्त्यर्थं प्रजापतिना आत्मनैवादरेण पशवः सृष्टाः । यज्ञश्च “अग्नौ प्रास्ते”ति न्यायेनास्य जगतः भूत्यभिवृद्ध्यर्थं, तस्माद्यज्ञे यो वधः सोऽधर्माख्यवधकार्याभावादवध एव ॥ ३९ ॥

औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ॥

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिताः पुनः ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । “कथं पुनर्यज्ञे हिंसादोषो नास्ति ?” । उच्यते । हिंसा हिंस्यमानस्य महानपकारः । प्राणवियोगेन पुत्रदारधनविभवादिवियोगेन सर्वानर्थोत्पत्तेर्दुष्कृतस्य च समनन्तरं नरकादिफलविपाकस्य प्रत्यासत्तेः । यज्ञे तु हतानामुपकारः, नापकारः, नरकादिफलानुत्पत्तेः । यतो यज्ञे निधनं विनाशं गता उच्छ्रितास्तृक्पर्षं, जातितो देवगन्धर्वयोनिष्वं द्वीपान्तरेषूत्तरकुक्षप्रभृतिषु वर्षान्तरे वा जन्म प्राप्नुवन्ति । अर्थवादश्चायम् । न ह्यत्र विधिः श्रूयते, प्राप्नुवन्तीति वर्तमानोपदेशात् । न चार्थवादात्प्रतितिष्ठन्तीतिवद्विधिप्रतिपत्तिर्युक्ता । विध्यन्तरस्याभावादसम्भवाच्च । सर्वोऽयमविधिमांसभक्षणप्रतिषेधशेषः । ऐहलोकसंपाद्यतयाऽप्ययं प्रतिषेधो “न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेदिति” । यच्चाभ्यनुज्ञानं “यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः ।” इति तत्सर्वं भक्षणप्रतिषेधतया प्रतीयते । तथा च वक्ष्यति “नाकृत्वा प्राणिनां हिंसाम्” इत्यादि । न चात्र विधेरस्ति सम्भवः । न तिरश्चामधिकारः सम्भवति, विशेषविज्ञानाभावात् । न चानधिकृतस्य कर्तुत्वम् । नाप्यकर्तृत्वे शास्त्रीयात्कर्मणः फलोत्पत्तिः । न ह्यत्र दृष्टवस्तुस्वाभाव्येन फलोत्पत्तिः । यथा विषमविदुषोऽपि पीतवतो जनयत्येव स्वफलम् । नैवं वैदिकार्थाः । अचैतन्याच्चौषधादीनामृत्विङ्गन्यायोऽपि नास्ति । दृष्टं किल कुतश्चन कर्मणः परप्रयुक्तादप्यृत्विजां फलम् “यः कामयेत पापीयान् स्यात्” इत्यादि । तत्र विध्यन्तरशेषत्वाभावात्स्पष्टत्वाच्च विधिप्रतिपत्तेर्मनुष्याधिकारत्वाच्च शास्त्रस्य युक्तोऽङ्गव्यापारसमाश्रितो वाचनिकस्तावन्मात्रोऽधिकारः । यथा परकीयाश्वमेधावभृथे ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । इह त्वधिकार एव नास्तीत्युक्तम् । औषध्यो दर्भादयः । पशवश्छागादयः । वृक्षाः पूज्याः । तिर्यञ्चोऽपशवोऽपि ‘पशवः’ येषां हविष्येन चोदना “कपिञ्जलानालभेत” इति । भारप्रवहणादनङ्वाहस्तिर्यञ्चो वाजपेयादौ तिर्यञ्च इति व्यपदिश्यन्ते । यद्यपि तेषां तत्र निधनं नास्ति तथापि यावती च पीडा विद्यत इति सा निधनशब्देन लक्ष्यते । पक्षिणः कपिञ्जलादयः । यद्यपि ते पशुत्वेन चोच्यन्ते । अप्रसिद्धतरप्रयोगस्तु “सप्तग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः” इति । गवादयोऽपक्षिणः चतुष्पाज्जातिवचनः पशुशब्दः । गोबलीवर्दवद्वा भेदो द्रष्टव्यः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाच वध्यस्याप्युपकारो भवेदित्याह औषध्य इति । पशवश्छागाः । तिर्यञ्चस्ततोऽन्ये चतुष्पदाः । उच्छ्रितास्तृक्पर्षाः ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । किञ्च औषध्य इति । औषध्यो व्रीहियवाद्याः पशवश्छागाद्याः वृक्षा यूपाद्यर्थाः तिर्यञ्चः कूर्मादयः । पक्षिणः कपिञ्जलाद्याः । यज्ञार्थं विनाशं गताः पुनर्जात्युत्कर्षं प्राप्नुवन्ति ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । ननु कथमवधस्तत्राह ओषध्य इति । तिर्यञ्चो गोकूर्मादयः । उच्छ्रितोर्जात्युत्कर्ष । न वधो ह्यनुपकाराय पश्वादेरयमुपकारक इत्यवध इति भावः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । यज्ञार्थे वधे न केवलं यजमानस्यैवाभ्युदयः किंतु पश्वादीनामपीत्याह ओषध्य इति । उच्छ्रितोः उच्छ्रयानभ्युदयानिति यावत् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । तिर्यञ्चः तिर्यग्योनयो यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः उच्छ्रितोः उत्कृष्टजातीः उत्कृष्टजातित्वं प्राप्नुवन्ति ॥ ४० ॥

(७) मणिरामः । उच्छ्रितोः जात्युत्कर्षम् ॥ ४०-४१ ॥

(८) गोविन्दराजः । ओषध्य इति । ओषध्यो दर्भाद्याः । पशवः छागादयः । वृक्षाः प्लक्षाद्याः तिर्यञ्चः कूर्मादयः । पक्षिणः कपिञ्जलाद्याः यज्ञार्थं विनाशं प्राप्ताः ते तमधर्माजितं निकर्षं हित्वा पुनः आत्मज्ञानाधिकृतशरीरलाभेनोत्कर्षान् प्राप्नुवन्ति ॥ ४० ॥

मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदेवतकर्मणि ॥

अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । यावत्यः काश्चिच्छास्त्रचोदितहिंसास्ताः संक्षिप्य दर्शयति । मधुपर्को व्याख्यातः । तत्र गोवधो विहितः । यज्ञो ज्योतिष्टोमादिस्तत्र संस्थैकादशिन्यादि । पशुवधो निरूढपशुवधादिः स्वतन्त्रम् । एवं च पितृदेवतं पितरो देवता यस्मिन्कर्मण्यष्टकादौ, न तु श्राद्धम् । तद्धि सिद्धेन मांसेन विहितम् । न च पशुवधश्चोदितः । न चेदमेव विधायकं युक्तम्, उत्पत्तौ श्राद्धस्य हिंसाया अचोदितत्वात् । अस्य च विस्पष्टविधानादष्टकापशुवधेनापि नेतुं शक्यत्वाद्विधित्वे चास्य मूलकल्पनाप्रसङ्गाद्विध्यन्तरशेषतायाश्च वक्ष्यमाणत्वात् । येषां तु मतं पितृणां देवतानां च कर्म, महायज्ञादि । ब्राह्मणैर्वध्या 'भृत्यानां चैव वृत्यर्थम्' आपदि पशुहिंसनमप्राप्तं प्राणात्ययेऽभ्यनुज्ञायते ॥ ४१-४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपसंहरति मधुपर्कं चेति । यज्ञे पशुबन्धसौत्रामणीसोमेषु । पितृकर्मण्यष्टकायां । देवतकर्मणि आश्वलायनगृह्याद्युक्तपशुकल्पे 'अत्रैव ब्राह्मणेन हिंस्या' इत्येवकारेण व्यवच्छिद्यापि नान्यत्रेति पुनर्वदन्नभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इति न्यायेन निमित्तान्तरेण पार्वणादावपि हिंसायाऽतिशयितप्रयवायहेतुतां दर्शयति ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । 'समांसो मधुपर्क' इति विधानान्मधुपर्कं च यज्ञे च ज्योतिष्टोमादौ पितृदेवै च कर्मणि श्राद्धादौ पशवो हिंसनीया नान्यत्रेति मनुर्बहिहितवान् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । हिंसास्थलं गणयति मध्विति । अत्रैवेति । तथाच श्रुतिः— 'न हिंस्यात्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । त्रिष्वेव पशुवध इत्याह मध्विति । पितृदेवत्यं कर्म श्राद्धम् ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अत्र मधुपर्कं पशुवधः सत्ययुगपरो ज्ञेयः ॥ ४१ ॥

(८) गोविन्दराजः । मधुपर्कं चेति । राजर्त्विक्स्नातकेत्येवमादिनोदिते गृह्योक्त-
स्वरूपे मधुपर्के यज्ञे च ज्योतिष्टोमादौ पितृये दैवे च कर्मण्येव पशवो हिंसनीयाः नान्यत्रेत्येवं
मनुस्मृतवान् ॥ ४१ ॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ॥

आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदतत्त्वार्थविदिति । वेदस्य तात्त्विकं तात्पर्यविषयमर्थं यदि
जानाति यदि तत्कर्म साङ्गं करोति यावत् । गमयत्युत्तमां गतिमत उपकाराधिक्याददोष
इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषु मधुपर्कादिषु पदार्थेषु पशून् हिंसन्नात्मानं पशुं चोत्तमां
गतिं स्वर्गाद्युपभोगयोग्यविलक्षणदेहदेशादिसंबन्धं मापयति । वेदतत्त्वार्थविदिति । विद्व-
दधिकारबोधनार्थम् । नन्वन्याधिकारिके कर्मणि कथमनधिकृतस्य पशवादुरुत्तमगतिप्राप्तिः
फलं ? उच्यते— शास्त्रप्रमाणकत्वात् अस्यार्थस्य पितृधिकारिकायां जातेष्टावनधिकारि-
णोऽपि पुत्रस्य फलप्राप्तिवदिहापि पशवादिगतफलसंभवाद्यजमान एव कारुणिकतया पशु-
गतफलविशिष्टमेव फलं कामयिष्यति । अत एव 'आत्मानं च पशुं चैव'त्यभिधानात् यजमान-
व्यापारादेव पशुगतफलसिद्धिरुक्ता ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह एष्विति । 'आत्मनः स्वर्गकामो यजेत' 'वायव्यं
श्वेतमालभेते'ति श्रुतेः । पशूंश्चेति 'यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता' इत्युक्तम् ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एष्वर्थेषु मधुपर्कादिषु पशून् हिंसन्स द्विज आत्मानं पशूंश्चोत्तमां
गतिं गमयति प्रापयति ॥ ४२ ॥

(७) मणिरामः । एष्वर्थेषु मधुपर्कादिषु उत्तरां उत्तमाम् ॥ ४२ ॥

(८) गोविन्दराजः । एष्विति । प[पा]रमार्थिकवेदार्थज्ञो द्विज एतेषु मधुपर्कादिषु
पदार्थेषु पशून् हिंसन् आत्मानं तांश्च पशून् उत्तमां गतिं स्वर्गादौ विचित्रशरीरसंबन्धं
प्रापयति । न चान्यत्रान्यदीयकर्मणः कथमन्यस्य फलप्राप्तिरिति नोदनीय[म्], शब्दप्रमाण-
कोऽर्थो यत्शब्दो बोध्यति तत् तथैव प्रतिपादनीयम् । अन्यथा शब्दप्रमाणकधर्मार्थफल-
लाभेऽपि क आश्वासः । पशुसंज्जव[संज्ञपत्]मन्त्रमध्ये वेद आम्नायते—“न वा उ वेता-
न्म्रियसे न रिष्यसि । देवाँ इदेपि पथिभिः सुगेभिः” इति । पशुं किल होता एवमाह । न त्वै
[वै] त्वं म्रियसे नापि रिष्यसि हिंस्यसे । किं तर्हि ? सुगैः निकृष्टयोनिव्यवधानशून्यैः मार्गै [गै]
देवानेपि स्वर्गं प्राप्नोषीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः ॥

नावेदविहिता हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अवेदविहितहिंसाप्रतिषेधोऽयम् । न च वेदविहिताऽभ्यनुज्ञायते ।
“न च गुरौ वसतो ब्रह्मचारिणोऽरण्ये च तपस्यतोऽन्या काचिकिसाऽस्ति । अवकीर्णिनो

ब्रह्मचारिणः स्यादपि । वानप्रस्थस्य तु नैवास्ति । ब्रह्मचारिणोऽप्यात्मोपेक्षणं नैवेष्यते । अतोऽयं विधिरेव श्राद्धे । गृह इत्यनुवाद एव ।” यदि चायं विधिः स्यात् — ‘अरण्ये’ ‘आपद्यपीति’ किमालम्बनमेतत्स्यात् । न च वानप्रस्थस्य साग्निकस्यापि पशुयागोऽस्ति “पुरोडाशाश्चरुंश्चैव” इत्यत्र दर्शयिष्याम इति केचित् ।

उपाध्यायस्त्वाह । युक्तं ब्रह्मचारिणः । वानप्रस्थस्य तु “अपराजितां वाऽऽस्थाय” इत्यादिनाऽऽत्मत्यागोऽपि विहितस्तस्य नास्ति जीवितार्था हिंसेति स्फुटतरं तत्रैव निरूपयिष्यते (६।३१) । “ननु चापद्ययं प्रतिषेध उच्यते । तत्कुतस्तत्रैवानुज्ञानं व्याख्यायते ?” । सत्यम् । अन्यथा न किंचिदनेन कृतं स्यात् । अर्थवादादर्थमिति चेदर्थवादस्याप्यालम्बन-मन्वेषणीयम् । अतोऽनापद्ययं प्रतिषेधो, विधिश्चापद्यविरुद्धः । बहुभेदादापदाम्, अल्पीय-स्यामापदि मासिकमर्धमासिकं वा भोजनं भविष्यतीति बुद्ध्या प्रवृत्तिर्निषिध्यते । यदा त्वेषा बुद्धिरधुनैवानशनन्न जीवामि यदा वाऽभिमुखागत उद्यतशस्त्र आततायी तदाऽऽपद्यनुज्ञा । एवं ‘सर्वत एवात्मानं गोपायेदि’ति श्रुतिरनुगृहीता भवति ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहे गार्हस्थ्ये । गुरौ ब्रह्मचर्ये । अरण्ये वनस्थत्वभिधुत्वयोः । एतेन यथा ब्रह्मचार्यादीनां हिंसा दोषस्तादृगेव गृहिणोऽपीत्युक्तम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहाश्रमे ब्रह्मचर्याश्रमे वानप्रस्थाश्रमे च प्रशस्तात्मा द्विजो निवसन्नापद्यपि नाशास्त्रीयां हिंसां समाचरेत् ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । गृह इत्यादि त्रयमाश्रमत्रयसंग्राहकम् । ब्रह्मचारिगृहस्थयोः स्वतो मांसाभोजित्वेऽपि गुर्वाद्यर्थहिंसासंभवात् ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । गृहे गृहाश्रमे । गुरौ ब्रह्मचर्याश्रमे । अरण्ये वानप्रस्थाश्रमे ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मवान् यत्नवान् द्विजः अवेदविहितां हिंसां न समाचरेत् । गृहे गृहस्थाश्रमे । गुरौ ब्रह्मचर्याश्रमे । अरण्ये वानप्रस्थाश्रम इति । ब्रह्मचारिवनस्थ-साहचर्याद्गृहस्थस्यापि हिंसायां दोषः ॥ ४३ ॥

(७) मणिरामः । गृहे गृहस्थाश्रमे, गुरौ ब्रह्मचर्याश्रमे अरण्ये वानप्रस्थाश्रमे ॥ ४३ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवं चान्यत्र स्वपरोपकार[रा]भावात् गृह इति । गृहस्थ-वानप्रस्थब्रह्मचारिभिक्षवस्थः प्रशस्तात्मो द्विजः आपद्यपि अशास्त्रीयां हिंसां नाचरेत् ॥ ४३ ॥

या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ॥

अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदविहितो यः प्राणिवधः सोऽस्मिञ्जगति चराचरे स्थावर-जङ्गमे नित्योऽनादिः । यस्तु तन्त्रादिः सोऽन्वयव्यतिरेकभ्रान्त्या इदानींतनः । अतो वैदिकीं हिंसामहिंसामेव विद्यात्, अमुत्र प्रत्यवायाभावात् । अहिंसेति कार्यत उच्यते, न स्वरूपतः ।

“ननु च सैव हिंसारूपा, अभेदात्; कथं कार्यो भेदः?” उच्यते । वेदाद्धर्मो हि निर्बन्धौ । धर्मस्याधर्मस्य च यत्कथनं तद्वेदादेव, पौरुषेयाणामप्रामाण्यात् । वेदश्च तस्या एवाभ्युदयहेतुत्वं क्वचित् ज्ञापयति । स्वरूपाभेदोऽपि नास्ति, क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वेन भेदादाशय-भेदेन प्रवृत्तेः । लौकिक्यां मांसीयतो द्विषाणस्य वा प्रवृत्तिः, वैदिक्यां तु शास्त्रेण चोदितमिदं क्रत्वर्थमिति । निर्बन्धौ निःशेषेण भातः, प्रकाशतां गत इति यावत् ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियता सर्वैरनुष्ठीयमाना । अहिंसामेव तां तामेवाहिंसां अहिंसासाम्याभिधाने एवकारस्यानुपयोगात् । निर्बन्धौ प्रकाशं गतः ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कथं तर्हि तुल्ये हिंसात्वे वैदिकी दैक्षादिपशुहिंसा नाधर्मायेत्यत आह या वेदविहितेति । या श्रुतिविहिता कर्मविशेषदेशकालादिनियताऽस्मिञ्जगति स्थावरजङ्गमात्मन्यहिंसामेव तां जानीयात् हिंसाजन्याधर्मविरहात् । दैक्षपशुहननमधर्मः प्राणिहननत्वात् ब्राह्मणहननवत्, इत्याद्यनुमानमुपजीव्यशास्त्रवाधादेव न प्रवर्तते दृष्टान्तीकृतब्राह्मणहननस्याप्यधर्मत्वे शास्त्रमेवोपजीव्यम् । वेदाद्धर्मो हि निर्बन्धौ यस्मादनन्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च वेदविहिता हिंसा न हिंसेत्याह येति त्रिभिः । हिंसातोऽधर्मो यथा वेदप्रमाणकस्तथा यज्ञे हिंसा, अतो धर्मस्तत्प्रमाणक इति भावः । ‘कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धीति स्मृतेः ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । वेदाद्धर्मो हि निर्बन्धौ न प्रमाणान्तरात् । तेन वेदविहितहिंसा हिंसात्वेन वक्तुं न युक्तेत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्मिञ्चराचरे या वेदविहिता हिंसा विध्युक्ता हिंसा तां हिंसा-महिंसामेव विद्याज्जानीयात् । धर्मो वेदान्निर्बन्धौ नितरां बन्धौ, प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(७) मणिरामः । अस्मिन् जगति चराचरे स्थावरजङ्गमात्मनि । वेदाद्धर्मो हि निर्बन्धौ यस्मादन्यप्रमाणनिरपेक्षो धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः ॥ ४४ ॥

(८) गोविन्दराजः । कथं पुनस्तुल्ये प्राणिव्यापादने लौकिक्या अधर्मः शास्त्रीयाया धर्म इत्यत आह येति । या शास्त्रनोदिता हिंसा स्थावरजङ्गमेऽस्मिन् जगति अनादिकाल-प्रवृत्तां तां हिंसाकार्याभावादहिंसामेव विद्यात् । अतो नान्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निर्बन्धौ प्रकाशतां गतः । एवं च नात्र कुतार्किकवितर्का आक्रमन्ते ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ॥

स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

(९) सेधातिथिः । अकारोऽत्र प्रतिषेधार्थीयः प्रश्लिष्टः द्रष्टव्यः । अहिंसकानां च प्रतिषेधात्सर्वव्याघ्रादीनामप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अहिंसकान्यनपकारिणीत्यपकारिवधे दोषाल्पतोक्ता । आत्मसुखेच्छया आत्ममात्रसुखार्थं नान्येषां वध्यस्य चोपकाराय ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । योजुपघातकान्प्राणिनो हरिणादीनात्मसुखेच्छया मारयति स इह-लोके परलोके च न सुखेन वर्धते ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । अहिंसकानि मृगमीनादीनि । न क्वचिदिहामुत्र पूर्वकृतहिंसा दुरदृष्टवशादिहापि ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । अहिंसकानीति विशेषणाद् व्याघ्रादिहिंसायां दोषमात्रं सूचितम् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यान्याहिंसकानि भूतानि तानि य आत्मसुखेच्छया हिनस्ति स जीवन्सन्मृतसंज्ञः, जीवन्मृतक इत्यर्थः । क्वचित्कस्मिंश्चिल्लोके सुखं नैधते न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

(७) मणिरामः । हिंसादोषमाह योऽहिंसकानीति । अहिंसकान् हरिणादीन् ॥ ४५ ॥

(८) गोविन्दराजः । योऽहिंसकानीति । योजुपघातकान् प्राणिनो हरिणादीन् आत्मसुखाभिलाषेण हिनस्ति स इहलोके परलोके न कदाचित् सुखं वर्धते ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ॥

स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । बन्धनवधा एव क्लेशाः । अथवा विशसनदयः । तान्यो न कर्तुमिच्छति, विशसनमेव येन न कृतम्, तद्विषयेच्छैव यस्य निवृत्ता । न केवलं पीडां न करोति, यावद्विषं प्रेप्सितुमिच्छति सर्वस्य, स सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न चिकीर्षत्येतादृक्संकल्पोत्पादनेन ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । यो बन्धनमारणक्लेशादीन्प्राणिनां कर्तुं नेच्छति स सर्वहितप्राप्तीच्छुरन्तसुखं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । अहिंसकस्य गुणानाह य इति द्वाभ्याम् । बन्धनवधाभ्यां यः क्लेशस्तं । अत्यन्तं कल्पस्थायि ॥ ४६ ॥

(७) मणिरामः । अहिंसागुणमाह द्वाभ्याम् यो बन्धनेति ॥ ४६ ॥

(८) गोविन्दराजः । यो बन्धनवधक्लेशानिति । यो बन्धनवधत्रासादीन् प्राणिनां कर्तुं नेच्छति स सर्वस्य हितात्प्रापणेच्छाशीलोजन्तं सुखं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

यद्वचायति यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र च ॥

तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । यच्चिन्तयति शुल्कमर्हणादि । यत्र च रतिमभिलाषं बध्नात्यभिप्रेत्यवस्तुनि । तदयत्नेन स्वल्पेनैव कालेनावान्नोति । यत्तु कुरुते कर्मणा तत्कर्मनिष्पत्ति-समनन्तरमेवाविघ्नेन प्राप्नोति ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ध्यायति चिन्तयति । रतिमिच्छाम् ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्यच्च यद्ध्यायतीति । यच्चिन्तयति धर्मादिकमिदं मेऽस्त्विति यच्च श्रेयःसाधनं कर्म करोति यत्र च परमार्थध्यानादौ धृतिं बध्नाति तत्सर्वमक्लेशेन लभते । य उपघातनिमित्तं दंशमशकाद्यपि न व्यापादयति ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवं किंतु सत्यसंकल्पः स्यादित्याह यद्ध्यायतीत्यादि । अप्रतिबद्धं तस्य कर्म फलतीति भावः । रतिर्विजिगीषा तेन वाचिकं कर्म लक्ष्यते ॥ ४७ ॥

(८) गोविन्दराजः । यद्ध्यायतीति यश्चि (च्चि)न्तयति भगवदीश्वराराधनादि, यद्वा कुरुते हरिहरचरणनमस्कारादि, यत्र वा भवभक्तिभावनादौ रतिं बध्नाति तत्सर्वमयत्नेन प्राप्नोति य आतताय्यादीनपि प्राणिनो न हिनस्ति ॥ ४७ ॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ॥

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वस्य हिंसाप्रतिषेधश्लोकसङ्घातस्य मांसभक्षणशेषतां दर्शयति । यावत्प्राणिनो न हतास्तावन्मांसं नोत्पद्यते । हिंसा चातिशयेन दुःखावहा । तस्मान्मांसं विवर्जयेत् । “ननु च स्वयं मृतानां भवत्येव मांसं किमिदमुच्यते ‘नाकृत्वेति’ ” । अर्थवादोऽयम् । स्वयं मृतानां च मांसं रोगहेतुत्वादप्राप्तमेव । न ह्यदत्त्वा मांसं भक्ष्यते । न च रोगहेतोर्दानमस्ति । उत्पद्यत इति मांसस्य हिंसानिमित्तत्वात्कर्तृव्यपदेशे समानकर्तृकत्वं भवत्येवाविरुद्धम् । अथ वोत्पद्यत इति न च स्वर्ग्यं इति । न स्वर्गानुत्पत्तिहेतुमात्रमभिप्रेतमपि तु नरकादिदुःखहेतुत्वम् ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं प्रपञ्चेन मांसभक्षणे तद्भक्षणदोषो हिंसादोषश्चेति दर्शितम् । तत्र स्वयं हिंसामकृत्वा क्रीतस्य लब्धस्य वा मांसस्य भक्षणेऽपि हिंसादोषोऽस्तीत्याह नाकृत्वेति । क्रीतलब्धादौ साक्षादहननेऽपि केतुग्रहीत्वुद्देशेन हननादस्ति हिंसादोष इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । मांसभक्षणप्रसङ्गेन हिंसागुणदोषावभिधाय पुनः प्रकृतमांसाभक्षणमाह नाकृत्वेति । प्राणिहिंसाव्यतिरेकेण न क्वचिन्मांसमुत्पद्यते प्राणिवधश्च न स्वर्गनिमित्तं नरकहेतुरेव, यस्मात्तस्मादविधिना मांसं न भक्षयेदिति ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणिप्रसूतस्यैव मांसत्वमित्याह नेति । मांसमविधिसंपादितं वर्जयेत् न भक्षयेत् ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । पुनरपि मांसभक्षणवर्जनमेवोपक्रम्याह नाकृत्वेति । स्वर्ग्यः स्वर्गाय हितः ॥ ४८ ॥

(७) मणिरामः । मांसाभक्षणमाह नाकृत्वेति ॥ ४८-४९ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवं मांसभक्षणप्रसङ्गेन गुणदोषानभिधायान्धुना प्रकृत-
मनुसर्तुमाह नाकृत्वेति । प्राणिहिंसामन्तरेण न क्वचिन्मांसमुत्पद्यते । प्राणिवधश्च स्वर्ग-
निमित्तं न भवति, प्रत्युत नरकादिहेतुः तस्मादविधिना मांसभक्षणं वर्जयेत् ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ॥

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । अशुचिस्थाने कुक्षौ गर्भवृद्धिः, शुक्रशोणिताभ्यां वाऽशुचिभ्यां
प्रभवः । तथा वधबन्धौ शरीरवतां तत्कृतौ । एतत्सर्वं प्रसमीक्ष्य निपुणबुद्ध्या तत्त्वतो
निरूप्य । निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्सर्वस्याप्रतिषिद्धस्यापि, किं पुनः प्रतिषिद्धस्य ।
अर्थवादोऽयम् । न पुनस्तत्त्वतः अशुच्येव मांसं ज्ञेयम् । न हि तदशुचित्वविधिपरं
वाक्यम् ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समुत्पत्तिं शुक्रशोणितप्रभवतया कुत्सिताम् । वधबन्धौ
परलोकविरुद्धौ ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । शुक्रशोणितपरिणामात्मिकां समुत्पत्तिं घृणाकरीं विज्ञाय प्राणिनां
वधबन्धौ च क्रूरकर्मरूपौ निरूप्य विहितमांसभक्षणादपि निवर्तेत किमुताविहितमांसभक्षणा-
दित्यविधिना मांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । मांसभक्षितारं धिगस्त्वित्याह समिति । समुत्पत्तिं शुक्रशोणित-
परिणामत्वाज्जुगुप्सितं प्रेक्ष्य । मेषविशेषस्य बन्धनं कृत्वा मांसं गृह्यते न श्रियते स
इत्यपि ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । समुत्पत्तिर्मातापितोः शोणितशुक्राभ्यां विष्णून्नादिभिर्दूषिते कुक्षौ
संभवः ॥ ४९ ॥

(८) गोविन्दराजः । समुत्पत्तिं चेति । शुक्रशोणिताभ्यां चिकित्सकोत्पादनाग्रे-
सराभ्यां समुत्पत्तिं मारणकाले च सकलक्रूरकर्माग्निभूतौ वधबन्धौ पर्यालोच्य विहितमांस-
भक्षणादपि निवर्तेत ॥ ४९ ॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ॥

स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । विधिर्देवार्चनं तद्धित्वा यो न भक्षयति । किं तर्हि ? विधिना
भक्षयति । स लोकस्य प्रियतां प्राप्नोति प्रियः सर्वस्य भवति । व्याधिभिश्च कृशदुर्बला-
देर्मांसमश्नतो व्याधिरुपजायते । तेनापि विधिनैवाशितव्यम् । तथा भक्षयन् व्याधिभिश्च
न पीड्यते । अन्यथा अश्नन्नपि मांसं पीड्यत एव व्याधिभिः । पिशाचवदिति पिशाचा-
स्तिर्यग्जातिविशेषास्ते विधिमनपेक्ष्य मांसमश्नन्ति । ततोऽन्योऽपि तथा भक्षयन्पिशाचसदृशो
भवतीति निन्द्यते ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वमांसस्याभक्ष्यत्वेनोक्तस्यापि पिशाचवदिति विधिहानौ दृष्टान्तः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तविधिव्यतिरेकेण यो न मांसं भक्षयति । पिशाचवदिति । यथा पिशाचो भक्षयति तथा नेति व्यतिरेके दृष्टान्तः । स लोकस्य प्रियो भवति रोगैश्च न बाध्यते । तस्मादवैधमांसभक्षणाद्व्याघयो भवन्तीति दर्शितम् ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । मांसाभक्षणमलंकरोति नेति । पिशाचवदिति व्यतिरेकेण दृष्टान्तः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । पिशाचवद्विधिं हित्वेत्यन्वयः ॥ ५० ॥

(७) मणिरामः । अभक्षणे फलमाह न भक्षयतीति ॥ ५० ॥

(८) गोविन्दराजः । किमुताविहितमांसभक्षणादित्यविहितमांसभक्षणनिन्दार्थमाह न भक्षयतीति । यो देवाद्यर्चनादिविधिपरित्यागेन पिशाचवन्मांसं न भक्षयति स सर्वलोकप्रियो भवति । व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ॥

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्येन हन्यमानं स्वप्रयोजनतो यद्यन्योऽनुमोदते साध्वयं हन्ता करोतीत्यनुमन्ता । विशसिता हतस्याङ्गविभागकारः । उपहर्ता परिवेषकः । खादक इत्येते सर्वे घातकाः । अघातकेषु खादनसंस्कारविक्रयादिकर्तृषु घातकत्वेऽध्यारोपिते निन्दा, न पुनस्तत्त्वत एते घातका एव । लौकिकी हि वधक्रिया प्राणत्यागफला । तस्य कर्ता 'घातकः' स्मृतितो गम्यते । 'स्वतंत्रः कर्तेति' विशेषशास्त्रादिना यः प्राणवियोजनं प्राणिनां करोति स हन्तोच्यते । क्रयविक्रयाद्याश्च क्रियास्ततोऽन्या एव ।

“ननु चेयमपि स्मृतिरेव । एते अनुमन्तृप्रभृतयो घातका इति ।” नेदं शब्दार्थसम्बन्धे प्रमाणम् । किं तर्हि ? धर्माधर्मयोः । अभियुक्ततरो हि तत्रभवान्प्राणिनिः । मन्वादयश्च लोकप्रसिद्धैः पदार्थैर्व्यवहरन्ति, न शब्दार्थसम्बन्धविधिं स्मरन्ति । प्रयोक्तारो ह्येते न स्मर्तारः ।

“ननु च 'तमाचार्यं प्रचक्षते' इत्यादेः स्मरन्त्येते ।” सत्यम् । न तत्र शास्त्रस्मृतिविरोधः । न च तेषां वाक्यानामन्यत्प्रयोजनमस्ति । इह तु गौणेनापि प्रयोजनेनार्थवादतयाऽप्युपपत्तेर्न घातकत्वं शक्यमवसातुम् ।

येऽप्याहुः—“भक्षकश्चेन्न विद्यते वधकोऽपि न विद्यते इति भक्षणप्रयुक्त एवं वधः, प्रयोजकश्च कर्ता स्मर्यते । ततो मुख्यमेव घातकत्वम् । अतो घातकप्रायश्चित्तमेव खादकस्य युक्तमिति ।” तदयुक्तमिति ब्रूमः । पृथक्प्रायश्चित्तं हतानां रसास्वादकस्य “जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च” (११।१५२) इति ।

यदपि प्रयोजकत्वेन कर्तृत्वमुक्तं तदपि नैवास्ति । इदं हि तस्य लक्षणम्—‘प्रेषणाध्येष-
णाभ्यां तु यः स्वतन्त्रस्य चोदकः । स कर्ता चैव हेतुश्च मुख्यो नोपचरन् पर’ इति । वधको
हि जीवनप्रयुक्त्या प्रवर्तते ‘मांसविक्रयेण जीविष्यामीति’, न तु खादकेन विनियुज्यते ।

अथ “तत्समर्थाचरणं प्रयोजकत्वम् । योऽयं क्रियां कर्तुमध्यवसितस्तत्तानुकूल्येन यः
संविधित्सुः स प्रयोजक इति” । एतदप्यत्र नैवास्ति । साधनोपनिधानम्, तसतः पशोरस्वत-
न्त्राकरणम्, खड्गोपनयनमित्येवं ‘संविधान’शब्दवाच्यं युक्तम् । तेन विना क्रिया न
निष्पद्यते ।

अथ “यदर्थः क्रियारम्भः स प्रयोजकश्चेति” चेन्माणवकमध्यापयतीत्यध्यापनहेतु-
कर्तृसंज्ञाप्रतिलम्भो, न ह्यध्ययनमध्यापयत्यर्थः । न चासौ कंचिदुद्दिश्य हनने प्रवर्तते ।
येनास्य तदर्थनिरूपणाय भक्षणोऽनर्था प्रवृत्तिः स्यात् । सर्वे इमे स्वभूत्यै यतन्ते । न केन
कश्चित्परोऽनुग्रहीतव्य इति मुहूर्तमप्यवतिष्ठत इत्यपूर्णकामः ।

“अथ स्वार्थं प्रवृत्तस्य भक्षयितारमन्तरेण प्रवृत्तिरनर्धिका । तस्मिंस्तु सति फलवती ।
फलं च प्रयोजकम् । तच्च खादकाधीनमिति पारम्पर्येण खादकः प्रयोजक इति” । एवं
तर्हि यो द्वेषाद्वध्यते स हन्तुः प्रयोजकः स्यात् । ततश्च हन्यमान एव ‘हन्ता’ सम्पद्यते । न
हि द्वेषेण विना हन्तृत्वोपपत्तिरिति । तथा ब्रह्महत्यायामपि सर्वस्वदानं पातकसम्प्रयोजकम् ।
न हि प्रतिग्राहयितारमन्तरेण प्रतिग्रहोपपत्तिस्ततश्च प्रतिग्राही न केवलं प्रत्यवेयादपि तु
दाताऽपि । रूपवती च स्त्री स्मरशरदह्यमानहृदयेन रागिणा दक्षितस्पृहातिशयेन शीलं
रक्षन्ती प्रत्यवेयात् । तस्मान्नेदं प्रयोजकलक्षणम् ।

तौ हि वधकखादकौ स्वार्थप्रवृत्तौ नष्टाश्वदग्धरथवदितरेतरोपकारमनुभवन्तौ, न पुनर-
न्यतरप्रयोजकौ । “शूद्रविट्क्षत्रविप्राणाम्” (८ । १०४) इत्यत्र श्लोके निपुणमेतन्निर्णीतम् ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । क्रीत्वा लब्ध्वा वा भक्षयितुरपि हिंसादोष इत्युक्तं तदुपपाद-
यन्भक्षणोचितव्यापारान्तरकरणेऽपि हिंसायां दोष इति दर्शयति अनुमन्तेति । अनुमन्ता
यदनुमत्या विना न वधः । विशसिता मांसविभागकारी । निहन्ता प्राणव्यापादकः ।
क्रयविक्रयीति क्रयाय परार्थं क्रेता विक्रेता परनिहतपशोर्मांसं क्रीत्वा तद्विक्रयणकारी ।
संस्कर्ता पाचकः । उपहर्ता परिवेषकः । खादको भक्षकः । एतैर्व्यापारैर्विना उद्देश्याभावाद्-
घातकोऽपि न घातयतीत्येतेऽपि हिंसका इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । यदनुमतियतिरेकेण हननं कर्तुं न शक्यते सोऽनुमन्ता । विशसिता
अङ्गानि यः कर्तव्यादिना पृथक्पृथक्करोति । क्रयविक्रयी मांसस्य क्रेता विक्रेता च । संस्कर्ता
पाचकः । उपहर्ता परिवेषकः । खादको भक्षयिता । गोविन्दराजस्तु यः क्रीत्वा विक्रीणाति
स क्रयविक्रयीत्येकमेवाह—तदयुक्तं “हननेन तथा हन्ता धनेन क्रायकस्तथा । विक्रयी तु
धनादानात्संस्कर्ता तत्प्रवर्तनादिति यमवचनेन पृथङ्निर्देशात् । घातकत्ववचनं चेदमशास्त्रीय-
पशुवधेऽनुमत्यादयोऽपि न कर्तव्या इत्येवंपरं विधिनिषेधपरत्वाच्छास्त्रस्य खादकादीनां
पृथक्प्रायश्चित्तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । नैतादृशं पापमस्ति यद्दृष्टौ ? दूषयतीत्याह अनुमन्तेति । सम्य-
ककृतमित्यनुमन्यते यः सोऽनुमन्ता । पश्वङ्गानि कर्तनादिना यः पृथक्पृथक्करोति स
विशसिता । संस्कर्ता पाचकः । उपहर्ता परिवेषकः ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । खादके हि सत्यनुमन्तादयो भवन्ति । तेन वधमकुर्वतोऽपि खादक-
स्यातो दोषो भूयान्भवति । तस्मान्न खादकः स्यादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनुमन्ता यदनुज्ञया हतः । विशसिता अवयवमांसविभागकर्ता
॥ ५१ ॥

(७) मणिरामः । घातकानाह अनुमन्तेति । यदाज्ञया विना हन्तुं न शक्यते स
अनुमन्ता । शस्त्रेण पशूनामङ्गकर्तको विशसिता । निहन्ता मारकः । क्रयविक्रयी । संस्कर्ता
पाचकः । उपहर्ता मांसस्याऽऽनयिता परिवेषकश्च । खादकः भक्षकः । यस्मादेते सर्वे घातकाः
तस्मादसंस्कृतपशुवधे अनुमत्यादयोऽपि न कर्तव्या इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनुमन्तेति । अन्येन हन्यमानमवलोक्य साध्वयं हन्ता करोतीति
योऽनुमोदते सोऽनुमन्ता । विशसिता अङ्गविभागकरो न हन्ता, (नाहन्ता) वधकः क्रयविक्रयी
क्रीत्वा विक्रीणीते, संस्कर्ता रन्धकः उपहर्ता परिवेष्टा खादको भक्षयिता, एते घातकाः इति ।
अत्र च निहन्तारं वर्जयित्वा अन्येषामघातकानां घातकवचनं अशास्त्रितप्राणिवधेऽनुमोदनादी-
न्यपि न कार्याणीत्येवमर्थं न तु घातकत्वप्रतिपादनार्थं कर्तव्याकर्तव्यप्रतिपादनपरत्वादस्य
शास्त्रस्य घातकखादकादीनां पृथक् प्रायश्चित्तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ॥

अनभ्यर्च्य पितृन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अधिकपुष्ट्यर्थं यो मांसमश्नाति तस्येयं निन्दा । न तु रोगो-
त्पत्तिभयाशङ्कया । यत आह यो वर्धयितुमिच्छतीति । तस्याप्यनभ्यर्च्यं पितृन् देवान् ।
न तु रोगहेतोस्त्वर्चनमकुर्वतोऽपि कथञ्चिदसम्भवान्न दोषः ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनभ्यर्च्यं पितॄन् देवानीति पितॄन् वष्टकायां देवान्पशु-
बन्धादौ ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वशरीरमांसं परमांसेन देवपितृद्यर्चनं विना यो वृद्धिं नेतुमिच्छति
तस्मादपरो नापुण्यकर्तास्तीत्यविधिमांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्वेति । अपुण्यकृत्पातकी ॥ ५२ ॥

(५) रामचन्द्रः । तत्तस्मात्पुरुषात् अपुण्यकृत् पापकर्ता नास्ति ॥ ५२ ॥

(६) मणिरामः । अविधिमांसभक्षणैर्निदामाह स्वमांसमिति ॥ ५२ ॥

(८) गोविन्दराजः । स्वमांसमिति । स्वशरीरमांसं परमांसेन देवार्चनरहितेन
यो वृद्धिं नेतुमिच्छति तस्मादधिकोऽन्योऽपुण्यकर्ता नास्तीत्यविधिमांसभक्षणनिन्दार्थवाद
एव ॥ ५२ ॥

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ॥

मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।

स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । देवाद्यर्चनशिष्टस्य शशादिमांसस्य भक्षणमनुज्ञातम् । ततो निवर्तमानोऽश्वमेधफलमश्नुते । अश्वमेधस्य फलं “सर्वान्कामानवश्यं सर्वा विजितीः” इत्यादि । न चात्र चोदनीयम् । “कथं महाप्रयासेन बहुधनव्ययेन च तुल्यफलता मांसनिवृत्तेः स्यात्” । यत एषोऽपि संयमोऽतिदुष्करः । किंच ‘लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यादित्ययं न्यायो जृम्भत एव । अतः फलविधौ न दोषः ।

वयं तु ब्रूमः । अर्थवाद एवायम् । यतो ‘वर्षे वर्षे शतं समा’ इति चार्थवादपक्षे सुघटम् । न हि प्रतिवर्षमश्वमेधस्य विधेयत्वसम्भवः । नापि वर्षे शतं, तावतः कालस्याधिकारिणो जीवनाद्यसम्भवात् । पुण्यं च फलं च पुण्यफलम् । समाहारद्वन्द्वः । षष्ठीसमासे ह्यसामर्थ्यम् ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधुना यस्य वर्णस्य यादृशं मांसभक्षणं निषिद्धं तदकरणे फलमाह वर्षे वर्षे इति । शतं समा इति यावदायुः प्रतिवर्षमश्वमेधफलमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीमनियमिताप्रतिषिद्धमांसभक्षणस्य निवृत्तिर्धर्मयित्येतद्दर्शयितुमाह वर्षे वर्षे इति । यो वर्षशतं यावत्प्रतिवर्षमश्वमेधेन यजेत यश्च यावज्जीवं मांसं न खादति तयोः पुण्यस्य फलं स्वर्गादितुल्यम् ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । मांसवर्जनादधिकं पुण्यं न संभाव्यमित्याह वर्षे इति । तयोर्मांसभक्षकाश्वमेधयाजिनोः प्राणिवधाकरणात्समम् ॥ ५३ ॥

(५) मणिरामः । मांसत्यागे फलमाह वर्षे वर्षे इति द्वाभ्यां ॥ ५३-५४ ॥

(६) गोविन्दराजः । इदानीमशिष्टाप्रतिषिद्धमांसनिवृत्तिर्धर्मयित्येतत्प्रतिपादयितुमाह वर्षे वर्षे इति । प्रतिवर्षं अश्वमेधेन यजेत । तथा यो यावज्जीवं मांसं नाश्नाति तयोरश्वमेध-मांसत्यागजनितस्य पुण्यस्य संबन्धि स्वर्गादिफलं तुल्यम् ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मध्येर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ॥

न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । मेध्यैर्देवाहैः मुन्यन्नानि नीवाराद्यन्नान्यकृष्टपच्यजनितानि । अयमर्थवाद एव ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फलमूलाशनैः तन्मात्रभक्षणैः । मुन्यन्नानां नीवारादि-मुन्यन्नानां भोजनैर्भक्षणैः ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । पवित्रफलमूलभक्षणैर्वानिप्रस्थभोज्यानां च नीवाराद्यन्नानां भोजनैर्न तत्फलमवाप्नोति यच्छास्त्रानियमिताप्रतिषिद्धमांसवर्जनाल्लभते ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । फलमूलाशनैरनयोरेव भोजनैः मेध्यैर्देवयोग्यैः मेधो यज्ञस्त-
तुल्यफलैः । न भक्षयामीति संकल्पपूर्वकं मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

(८) गोविन्दराजः । फलमूलाशनैरिति । पवित्राणां फलमूलानां च भक्षणैः तथा ऋषिसंबन्धिनामन्नानां नीवारादीनामारण्यानां भोजने तथाविधं फलं नाप्नोति ॥ ५४ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ॥

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । नामधेयनिर्वचनमर्थवादः । मां स भक्षयिता । स इति सर्वनाम-
सामान्यापेक्षं योग्येनार्थेन निराकाङ्क्षीकरोति यस्य मांसमश्नाति ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिष्टफलमाह मां स भक्षयितेति । अमुत्र जन्मान्तरे ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । इह लोके यस्य मांसमहमश्नामि परलोके मां स भक्षयिष्यतीत्येत-
न्मांसशब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति । इति मांसशब्दस्य निर्वचनमवैधमांसभक्षण-
पापफलकथनार्थम् ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । मांसपदव्युत्पत्तिमाह मांसेति । स पशुर्मांसस्य भक्षकममुत्र
परलोके भक्षयिता यस्य पशुर्मांसमहमिहाद्मीति ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । मांसभक्षणस्य वर्जनीयतां मांसवदनिर्वचनेनाप्याह मां स इति ।
भक्षयिता भक्षयिष्यति ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य मांसमहमिहाद्मीति अमुत्र परलोके मां स भक्षयिता
भक्षयिष्यति । एतन्मांसस्य मांसत्वं मनीषिणः प्रवदन्ति ॥ ५५ ॥

(७) मणिरामः । मांसशब्दस्य निरुक्तिमाह मां स भक्षयितेति । इह लोके यस्य
मांसं अहं अद्य अश्नामि अमुत्र परलोके स मां भक्षयिता भक्षयिष्यतीति एतन्मांस-
शब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति ॥ ५५ ॥

(८) गोविन्दराजः । मां स भक्षयितेति ॥ ५५ ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ॥

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । 'प्राणस्यान्नं' इत्यत आरभ्य यावदयं श्लोकोऽर्थवादसङ्घात एव ।
द्वित्राः श्लोका विधेयार्थाः । न मांसभक्षणे दोषो यथा "क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्येति" (३२)
तथाऽयमपि श्लोकः । निवृत्तिस्तु महाफलेत्येतदन्न श्रूयते । बहुभिर्निन्दार्थाकरैरीदृशः
संस्कारो जातो यन्न किञ्चिन्मांसमशितव्यम् । भूतानां वृत्त्यर्थमाह न मांसभक्षणे दोष इति ।

देवार्चनशिष्टे ब्राह्मणकाम्यादिषु निमित्तेषु प्रागुक्तेषु न दोषः । किन्तु यद्यशितुमिच्छन्ति । निवृत्तिः 'न भक्षयामीति' सङ्कल्पपूर्विका महाफला । फलविशेषाश्रुतेः स्वर्गः फलमिति मीमांसकाः । एवं 'मद्ये' क्षत्रियादीनां, 'मैथुने' तु सर्ववर्णानां, दिवोदक्यापर्वकालादन्यत्र ।

अल्पस्वल्पा प्रवृत्तिरेषा शास्त्रीया । भूतानां शरीरस्थितिहेत्वर्था प्रवृत्तिः । तथा चायुर्वेद-
कृतः—“आहारो ब्रह्मचर्यं च निद्रा चेति त्रयं मतम् । मादकं च स्त्रियश्चैव ह्युपस्तम्भनमायुषः”
इति ॥ यस्तु तेन विनाऽपि शक्नोति जीवितुं तस्य निवृत्तिर्महाफला । प्रदर्शनार्थं चैतत् ।
अशिष्टाप्रतिषिद्धविषयाणामन्यासामपि निवृत्तीनामेवमेव । यत्र विधानं पुरुषस्य प्रवर्तमानस्य
प्रीत्यतिशयोत्पत्तिप्रयोजनमनिन्द्यम्, गृहेत वा यतो निवृत्तिः फलाय, यथा मध्वशनं सम्पन्न-
भोजनं राङ्कवं परिधानमित्येवमादि । तथा च शिष्टसमाचारः । व्यासश्च भगवानेवमेवाह ।
ये तु संसक्तितोऽशिष्टाप्रतिषिद्धा अपि यथा हसितकण्डूयनादयस्ततो निवृत्तिर्धर्माय ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमर्थमुपसंहरति न मांसभक्षण इति । अनुपाकृतमांस-
भक्षणे श्राद्धादिष्वपि अदोषो नास्ति किंतु दोषोऽस्त्येवेति व्यतिरेकनिषेधमुखेनान्वयप्रदर्शन-
मवधारणार्थम् । तेन सर्वेष्वेव मांसभक्षणे च सर्वेषां दोषोऽस्तीत्येवेत्यर्थः । यथा येषां
क्षत्रियादीनां मद्यमनिषिद्धं येषां च ब्राह्मणानां निषिद्धं तेषां सर्वेषां मद्यपाने नादोषो ज्ञेयः;
गुरुलघुत्वाभ्यां तु निषेधानिषेधौ । तथा 'पर्ववर्जं व्रजेच्चैना'मित्यनृतुमैथुने विहितेऽपि न दोषः ।
यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानां रागवशात्सर्वसाधारणा प्रवृत्तिर्न वैधी । 'पाठीनरोहितावाद्या'वित्यादि-
विधानामपि परिसङ्ख्यादिपरत्वेन मांसभक्षणविधित्वाभावात्सामान्यतश्च मांसमद्यमैथुनानां
हिंसामदकामरागहेतुत्वात्तेषां च निषिद्धत्वादित्यर्थः । नन्वेवं मांसादेः सामान्यतो निषिद्ध-
त्वात् लशुनादेरिव ततो निवृत्तिर्नाभ्युदयहेतुः स्यादत आह निवृत्तिस्तु महाफलेति । एता-
दृशमेवैतत् यत्सामान्यतो निषिद्धत्वेऽपि ततोऽनिवृत्तिर्महाफलेति । एतच्च वेदैकसमधिगम्य-
त्वान्न विपरीतदृष्टान्तमात्रेणान्यथा संभावयितुं शक्यमिति तात्पर्यम् । एष एव मनुवचनार्थो
यमेन स्फुटीकृतः; यदाह “सर्वेषामेव मांसानां महान्दोषस्तु भक्षणे । निवर्तने महत्पुण्यमिति
प्राह पितामहः” ॥ तथा बृहस्पतिः—“मद्यं मांसं मैथुनं च भूतानां ललनं स्मृतम् । तदेव विधिना
कुर्वन्स्वर्गं प्राप्नोति मानवः ॥ अभून्मांसपुरोडाशो भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् । पुराणेष्वपि
यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च । सौत्रामण्यां तथा मद्यं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृतम् । ऋतौ च मैथुनं
धर्म्यं पुत्रोत्पत्तिनिमित्ततः । स्वर्गं प्राप्नोति नैवं तु प्रत्यवायेन युज्यते ।” “यमेन सर्वेषां”मित्य-
क्तत्वात् । तथाच मांसं प्रक्रम्य भारतेऽप्युक्तम् ‘भक्षणस्य महान्दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते’
इति । तथा बृहस्पतिना ‘मांसमद्याच्चतुर्धेषा परिसंख्ये'त्युक्त्वा ‘रोगातोऽभ्यर्थितो वापि यो
मांसं नात्यलोलुपः । फलं प्राप्नोत्ययत्नेन सोऽश्वमेधशतस्य चे'त्युक्तम् । अतो विहितादपि
भक्षणान्निवृत्तिर्महाफलेति गम्यते । तथा तद्भक्षणे दोषोऽप्यस्ति । उक्तं च महाभारते
‘अल्पदोषमिह ज्ञेय'मिति । अत एव ‘देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यती'ति । अत्रापि
न तादृक्संपूर्णदोषभागभवतीत्यर्थः । यत्तु मांसभक्षणे दोषो नास्तीत्येतत्परतयैतच्छ्लोकव्या-
ख्यानं निबन्धान्तरेषु कृतं, तत्कथमप्यसंगतत्वात् ‘प्रवृत्तिरेषा भूताना'मित्याद्यनन्वयाच्च नो
वाप्येतेन दुष्यते कामधेनुदीपिकायां चैतद्बहुविचारितमिति नेह भूयः प्रतिपाद्यते ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाधिकारमविहिताप्रतिषिद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषो यस्मात्प्राणिनां भक्षणपानमैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोऽयं धर्मः वर्जनं पुनर्महाफलं । अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथुननिवृत्तेर्महाफलकथनार्थोऽयमुक्तस्यैव मांसवर्जनमहाफलकथनस्यानुवादः ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । विहितमांसभक्षणे न दोषो यद्यपि तथापि ततोऽपि निवृत्तिः कार्येत्याह न मांसेति । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति तन्मांसं सुराग्रहांश्च गृह्णातीति वाज-
पेयादौ मद्यं 'ऋतौ भार्यामुपेयादि'ति मैथुनं च विधिप्राप्तं तन्निवृत्तिर्मयेदं न भोक्तव्यं न पातव्यं न गन्तव्यमिति निःशेषेण निवृत्तिनियमस्ततः फललाभसंभवात् । इत्यभक्ष्यप्रकरणम् ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । मांसभक्षणेऽनुज्ञातमांसभक्षणे मद्ये । मदकरद्रव्ये अविहिता-
प्रतिषिद्धे ताम्बूलादौ मैथुने चाविहिताप्रतिषिद्धेऽनृतौ स्वदारगमने ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मांसभक्षणे दोषो न यज्ञादौ पुरोडाशमात्रे । न मद्ये मद्यपाने
दोषः 'सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णातीति श्रुतेः । रागवशात्सर्वसाधारणप्रवृत्तिर्न चैतस्मात्पुण्यं ।
आध्यापनं न तु पानं 'पानात्पतितो भवेदि'ति वचनात् । मैथुने न दोषो विवाहितास्वेव व्यवायः
कार्यो नान्यस्त्रीषु । भूतानां मनुष्याणां एषा प्रवृत्तिर्ज्ञेया निवृत्तिस्तर्हि महाफलेत्यत्र किम्
वक्तव्यं ॥ इति मांसप्रकरणम् ॥ ५६ ॥

(७) मणिरामः । न मांसभक्षणे दोषः विहितमांसभक्षणे यज्ञादौ । न मद्ये सौत्रा-
मण्यादौ । न च मैथुने 'देवराच्च सुतोत्पत्तिरित्यादौ । यस्मात् भूतानां प्राणिनां भक्षण-
पानमैथुनादौ प्रवृत्तिः, स्वाभाविकोऽयं धर्मः । तथा च यदि काम्यफलेऽच्छा तदा विध्युक्ताना-
मेषां करणे न दोषः । यदि भोज्येष्ठा तदैतेषां त्यागः पुण्यजनकत्वान्मोक्षद
इत्यर्थः ॥ ५६-५७ ॥

(८) गोविन्दराजः । न मांसभक्षणे दोष इति । शिष्टाप्रतिषिद्धमांसभक्षणमद्यपान-
मैथुनाचरणे न कश्चिद्दोषो यस्माज्जङ्गमात्मकभूतानां एषा अशनपानमैथुनात्मिका प्रवृत्तिः
स्वाभाविकोऽयं व्यापारः । वर्जनं पुनर्महाफलम् । इति मांसवर्जनफलप्रसङ्गेन अशिष्टा-
प्रतिषिद्धमद्यमैथुनादिनिवृत्तिफलकथनपरमेतत् ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ॥

चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । चतुर्णामपीति वचनं सामान्यविहिता धर्माः शूद्रस्य नेदृशं यत्न-
मन्तरेण भवन्तीति ज्ञापनार्थम् । प्रेतेषु जीवतां शुद्धिः । सुप्सुपेति समासः । प्रापणं चाप्रेत-
वन्निमित्ता शुद्धिरियं विशेषस्य । अतश्च यद्यपि शुद्धिवचनं प्रतिज्ञायते, तथाऽप्यशुद्धिसापेक्षत्वा-
च्छुद्धेः शास्त्रप्रत्ययकारकत्वादुभयोः, अप्रतिज्ञाताऽपि प्रथममशुद्धिरुच्यते ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ देहद्रव्याशौचं प्रक्रमते प्रेतशुद्धिमिति । प्रेतशुद्धिः प्रेत-
निमित्ता शुद्धिः शोधनं कालादि । चतुर्णामिति ॥ ब्राह्मणादीनां प्रेतशुद्धान्वितम् ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः। ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि वर्णानां प्रेतेष्वपि पित्रादीनां शुद्धिं ब्राह्मणा-
दिक्रमेण या यस्येति। द्रव्यादीनां च तैजसादीनां शुद्धिमभिधास्यामि ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः। अशौचं प्रतिजानीते प्रेति। अपिना नानासंकरजातिग्रहः ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः। अथ प्रकरणान्तरमारभते प्रेतेति। प्रेतशब्दोऽत्र जातस्याप्युपलक्षणार्थम् ॥

(६) रामचन्द्रः। अथ प्रेतशुद्धिमाह प्रेतशुद्धिमिति। प्रेतशुद्धिं देहद्रव्याशौचं।
चतुर्णामपि वर्णानां अनुपूर्वशः ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण ॥ ५७ ॥

(८) गोविन्दराजः। प्रेतशुद्धिमिति। प्रेतनिमित्तां शुद्धिं द्रव्याणां तैजसादीनां
शुद्धिं ब्राह्मणादीनां चतुर्णां (वर्णानां) कात्स्न्येन ब्राह्मणाद्यानुपूर्व्या च प्रवक्ष्यामि ॥ ५७ ॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।

अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः। 'अनुजातो' दन्तजाताद्बालतर इति स्मरन्ति। तथाविभागेनोद्देश-
मात्रमिदं यतस्तदपेक्षं आशौचकालभेदो भविष्यति। तद्यथा स्मृत्यन्तरे "आ दन्तजन्मनः"
(याज्ञ. १।२३) तथा "बाले देशान्तरस्थे च" (मनु. ५।७७) इत्यादिना सद्यःशौचं श्रुतम्।
'बाल' अजातदन्तो विज्ञेयः। एवं च 'नृणामकृतचूडाना'मित्येतत् (मनु. ५।६७) एकरात्रि-
कमाशौचं दन्तजातेऽप्यवस्थाप्यते। एवमेते स्मृती विषयव्यवस्थया अविरोधिन्यौ बालविषये
भवतः। नैशिकी च शुद्धिराचूडाकरणात्। यतो निवृत्तमुण्डकानां त्रिरात्रं वक्ष्यति। तच्च
त्रिरात्रं प्रागुपनयनात्परतः "शुद्धचेद्विप्र" इत्यादि ये तु—"दशाहं शावमाशौचम्" इत्येतान्पक्षान्
वयोविभागेन वर्णयन्ति, स्मृत्यन्तरात्समाचाराच्च व्युत्क्रमेण सम्बन्धयन्ति, दशाहमुपनीतस्य,
अनुपनीतस्य चतुरहं, कृतमुण्डस्य द्व्यहं, जातदन्तस्यैकाहमनुजातस्य सद्यःशौचिकादयस्तु
विकल्पाः। एवं द्व्यहचतुरहयोः कृतचूडस्य। तेषां मते स्मृत्यन्तरप्रसिद्धो वृत्तस्वाध्यायापेक्षो
न विकल्पः प्रतिपादितः स्यात्। तच्चोत्तरत्र दर्शयिष्यामः। सर्वव्यापारनिवृत्त्या मृत उच्यते।
सम्पूर्वस्य तिष्ठतेर्व्यापारोपरमदर्शनात्। बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्च। सूतके च पुत्र-
जन्मादौ। तथोच्यते अशुद्धा बान्धवाः सर्वे इत्येतेनास्य सम्बन्धः। "कथं पुनरत्र वयोभेदप्रति-
पत्तिर्यावता कृतमुण्ड इति संस्कारसम्बन्धो गम्यते। 'कृतोपनयने चे' (२।१७३) त्यत्र श्रुतमेव।
अत एव कृतचूडः। कियन्तं कालमुच्यत इति नैव श्रूयते।" उच्यते। दन्तजातानुजात-
साहचर्यात्कृतमुण्डः काललक्षणार्थो विज्ञायते। स च कालोऽत्र प्रथमतृतीयवर्षः। यद्यपि
"प्रथमे वर्षे वैकल्पिकं मुण्डीकरणं तस्मिन्समाश्रीयमाणे 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' इत्येतद्बाधितं
भवति।" तदप्ययुक्तम्। कियानवधिः? कृतमुण्ड इति। चशब्दात्कृतमुण्डे चेति कृतोपनयने
चेति लभ्यते। संस्कारान्तरप्राप्तौ व्यपदेशान्तरप्रवृत्तेः। एवं चैतया स्मृत्या एकवाक्यता
भविष्यति "आ दन्तजन्मनः सद्यः" (याज्ञ. प्राय. २३) इत्यत्रापि। "त्रिरात्रमात्रतादेशादिति"
(याज्ञ. प्राय. २३) व्रतादेशग्रहणं कालोपलक्षणार्थमेव। न च ब्राह्मणास्यानित्योऽष्टमवर्षे एवं
क्षत्रियवैश्ययोर्द्व्यहं कालः, तदा शूद्रस्य न कश्चित्काल उक्तः स्यात्। तत्राप्यतीतशैवस्य
"परिपूर्णं सर्वेषाम्" इति वचनात्। अतश्चाष्टमाद्वर्षाद्द्व्यहं चतुर्णामपि वर्णानां सर्वाशौचम्,

शूद्रस्यापि तस्य कालस्य सद्भावात् । यस्मिंस्तु पक्षे एकादशे वर्षे क्षत्रियवैश्ययोरुपनयनं, लक्ष्यते तदा शूद्रस्य न कश्चित्काल उक्तः स्यात् । तत्राप्यतीतशैशवस्य परिपूर्णम्, अर्वाक् त्रिरात्रम् । शैशवस्य निवृत्तिश्च स्मृत्यन्तरे “प्रागष्टमाच्छिशुः प्रोक्त” अन्यैस्तु “आ षोडशाद्-भवेद्बालः” इति । येऽपि षोडशाद्बाल्यनिवृत्तिमाहुस्तेषामप्यष्टमाद्दूर्ध्वं मासिक्येव शुद्धिः । एवं पठ्यते “ऊर्ध्वं तु षड्भ्यो वर्षेभ्यः शुद्धिः शूद्रस्य मासिकी” । अन्यत्र पठितम् ‘अष्टवर्षस्य मास’ इति । “ननु वक्ष्यमाणेभ्य एव वाक्येभ्य एषा वयोभेदव्यवस्था लभ्यते । किमनेन दन्तजात इत्युद्देशेन ।” सत्यम् । सुखावबोधार्थम् ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दन्तजाते जातदन्ते । अनुजाते जातदन्तादनु पश्चाज्जाते, अजातदन्तं इत्यर्थः । कृतचौले चेति चकारादुपनीते च संस्थिते मृते सर्वे बान्धवाः सपिण्डसमानोदकाः । सूतके बान्धवस्य जन्मनि । तथोच्यत इत्यशुद्धाः सर्वे बान्धवा इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्र शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्तन्निरूपणार्थमाह दन्तजात इति । दन्तजाते जातदन्त इत्यर्थः । ‘वाहिताग्न्यादिष्वित्यनेन जातशब्दस्य परनिपातः । अनुजाते जातदन्तान्तरे कृतचूडाकरणे च चकारात्कृतोपनयने च संस्थिते मृते सति बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्चाशुद्धा भवन्ति प्रसवे च तथैवाशुद्धा भवन्तीत्युच्यते । वयोविभागेनोद्देशमात्रमिदं वक्ष्यमाणाशौचकालभेदादिसुखावबोधनार्थम् ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र जातकाद्याशौचशुद्धीराह दन्तेत्यष्टविंशत्या । दन्तजाते उत्पन्नदन्ते । अनुजाते पूर्वस्य पतनानन्तरं पश्चाद्भावित्यनुत्पन्नदन्ते आ दन्तजन्मनः । कृतचूडेत्यत्र चकार उपनयनोपलक्षकः । संस्थिते मृते । सूतकं जन्म ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । आशौचनिमित्तान्याह दन्तेति । दन्तजाते, जातदन्ते षाण्मासाधिक इति यावत् । अनुजाते पुनर्जात उपनीत इति यावत् प्राप्ताष्टवर्ष इत्यर्थः । कृतचौले प्राप्त-तृतीयवर्ष इति यावत् । संस्थिते मृते । बान्धवाः सपिण्डाः सर्वे सन्निकृष्टा असन्निकृष्टाश्च अवस्थाविशेषोपन्यासोऽशुद्धिवैषम्यात् ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दन्तजाते जातदन्ते । सर्वे बान्धवा अशुद्धा भवन्ति । च पुनः अनुजातः अनुपश्चाज्जातोऽनुजातः, परस्य विशेषणं दन्तोत्पत्तिकालपर्यन्तमित्यर्थः । च पुनः कृतचूडे अनुपनीते चकारादुपनीतेऽपि संस्थिते मृते सति सर्वे बान्धवा अशुद्धा भवन्ति तथा सूतके जननाशौचे बान्धवा अशुद्धाः । योगीश्वरः (याज्ञ. प्राय. २३) ‘आ दन्ताजननात्सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता । त्रिरात्रमात्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्’ ॥ ५८ ॥

(७) मणिरामः । शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वादशुद्धिरादावाह दन्तजात इति । दन्तजाते जातदन्ते बाले अनुजाते जातदन्तान्तरे संस्थिते मृते सति । बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्च । सूतके च जननाशौचेन ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ॥

अर्वाक् सञ्चयनादस्थनां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । सपिण्डचलक्षणं वक्ष्यते । अर्वाक्सञ्चयनादिति । चतुरहोपलक्षणं वक्ष्यति । “आहिताग्नेः सञ्चयनं चतुर्थ्याम्” इति वचनमस्ति । अयं च विकल्पो वृत्ता-

स्वाध्यायापेक्षो वृत्तापेक्षो वा । तथा च स्मृत्यन्तरम् “एकाहाद्ब्राह्मणः शुद्धो यस्तु ब्रह्माग्नि-
संयुतः । द्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः” । तत्र त्रिवेदस्याग्निमत एकाहः । द्विवेदस्य तु
व्यहम् । निर्गुणस्य दशाहम् । गौतमेन पठितं सद्यःशौचम् । तच्च विशेष एव, ‘ब्राह्मणस्य
स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम्’ । तत्र क्रियान्तराणि—“उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते” इत्याद्याः क्रिया निवर्तन्ते । केवलं बहुवेदस्या-
गुण्यमानं प्रणश्यतीति स्वाध्यायो न निवर्तते । तथा वृत्त्यपेक्षो युक्तो विकल्पः । षट्कर्म-
जीवनो दशाहः, त्रिभिरन्य इत्यस्य चतुरहः, द्वाभ्यामेक इत्यस्य व्यहः । दाशाहिक आशौचे
प्रतिग्रहादावनधिकारात्प्राणयात्रैव दुर्लभा । ये तु—“वयांसि चत्वारि, चत्वारश्चाशौचकालाः,
अतो यथावयो यथासंख्येन सम्बन्धः”, तेषां दन्तजाते दशाहः प्राप्नोति, उपनीते तु मृते एकाह
एव । तत्र स्मृत्यन्तरसमाचारविरोधः । अथ “विरोधपरिहारार्थं प्रातिलोम्येन सम्बन्धः
क्रियते । उपनीते दशाहः, कृतमुण्डे चतुरहः, व्यहो दन्तजाते, एकाहोऽनुजात इति” । अत्रापि
निवृत्तचौडकानां त्रिरात्रादिति विरोधेन विकल्पो युक्तः । स्वशब्देन त्रिरात्रस्यानुविधानात् ।
चतुरहस्य वृत्तिभेदेन सञ्चयभेदेन विषयत्वसिद्धेः । स्मृत्यन्तरेणैवमेकवाक्यता भवति एकाहा-
दित्यनेन । अन्यथा वयोभेदेन विकल्पे व्याख्यायमाने वृत्तस्वाध्यायापेक्षो मानवे शास्त्रे केन
विकल्पो लभ्यते ? अतो गौतमवचनाद्यस्य प्रात्यहिकेन प्रतिग्रहेण विनाऽपि वृत्तिरस्ति
कुसूलधान्यादेस्तस्य बहुस्वाध्यायस्य स्वाध्यायाध्ययनमात्रे सद्यःशुद्धिः । येऽपि द्यहादयः
कल्पास्तत्रापि व्यहैहिकादीनां तावन्मात्र एव विशुद्धिवृत्त्यर्थे प्रतिग्रहेऽनेनैव गौतमदर्शनेन ।
अन्यथा ‘ब्राह्मणस्य स्वाध्यायिन’ इत्येवावक्ष्यत् न ‘स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थ’मिति । अतो यद्यप्य-
विशेषेणैकाहाच्छुद्धिरित्यादि श्रुतम्, तथापि नियतक्रियाविषयं विज्ञेयम् । येन नित्यवद्-
ब्राह्मणस्य दशाहमाह “शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन” इति (५।८३), न ह्यन्यत्पुनर्वचने
प्रयोजनमस्ति । तस्माद्विकल्पोऽयमुक्तेन मार्गेण व्याख्येयः । यत्र पुनर्वालादौ सद्यःशौचं,
निवृत्तमुण्डकादौ त्रिरात्रं, तत्र विकल्पाभावात्सर्वक्रियासु शुचित्वम् ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दशाहमिति गुणरहितब्राह्मणविषयम् । सपिण्डेषु मृतेषु ।
अर्वाक्संचयनादिति विप्राणां चतुर्थेऽह्नि संचयनस्य प्रायिकत्वाच्चतुरहोपलक्षणं एतदेकशाखी-
यमन्त्रमात्रमधीतवतो दशाहस्थाने । व्यहः संपूर्णकशाखाध्येतुः । एकाहो वेद-
श्रौताग्निमतः ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । सप्तपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति । सपिण्डेषु श्वनिमित्तमाशौचं
दशाहोरात्रं ब्राह्मणस्योपदिश्यते ‘शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन’ति वक्ष्यमाणत्वात् । ‘अर्वाक्संचयनादध्ना’-
मिति चतुरहोपलक्षणम् । ‘चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यादिति बिष्णुवचनात् । व्यहमेकाहं वा
अहःशब्दोऽहोरात्रपरः । अयं चाग्निवेदादिगुणापेक्षो व्यवस्थितविकल्पः । यथाह ऋक्षः ‘एका-
हाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः । हीने हीनं भवेच्चैव व्यहश्चतुरहस्तथा ॥’ श्रौताग्निमतो
मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्यायिन एकाहाशौचम् । तत्र श्रौताग्निवेदाध्ययनगुणयोरेकगुणर-
हितो हीनस्तस्य व्यहः । उभयगुणरहितस्तु हीनतरः केवलस्मार्ताग्निमांस्तस्य चतुरहः ।
सकलगुणरहितस्य दशाहः । तदाह पराशरः ‘निर्गुणो दशभिर्दिनैरिति ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । शवनिमित्तं शवं, मृतो मनुष्यः शवः । सकलगुणरहितस्य तु दशाहं तथाह पराशरः । 'निर्गुणो दशभिर्दिनैः । अनाहिताग्नेः संचयनं चतुर्थ्या'मिति स्मृते- 'श्चतुर्थ्यदिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यादिति विष्णुवचनाच्चतुरहोपलक्षणमिदम् । आशब्दोऽत्र छन्दसि व्यवहिताश्चेति समः पूर्वः तेन हीनतरस्याचतुरहमाशौचमिति भावः । 'अर्वाक्-संचयनादिति मेधातिथिः । अहःशब्दोत्तराहोरात्रपरः । तथोक्तं 'एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवे-दसमन्वितः । हीने हीनतरे चैव व्यहश्चतुरहस्तथा ॥ एवं च साग्निः शाखायुक्तो विप्रः । स्वशाखाध्याय्यग्निहीनो हीनस्तस्य त्र्यहं । स्मार्ताग्निमात्रेण हीनस्तस्य चतुरहं । उक्तसकल-गुणहीनस्य दशाहमिति चतुर्णां व्यवस्थितविकल्प इति । उक्तषट्कर्मा दशाहेन शुद्ध्यति तथा त्रिभिर्जीवी चतुर्भिः । द्वाभ्यां जीवी व्यहैः । एकेन जीव्येकाहेनेति मेधातिथिः । ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । दशाहमनिर्गुणेषु सपिण्डेषु बान्धवेषु । 'अस्थनामासंचयनाद्वे'ति चतुर-होपलक्षणं, 'चतुर्थेऽह्नि संचयन' मिति वचनात् । चतुरहं गुणवत्स्वत्यर्थः । त्र्यहं गुणवत्तरेषु । एकाहमग्निहोत्रनित्यस्वाध्यायवत्सु । स्मृत्यन्तरानुरोधादेवं व्याख्यानम् ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आशौचनिमित्तकालनियममाह दशाहमिति । शावमाशौचं दशाह-पर्यन्तं सपिण्डेषु विधीयते गुणरहितब्राह्मणविषयम् । अस्थिसंचयनादर्वाक् व्यहं वेदैकदेशाध्येतृ-विषयम् । एकाहं वा साङ्गसमग्रशाखाध्येतृपरम् । तद्यथा सञ्चयश्च ब्राह्मणानां प्रायेण चतुर्थेऽहनि भवत्यतो दिनचतुष्टयमेकशाखामन्त्रमात्रमधीतवतो दशाहस्थाने । व्यहः संपूर्णैक-शाखाध्येतुः । एकाहो वेदश्रौताग्निमतः ॥ ५९ ॥

(७) मणिरामः । दशाहं ब्राह्मणस्य । 'शुद्धचेद्विप्रो दशाहेने'ति वक्ष्यमाणत्वात् । अर्वाक् संचयनादस्थनां । अस्थिसंचयनं चतुर्थे दिवसे भवति तत्पर्यंतं वा आशौचं । व्यहं वा एकाहं वा आशौचमित्यर्थः । अत्र व्यवस्था यथा अधीतवेदोऽग्निहोत्रवांश्च यः तस्य एकाहं । श्रौताऽग्नि-वेदाध्ययनाज्यतरवान् यः तस्य व्यहं । उभयरहितः केवलस्मार्ताग्निमान्यः तस्य चतुरहः । सर्वगुणरहितस्य दशाहमिति ॥ 'एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदमन्वितः । हीने हीने भवेच्चैव व्यहश्चतुरहस्तथे'ति दक्षवचनात् ॥ ५९ ॥

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ॥

समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । अन्वयसंज्ञाविज्ञानाद्बान्धवग्रहणानुवृत्तेश्चान्वयजाः सप्तमपुरुषा-वधयः सपिण्डा उच्यन्ते । 'येभ्यः स्वस्य पिता दद्यात्तेभ्यः पुत्र' इति जीवत्पूर्वपित्तादेर्विधा-नात् षट् तावद्योग्यतया सपिण्डा भवन्ति । यद्यपि 'पितृभ्यो दीयते आत्मना सप्तम' अतः पितामहप्रपितामहाद्याः पूर्वान्वयजातास्ते सपिण्डा इति व्यपदिश्यन्ते । पूर्वं षट् सपिण्डाः । अपरे पुत्रादयः षडेव । यत एकस्याः पिण्डदानक्रियायाः सहभावात्सपिण्डाद्युपदेशो लभ्यते, पुत्रादेरपि सहभावः पौत्रादिना क्रियमाणोऽयम्, तेन येभ्यो दीयते यैश्च सह सम्प्रदानवान्भ-विष्यति सर्वे ते सपिण्डा व्यपदिश्यन्ते । यतो न तत्र पिण्डदानमवध्युपलक्षणत्वाच्छङ्ख

इव वेलायामागन्तव्यमिति । तेन यावदुक्तं स्यात्—‘प्रपितामहस्य यः प्रपितामहस्त-
दन्वयजा ये यावत्सप्तमास्ते सपिण्डाः’ एवं स्वसन्ततौ पित्रादिसन्ततौ द्रष्टव्यम् । यत एव
भेदस्तमुपादाय गणना कर्तव्या यावत्सप्तमावधि । यथा पितामहो येषामेकस्ते तत आरभ्य
सप्तमावधयः सपिण्डा इत्येव सर्वत्र । तदन्वयजत्वे चोपलक्षणे जातेरनाश्रयणाद्विजातीया
अपि क्षत्रियादयो ब्राह्मणादीनां सपिण्डा भवन्ति ।

अत एव तज्जननाद्याशौचे ब्राह्मणस्य दशाह एव, तेषां तु स्वकाल एव द्वादशाहादिः ।
अतः सर्वस्य विजातीयनिमित्ते विजातीयसपिण्डनिमित्ते वा जन्मादौ स्वकाल एव शुद्धिः ।
क्षत्रियादीनां ब्राह्मणापेक्षया त्रिपुरुषं सापिण्डचम् । तथा च शङ्खः—“यद्येकजाता बहवः
पृथक्क्षेत्राः पृथग्जनाः । एकपिण्डाः पृथक्शौचाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ।” ‘पृथक्क्षेत्राः’ भिन्न-
जातीयासु स्त्रीष्वित्यर्थः । ‘पृथग्जनाः’ पृथक्क्षेत्रसमानजातीया अप्यनेकमातृका भवन्ति,
तदर्थमुभयोरुपादानम् । ‘एकपिण्डाः’ सपिण्डा भवन्ति । किंतु ‘पृथक्शौचाः’, स्वजातिनिमित्त
एव तेषां शुद्धिकालः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादेः सूतकादौ दशाहः, ब्राह्मणस्य सूतके तेषां द्वाद-
शाहश्च । यथा चान्योऽपि विशेषः—‘पिण्डस्त्रिष्ववर्तते ।’ त्रिष्वेव भवति पुरुषेषु । समान-
जातीयापेक्षया क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवत् षट्पुरुषस्य सापिण्डचम्, ‘एकजाताः पृथक्क्षेत्रा’ इत्या-
दिविशेषणोपादानात् । असमानजातीयापेक्षं त्रिपुरुषत्वमनेन वाक्येन शक्यते प्रतिपादयितुम् ।
एष एवार्थोऽनया स्मृत्या स्पष्टीक्रियते “क्षत्रविट्शूद्रदायादा ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामा-
शौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ।” ‘षड्भिस्त्रिभिरथैकेने’त्यादि च ॥

स्त्रीणां तु विजातीयानां भर्तृकालेन जीवति भर्तरि शुद्धिः । आह च “सूतौ मृते तु
दासानां पत्नीनां चानुलोमतः । स्वामितुल्यं भवेच्छौचं, मृते स्वामिनि पैतृकम् ।” अन्ये
पठन्ति “असवर्णसुतानामिति” प्रथमं पादम् । यद्ययमस्ति पाठस्तदा पुत्राणामपि शूद्राणां
पितृगृहे व्यवस्थितानां तत्परतन्त्राणां पितृजात्यपेक्षया दशाहादिरेव शुद्धिकालः । दासाश्चात्र
वैतनिका गृह्यन्ते । ये तु गर्भदासास्तेषां विध्यन्तरं श्रूयते—“कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासं
तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥” इति ।

स्पर्शने चैवमेतेषां शुचित्वं विज्ञेयम्, न पुनर्दानभोजनादिक्रियासु । यतः कर्मनिमित्ता
एते शब्दाः, अतः किं विपर्यये शुद्धिः, किं सर्वाः क्रियाः प्रतिप्रसवा उत काश्चिदेवाभ्यनुज्ञायन्ते ?
यतो ‘राज्ञश्च कार्याविधातार्थ’मित्याकांक्षायां यान्येव तादृशानि कर्माणि तान्येव हृदयमा-
गच्छन्ति । तथैव च समाचारः । “ननु च नात्र स्पर्शप्रतिषेधः श्रुतः” । यावता स्मृत्यन्तरे
पठ्यते “अस्थिसञ्चयनाद्धर्म्ममङ्गलस्पर्शो विधीयते ।” तथाऽन्यच्च “त्रिभिश्चतुर्भिर्वाऽहोभि-
र्ब्राह्मणः स्पृश्यतामियात् । एकादशेन शुद्धिः स्यान्मृतके सूतके तथा ॥” “राज्ञः षष्ठे सप्तमे
वा स्पर्शः, द्वादशाहेनान्नशुद्धिः । वैश्यस्य स्पर्शनमष्टमे नवमे वा, पक्षेणान्नशुद्धिः । शूद्रस्य
स्पर्शनमेकादशे द्वादशे वा, मासेनान्नशुद्धिः” इति हारीतः । तथा वाक्यान्तरमपि—“स्पर्शो
क्रमेण वर्णानां त्रिचतुःपञ्चपैदिनैः । भोज्यान्नो दशभिर्विप्रः शेषा द्वित्रिषडुत्तरैः” ॥ एते च
विकल्पाः प्रयोजनापेक्षया गुणवदगुणापेक्षया व्यवस्थापनीयाः । सर्वेषां तावद्ब्राह्मणस्य

भक्तदासास्त्रिचतुरैरहोभिः स्पर्शनेन दूषयन्ति । गर्भदासास्तु सद्यः । एवमितरेषामपि वर्णानाम् ।

यत्नेदं सद्यःशौचं तत्र सर्वत्र स्नानं वाससा च । द्रव्यस्य शुद्धिर्या यस्य विहितेति ज्ञापयिष्यते । कन्यानामपि त्रिपौरुषेयी सपिण्डता । “सपुत्राणां तु स्त्रीणां त्रिपुरुषं विज्ञायते” इति वसिष्ठः । आशौच एवैतत् । विवाहे तु विधिर्दशितः ।

स्थितमेतत्—सप्तमपुरुषो मर्यादा, षट्पुरुषाः सपिण्डा इति । सप्तमे प्राप्ते विनिवर्तते । समानोदकभावः समानोदकव्यपदेशः ।

जन्मनाम्नोरवेदने । जन्म च ‘अयमस्मत्कुले जातः’—नाम अमुष्मादिदन्नामकात्पितृ-पितामहादेः—उभयोरवेदने निवृत्तिः । अतश्चान्यतरे ज्ञातेऽप्यनिष्टोदकं ज्ञेयम् । “अवतीर्य नदीमन्यद्वा जलाशयं नाभिदघ्नभुग्नो दक्षिणाभिमुखः सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यामुदकं कृत्वा-ज्जवेक्षमाणाः प्रत्याव्रजेयुरिति” ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सप्तमे स्वं विहाय स्वापेक्षया त्वष्टमे निवर्तते । अत्र च ‘सप्तमे पुरुष’ इति सामान्याभिधानस्य स्वापेक्षयावचीनेषु षट्सु पराचीनेष्वपि षट्सु तेषामपि च सन्ततौ सप्तसङ्ख्यावच्छिन्नायां सपिण्डतानुवर्तते । तत्रैतदुक्तमाशौचमिति तात्पर्यम् । सप्तमे देयपिण्डेऽपि पिण्डभोजितया त्रयाणां लेपभागितया च त्रयाणां समानपिण्डसंबन्धात्सापिण्डचमिति तु मत्स्यपुराणादिपूषलक्षणमात्रमुक्तम् । जन्मस्वर्वाचीनपराचीन-धारामध्य उत्पत्तिः । नामामुकशर्मेति । एतयोर्भयोरवेदने ज्ञानाभावे निवर्तते । एतत्संज्ञा-करणमाशौचविध्यर्थम् ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । सपिण्डलक्षणमाह—यं पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितृ-पितामहप्रभृतीन्षट्पुरुषानतिक्रम्य सप्तमे पुरुषे प्राप्ते सपिण्डत्वं निवर्तते । एवं पुत्रपौत्रा-दिष्वप्यवगन्तव्यम् । पिण्डसंबन्धनिबन्धना चेयं सपिण्डता । तथा हि पितृपितामहप्रपिता-महेभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डदानं प्रपितामहस्य पित्रादयस्त्रयः पिण्डलेपभुजश्च, तत्पूर्वस्य तु सप्तमस्य पिण्डसंबन्धो नास्तीत्यपिण्डता । यस्य चैते षट्पुरुषाः सपिण्डाः सोऽपि तेषां सपिण्डः, पिण्ड-दातृत्वेन तत्पिण्डसंबन्धात् । अतः साप्तपौरुषीयं सपिण्डता । तदुक्तं मत्स्यपुराणे ‘लेप-भाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः । पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्डचं साप्तपौरुषम्’ । सगोत्रत्वे चेयं सपिण्डता । अत एव शङ्खलिखितौ ‘सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी’ । तेन मातामहादीनामेकपिण्डसंबन्धेऽपि न सपिण्डता । समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुलेऽमुक-नामाऽभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्तते ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । सपिण्डेष्वित्युक्तं सप्रतियोगिकं तल्लक्षणमाह सपिण्डतेति । तदुक्तं मात्स्ये ‘लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः । पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्डचं साप्तपौरुषम्’ । पिण्डभागिनः प्रपितामहान्ता उत्तरे त्रयो लेपभुज इति षट् ‘सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी’ति शङ्खोक्तेः । अतो मातामहादीनामेकपिण्ड-

संबन्धेऽपि न सपिण्डता, गोत्रभेदात्; अस्मत्कुलेऽमुकनामा जात आसीत्तावत्पर्यन्तं समानोदक-
भावः तदबेदने तदज्ञाने समानोदकता निवर्तते इत्यन्वयः ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । सपिण्डानाह सपिण्डतेति । पित्रादिषु पूर्वेषु षट्सु पुत्रादिष्वपरेषु
सत्सु सपिण्डता वर्तते, सप्तमादौ निवर्तते । पुरुषग्रहणं स्त्रीद्वारसंबन्धनिवृत्त्यर्थम् ।
उत्तरार्धे विनिवर्तते इत्यनुषञ्जनीयम् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । सप्तमे स्वं विहाय स्वापेक्षया त्वष्टमे निवर्तते 'सप्तमे पुरुष' इति
सामान्याभिधानात्स्वापेक्षयावाचीनेषु षट्सुतेषामपि च संततौ जन्मनाम्नोरबेदनेऽज्ञाने
समानोदकभावः समानोदकसंज्ञो भवति । 'शवस्पर्शं विशुध्यन्ति द्यहादुदकदायिन' इत्यादि-
वाक्यैः ॥ ६० ॥

(७) मणिरामः । लक्षणमाह सपिण्डता त्विति । पित्रादिभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डदानं
प्रपितामहस्य पित्रादयस्त्रयो लेपभागभुजः । एवं षट्पुरुषपर्यन्तं सपिण्डता, तदूर्ध्वं सप्तमस्य
पिण्डसंबन्धो नास्तीति असपिण्डता । जन्मनाम्नोऽबेदने अस्मत्कुले अमुकनामाऽभूदिति जन्म-
नामोभयाऽपरिज्ञाने ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ॥

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते । दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ १॥]

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथेदं दशाहादि एवमेव दशाहचतुस्त्येकाहाशौचं गुणापेक्षया
व्यवस्थितं सपिण्डानाम् । निपुणां सर्वप्रकारामन्नादिविषयामपि । शावाशौचेति गुणापेक्षया
भर्तृश्चतुरहाद्याशौचापकर्षात्पत्न्या अप्याशौचापकर्षः । सूतके तु 'नाशौचं सूतके पुंसः संसर्गं
चेन्न गच्छति । रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यत' इत्यङ्गिरोवचनात् रजःप्रवृत्ति-
निमित्तकं सूत्याशौचं पुंस आशौचापकर्षेऽपि स्त्रिया दशाहमेव; तथाचान्नादावप्याशौचशङ्का
मा भूदित्येतदर्थं निपुणामित्युक्तम् ॥ ६१ ॥

[सर्वज्ञनारायणः । उभयत्र सूतके मृतके च दशाहानीत्याशौचकालोपलक्षणम् ।
दशाहग्रहणं तु ब्राह्मणस्य प्राधान्यात् तदाशौचेषु च दशाहस्याप्युत्कृष्टत्वात् । कुलस्य तत्कुल-
स्यान्नं न भुज्यतेऽन्यैः । दानप्रतिग्रहादयश्चाशौचिभिः क्रियमाणाः । होमः स्मार्तः ॥ १ ॥]

(३) कुल्लूकः । यथेदं दशाहादिकं शवनिमित्तमाशौचं कर्मानर्हत्त्वलक्षणं सपिण्डेषु
'दशाहं शावमाशौचं' (५।५९) मित्यनेन विधीयते । प्रसवेऽपि सम्यक्शुद्धिमिच्छतां
सपिण्डानां तादृशमेवाशौचं भवेत् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । सूतकं निर्दिशति यथेदमिति । एवं वृत्तिभेदेऽपि दशाहाद्युत्तरेण ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । एवमेव स्यात् पूर्ववदेव स्यात् । दशाहं निर्गुणेषु, चतुरहं गुणवत्सु,
द्वयहं गुणवत्तरेणैकाहं गुणवत्तमेणित्यर्थः ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथेदं आशौचं शावाशौचं दशाहपर्यन्तं सपिण्डेषु विधीयते जननेऽपि एवं दशाहं स्यात् । निपुणां यथोदितां शुद्धिभिच्छताम् ॥ ६१ ॥

[रामचन्द्रः । उभयत्रेति । उभयत्र शावाशौचे जननाशौचं च दशाहं तत्कुलस्यान्नं न भुञ्जते न भुञ्जीत । दानप्रतिग्रहौ वर्ज्यौ, यज्ञं वर्जयेत् यज्ञाहुतिं तत्र हावयेन्न तु हापयेत् । स्वाध्यायो वेदाध्ययनं न भवेत् ॥ १ ॥]

(७) मणिरामः । इदं दशाहादिकं । निपुणं सम्यक् ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ॥

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ॥ त्रेताधर्मपरोधार्थमरण्यस्यैतदुच्यते ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । एवमेतत्सपिण्डानां जनने । यथैव दशाहादयः कल्पाः षट्कर्मादिवृत्त्यपेक्षया स्वाध्यायाल्पमहत्वापेक्षया च व्यवस्थिता मरणे, तथैव जननेऽपि आशौचमात्रमतिदिश्यते कालानवच्छिन्नम् । सामर्थ्याच्चागृह्यमाणविशेषतया तत्सम्बन्धसकललाभः ।

कालावच्छिन्नातिदेशे तु एकेनैव मुख्यत्वाद्दशाहेन सम्बन्धः स्वाध्यायादिषु स्यात् । यदि वा पाठप्रत्यासत्त्या दशाहाद्यपेक्षया एकाहेन एकेनैव च निराकांक्षीकृतत्वादन्यैस्त्यहादिभिर्न सम्बन्धः स्यात् । तत्रेयं स्मृतिरविशेषेण वृत्तस्वाध्यायापेक्षायां व्यवस्थायां मृतसूतकयोर्विदधती, जनने गुणाद्यनपेक्षया जातिमात्रे स्थाप्यमाना, विरुध्येत । समाचारश्च बाधितः स्यात् ।

“नन्वेवं स्त्रीणामपि त्यहैकाहादयः कल्पाः सूतिकानां प्राप्नुवन्ति समाचारविरोधिनः ।” अत्रोच्यते— यद्ययं विकल्पः स्यात्तदैवम् । व्यवस्थित एवासीत्कल्पः । यथा हि तुशब्द उपपन्नतरो भवति, सूतकशब्दश्च नाशौचे वर्तते । लक्षणया सूतकसंबन्ध्यशौचं लक्षयेत् । लक्षणायाः साहचर्यादस्पृश्यतैव लक्षयितुं युक्ता । यदि च सर्वमाशौचमभिप्रेतं स्यादाशौचग्रहणमेवाकरिष्यत् ‘अशौचं मातुरेवेति’ । अतश्च स्मृत्यन्तरे त्रिरात्रमस्पृश्यतोक्त्या इह तदभावस्तयोर्विकल्पः सूतकं मातुरेव । मातापित्रोर्मातुरेवेति पितुर्विकल्पः । उपस्पृश्य स्नात्वा शुचिर्भवतीति । उपक्रममात्रमिदं वक्ष्यमाणेन श्लोकेन पितुरपि त्यहमेव ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेषामिति । सपिण्डानां सर्वेषामस्थिसंचयनात्प्राक् शावमाशौचमङ्गाशौचमस्पृश्यताहेतु स्मृत्यन्तरोक्तम् । सूतकं तु प्रसवनिमित्तमङ्गाशौचं मातापित्रोरेव । सूतकं यावद्दशरात्रमङ्गाशौचं । पिता तु स्नात एव स्पर्शं शुचिरित्यर्थः ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । अनिर्देशेन तुल्यतायां प्राप्तायां विशेषमाह सर्वेषामिति । मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानम् । जनननिमित्तं तु मातापित्रोरेव भवति । तत्राप्ययं विशेषः—जनननिमित्तमस्पृश्यत्वं मातुरेव दशरात्रं, पिता तु स्नाना-

त्स्पृश्यो भवति । अयमेव संबन्धः संवर्तेन व्यक्तीकृतः 'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते । माता शुद्धेद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः' ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च सर्वेषामिति । मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानं, जन्मनिमित्तमस्पृश्यत्वं मातापित्रोरेव स्यात् ; तत्रैव विशेषान्तरमाह—सूतकं मातुः सूतकनिमित्तमस्पृश्यता दशरात्रं, पिता तु प्रातःस्पृश्यो भवति, तथाच संवर्तः—'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते । माता शुद्धेद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः'रिति ॥ 'तस्मात्स दिवसः पुण्यः पितृणां प्रीतिवर्धन' इत्यपि संगतम् ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । मातापित्रोरेव सूतकं न सपिण्डानाम् । उत्तरार्धेन पक्षान्तरमाह सूतकं मातुरेवेति । 'उपस्पृश्य पिता शुचि'रित्युत्तरार्धेनोपपादयति ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सपिण्डानां शावमाशौचं सूतकं जनननिमित्तं अस्पृश्यत्वमाशौचं मातापित्रोरेव न सपिण्डानां, अस्पृश्यत्वं सूतकं मातुरेव च उपस्पृश्य स्नात्वा पिता शुचिः स्यात् ॥ ६२ ॥

[रामचन्द्रः । सत्रेति । सत्रकर्म बहुकर्तृकयज्ञकर्म तथा त्रेताधर्मः । उपलक्षणं तृतीयो धर्मो यस्येति त्रेताधर्मः वानप्रस्थः अरण्यवासी वानप्रस्थस्य एतद्विधिरुच्यते ॥ १ ॥]

(७) मणिरामः । शावं आशौचं अस्पृश्यत्वलक्षणं । सर्वेषां सपिण्डानां समानं । सूतकं तु जनननिमित्तमस्पृश्यत्वं तु मातापित्रोः । तत्रापि विशेषमाह सूतकमिति । अस्पृश्यत्वलक्षणं सूतकं मातुरेव । पिता तु स्नानानन्तरं स्पृश्यो भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुध्यति ॥

बैजिकादभिसम्बन्धादनुसन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

[जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । सहेतुकं त्र्यहमुपदिशन्नपस्पर्शनशुद्धिं पूर्वोक्तामनुमन्यते । किमर्थमुच्यत इति चेत् सरूपविधितयाऽर्थवादार्थम्, न विधेयतया, "जतिलयवाग्वा वा जुहुया"दितिवत् ।

निरस्य तु शुक्रं मैथुनधर्मेण सम्प्रयुज्य शुक्रोत्सर्गादिनन्तरं उपस्पृश्य स्नात्वा शुचिर्भवति । अतो बैजिकादभिसम्बन्धात् । बीजनिमित्तो 'वैजिकः' । 'अभिसम्बन्धः' अपत्योत्पत्तिः । अतस्तत्र कथं नानुसन्ध्यान्नावर्तेत । अघमाशौचं त्र्यहम् । यादृशं च शुक्रनिरसनेन अकृतस्नानस्याशुचित्वं, न तादृशमेव प्रसवे, अपि तु त्र्यहम् । पूर्वश्लोकार्धव्यहशेषतयाऽनूच्यते । अत एवोपस्पृश्येति स्नानमुच्यते, "स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्" इति वचनाच्चाचमनम् ।

पुत्रे तु जाते तदहः स्पृश्यतैवेति केचित् । तथा च शङ्ख आह "कुमारप्रसवे नाड्यामच्छिन्नायां गुडतिलहिरण्यवस्त्रप्रावरणगोधान्यप्रतिग्रहेष्वदोषस्तदहरित्येके" ॥

"तस्मात्स दिवसः पुण्यः पितृणां प्रीतिवर्धनः । स्मरणाच्चैव पूर्वेषां तदहर्नं प्रदुष्यति" इति । तथा श्राद्धमप्येके कुर्वन्तीति च । अनेन पितुः सर्वथाऽऽशौचाभाव एव । तत्रैते स्मृती पूर्ववद्वृत्तिसदसद्भावापेक्षया विकल्प्येते ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निरस्य स्वस्त्रीव्यतिरिक्तस्त्रीषु प्रक्षिप्य उपस्पृश्य स्नात्वा । एतच्च शुद्धेहेतुमात्रम् । प्रायश्चित्तं त्वन्यदेव । एतच्च स्नानं यथोक्तं मृज्जलशौचं कृत्वा कर्तव्यम् । बैजिकादिति । स्वस्त्रीव्यतिरिक्तस्त्रीषु जनितानां प्रसवमरणयोर्बीजसंबन्धात् व्यहमघमाशौचमनुरुन्ध्यात् । 'बैजिकादि'ति दशाहाशौचाभावार्थं बीजमात्रसंबन्धो नतु स्वभार्याद्वारापि संबन्ध इति तात्पर्येणोक्तम् ॥६३॥

(३) कुल्लूकः । 'स्नानं मैथुनिनः स्मृत' (५/१४४) मिति मैथुने स्नानं विधास्यति । तेन मैथुनं विनाऽपि कामतो रेतःस्खलने स्नात्वा पुमाञ्छुद्धो भवति । अकामतस्तु स्वप्नादौ रेतःपाते 'मूत्रवद्रेतस उत्सर्ग' इत्यापस्तम्बोक्तेः स्नानं विनाऽपि गृहस्थस्य शुद्धिः । ब्रह्मचारिणस्त्वकामतोऽपि 'स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी' (२/१८१) इत्यनेन स्नानादिना शुद्धिरुक्ता; बैजिके तु संबन्धे परपूर्वभार्यायामपत्योत्पत्तौ व्यहमाशौचं भवति । तथा च विष्णुः—'परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम् । रेतःपातिनामाशौचमप्रकृतमपि जननप्रकरणे प्रसङ्गात्तदनुगुणतयोक्तम् । यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानं तत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमुचितम्' ॥६३॥

(४) राघवानन्दः । 'स्नानं मैथुनिनः 'स्मृत' मित्यृतुकालमैथुने स्नानं विधास्यति, तदृते तु कामतो रेतःस्कन्दने स्नानं; स्वप्ने तु 'न स्नानं गृहस्थस्य सूत्रव'दिति वदन् यत्किञ्चिद्विधत्ते निरस्य त्विति । निरस्य मैथुनेन योनावृत्तौ नियोज्योपस्पृश्य स्नात्वा अन्यत्र 'मूत्रवद्रेत-उत्सर्ग' इत्यापस्तम्बोक्तेः । परभार्यायामपत्योत्पत्तौ व्यहमाशौचं स्यादित्याह बैजिकादिति । सपिण्डतादिसंबन्धासत्त्वेन बीजरेतःसंबन्धे हेतुर्यत्रापत्योत्पत्तौ तस्मादघमाशौचमनुरुन्ध्यात्कुर्यात् । तथा च विष्णुः—'परपूर्वासु भार्यासु त्रिरात्रं रेतःपाते तु मूत्रवदि'ति ॥६३॥

(५) नन्दनः । शुक्रं निरस्य गर्भाधानं कृत्वेति यावत् । उपस्पृश्य स्नात्वा । पुमान्पिता शुचिः स्याच्छुध्यति । गर्भाधानं कृत्वा तदानीमेव स्नातस्यापि जननाशौचसंबन्धो न भवतीत्यर्थः । सूतिकामस्पृशतोऽयं पक्ष उक्तः । स्पृशतस्तु गुणवत्तमस्याऽपि दशरात्रमेवैतदित्यवगन्तव्यम् । स्मृत्यन्तरानुरोधात्पक्षान्तरमाह बैजिकादिति । अघमाशौचम् अनुरुन्ध्यात्कुर्यात् ॥६३॥

(६) रामचन्द्रः । पुमान् शुक्रं निरस्य योनौ पातयित्वा उपस्पृश्य स्नात्वा शुध्यति, ऋतुशंकित्वात् । बैजिकादेव संबन्धात् स्वस्त्रीव्यतिरिक्तस्त्रीषु जनितानां प्रजनमरणयोर्बीजसंबन्धात् त्र्यहं त्रिदिनपर्यन्तं अघं आशौचं अनुरुन्ध्यात् । बैजिकादिति दशाहाशौचाभावार्थं बीजमात्रसंबन्धः । नतु स्वभार्याद्वारा संबन्ध इति तात्पर्यार्थः ॥६३॥

(७) मणिरामः । प्रसंगाद्रेतःपाते शुद्धिमाह निरस्येति । शुक्रं वीर्यं निरस्य कामतः । उपस्पृश्य स्नात्वा । अकामतस्तु स्वप्नादौ रेतःपाते स्नानं विनापि शुद्धिः । 'मूत्रवद्रेतःसमुत्सर्ग' इत्यापस्तम्बोक्तेः । इदं गृहस्थस्य, ब्रह्मचारिणस्तु स्नानं 'स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी'ति स्नानस्योक्तत्वात् । बैजिकादिभिः संबन्धात् बीजजनितसंबन्धात् । निकृष्टं स्वपतिं त्यक्त्वाकृष्टमन्यं पतिमङ्गीकरोति सा परपूर्वा तस्यां बैजिके तु संबन्धे अपत्योत्पत्तौ दिनत्रयं अघं अशुचितारूपं अनुरुन्ध्यात् जानीयात् । तथा च यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानं तत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमित्यर्थः ॥६३॥

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ॥

शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रयस्त्रिरात्रा नवाहानि । एकेन च अह्ना एकया च रात्र्या अहोरात्रः । एवं दशाहो वृत्तानुरोधादेवमुपदिष्टः । शवस्पृशः शवस्य स्नानालङ्कारा-
दिकारिणः । अन्येषां स्नानमात्रं वक्ष्यति तन्निर्यापिकानां च । तथा च प्रकटीकरिष्यति
“प्रेताहारैः समम्” (५/६५) इत्यत्र । एतच्च समानोदकानां, मूत्रेण वा निर्हरताम् ।

अनाथनिर्हरणे तु स्मृत्यन्तरे—

“न तेषामशुभं किञ्चिन्नाशौचं शुभकर्मणाम् । जलावगाहनात्तेषां सद्यःशौचं विधीयते ।”

यत्तु ‘असपिण्डं द्विजमिति’ (५/१०१) तत्रैव वक्ष्यामः । उदकदायिनः समानोदकाः ।
तेषां च “पृथक्पिण्डे च संस्थिते” इति सद्यःशौचमपि वक्ष्यते । तत्र विकल्पः । सपिण्डेष्वेत-
दस्वाध्यायाद्यपेक्षम् ॥६४॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अह्नैकेन रात्र्या अहोरात्रेणेत्यर्थः । त्रिरात्रैस्त्रिभिर्नवरात्रेणेत्येवं
दशभिर्दिनैः शवस्पृशो धनाभिसंधिना शवस्पृशो वह्नादिकर्तारो विशुद्ध्यन्ति ।
एतदाशौचमुक्तम्, प्रायश्चित्तं तु स्मृत्यन्तरोक्तम् । उदकदायिनः समानोदकाः ।
समानोदकमरणे त्र्यहाच्छुध्यन्ति ॥६४॥

(३) कुल्लूकः । एकेनाह्नैकया च रात्र्येत्यहोरात्रेण त्रिरात्रैस्त्रिभिरिति नवाहो-
रात्रैर्मिलित्वा दशाहेनेति वैदग्ध्येनोक्तम् । ननु दशाहेनेति वक्तव्ये किमर्थोऽयं वाग्विस्तरः ?
उच्यते ॥—‘बृंह्यसीं लघिष्ठां वा गिरं निर्मान्ति वाग्मिनः । न चावश्यत्वमेतेषां लघूक्त्यैव
नियम्यते ॥’ वृत्तस्वाध्यायगुणयागेन ये सपिण्डा एकाहाद्यल्पाशौचयोग्यास्ते यदि स्नेहादिना
शवस्पृशो भवन्ति तदा दशाहेनैव शुध्यन्ति, उदकदायिनः पुनः समानोदकास्त्वहेण । गोविन्द-
राजस्तु धनग्रहणपूर्वकशवनिर्हारकसंबन्धिब्राह्मणविषयमिदं दशाहाशौचमाह ॥६४॥

(४) राघवानन्दः । अह्ना चेति । स्वाध्यायगुणयोगिनोऽसपिण्डास्ते शवस्पृशः शवस्य
स्नानालङ्कारकारिणोऽह्ना एकाहोरात्रेण हीनतराश्च त्रिरात्रैः निर्गुणाश्च दशरात्रेण
शुध्येयुरिति । उदकदायिनः समानोदकाः त्र्यहादिति । दशरात्रैर्धनग्रहणपूर्वकशवस्पृशोऽल्प-
शौचयोग्या अपि शुद्ध्येयुरिति गोविन्दः । ‘त्रिरात्रैरेव च त्रिभि’रिति नवाहोभिः रात्र्या चेत्येकं
तथाच दशरात्रयः तैः शुध्येयुरिति मेधातिथिः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । रजन्याऽह्नैव चैकेनेत्यहोरात्रस्य निर्देशः । ‘त्रिरात्रैरेव च त्रिभि’रिति
नवरात्रस्य संहृत्य दशभिर्नवाहोरात्रैरिति यावत् । उक्तवैचित्र्यमिदम् । शवस्पृशश्चेद्गुणवत्तमा
अपि सपिण्डा दशाहेनैव शुध्यन्तीति । उदकदायिनः समानोदकाः ॥६४॥

(६) रामचन्द्रः । एकेनाह्ना रात्र्या चैकया एवमेकं दिनं त्रिरात्रैः तिसृषु रात्रिभिस्त्रि-
गुणितैः एवं नवभिः एवं दशदिनपर्यन्तं शवस्पृशः मौल्येन शववाहकाः विशुद्ध्यन्ति, उदकदायिनः
सपिण्डाः त्र्यहाच्छुध्यन्ति ॥६४॥

(७) मणिरामः । एकेन अह्ना रात्र्या च एकया एकाहोरात्रेणेत्यर्थः । त्रिभिः त्रिरात्रैः नवाहोरात्रैः मिलित्वा दशाहेनेति चातुर्येणोक्तं । ये सपिण्डाः एकाहाद्यल्पाशौचयोग्याः तेऽपि स्नेहादिना यदि शवस्पृशो भवन्ति तदा दशाहेनैव शुद्ध्यन्ति । उदकदायिनः सोदकाः ते चेदेतादृशास्तदा व्यहेण शुद्ध्यन्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ॥

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृमेधः चरमेष्टिः । अन्ये तु सर्वं कर्मैव लक्ष्यत इति प्राहुः । तत्कुर्वन् शिष्यो दशरात्रेण शुध्यति । ब्रह्मचारिणोऽप्ययं विधिरस्त्येव । प्रेताहारैः समः । प्रेतं हरन्ति निर्यापयन्ति तथा तेषां दशाहः, एवं शिष्यस्यापीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरोराचार्यस्य सपिण्डपुत्राद्यभावे पितृमेधं स्वयं कुर्वन् दशाहमाशौचं कुर्यात् । ईदृशे चासपिण्डशिष्यकर्तृके संस्कारे ये प्रेतहराः प्रेतवाहकास्तेऽपि धनाद्यभिसंधिशून्यत्वेऽपि तावदाशौचिन इति प्रेतहारैः सममित्यनेनोक्तम् ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । गुरोराचार्यदिरसपिण्डस्य मृतस्य शिष्योऽन्त्येष्टिं कृत्वा प्रेतनिर्हारकैर्गुह्यसपिण्डैस्तुल्ये दशरात्रेण शुद्धो भवति ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च गुरोरिति । यद्यसपिण्डस्य प्रेतस्य मृतस्य पितृमेधमन्त्येष्टिं कृत्वा शिष्यः प्रेतहारैः सपिण्डैः । समं तुल्यः अतो दशरात्रेण शुध्यति ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । शिष्योऽसपिण्डोऽपि प्रेतहारैः प्रेतान्नभोजिभिः, सपिण्डैरिति यावत् । एवं वदता गुणवत्तमानामपि प्रेतहाराणां दशाहमेवाशौचमिति सूचितम् ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिष्यः प्रेतस्य गुरोः पितृक्रियां समाचरेत् प्रेतहारैः प्रेतवाहकैः समं मिलित्वा ॥ ६५ ॥

(७) मणिरामः । गुरोः प्रेतस्य असपिण्डस्य आचार्यदिः मृतस्य । शिष्यस्तु पितृमेधं प्रेतक्रियां समाचरन् कुर्वन् प्रेतहारैः गुरोः सपिण्डैः दशरात्रेण शुद्धो भवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे विशुध्यति ॥

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । गर्भस्त्रावे गर्भमाससमा रात्रीः स्त्रिया एव शुद्धिर्युक्ता, इह वाक्ये तस्याः श्रुतत्वात् । सपिण्डानां तु स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेषणीयौ । वसिष्ठेन तु सपिण्डानां व्यहः सामानातः (४-३४) “ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने सपिण्डानां त्रिरात्रमशौचम्” । स्त्रावस्तु गर्भस्य मासत्रयादूर्ध्वं प्राग्दशमान्मासात् । केचित्तु प्राङ्गनवमादित्याहुः । अप्राप्तकालस्य पातः ‘स्त्राव’ उच्यते । न पुनर्द्रवरूपस्यैव । तथा गौतमेन गर्भविलसने (अ० १४ ब्रू० १५) ‘गर्भमाससमा रात्री’रिति पठितम् ।

सप्तमास्याश्च जीवन्ति । अतः सप्तमे मासे पूर्णमाशौचम् । एतत्तु जीवतो जातस्य युक्तम्, अन्यथा तु गर्भमाससमा इत्येव । इह रजस्वलाया रजस्युपरते स्नानेन शुद्धिरास्नाता । स्मृत्यन्तरे ल्यहादूर्ध्वम् । तत्रैवं व्यवस्था । प्राक्ल्यहाद्रजोनिवृत्तावपि नास्ति शुद्धिरूर्ध्वमनुपरतेऽपि भवति । किंतु 'विशुद्धयतीति' प्रकृते पुनः 'साध्वीति' वचनादनिवृत्ते रजसि वैदिककर्माधिकारानुप्रवेशो नास्ति, न पुनः स्पर्शादिनिषेधः । उक्तम् "आद्याश्चतस्रो निन्दिताः", इति । रजस्वला स्त्री रजस्युपरते स्नानेन साध्वी भवति । शुद्धा कर्मयोग्येत्येवं पदयोजना । स्त्रीग्रहणं वर्णमात्रस्वयर्थम् । पूर्वे तु श्लोका ब्राह्मणविषया व्याख्यातास्तदाशङ्कानिवृत्यर्थं स्त्रीग्रहणम् । उत्तरत्रापि यत्र विशेषप्रमाणं नास्ति तत्रापि वर्णमात्रविषयतैव, यथा "नृणामकृतचूडानाम्" (५।६७) इति ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । 'अर्वाक् षण्मासतः स्त्रीणा'मिति ब्राह्मवचनात् षण्मासमध्य एव स्नावः तत्र मासतुल्याभिः स्नावसंबन्धिमाससमसङ्ख्याभिः स्त्री शुद्धयति । शुचिकर्त्तृकाङ्क्षायां स्त्रीपदस्योत्तरार्धस्थस्यान्वयात् । अत एव सपिण्डान्तराणां सद्यःशौचम् । रात्रिभिरिति बहुवचनाच्चाद्यद्वितीयमासयोरपि स्नावे त्रिरात्राशौचम् । तत्र तु मासतुल्याभिरिति नान्वीयते, अयोग्यत्वात् । रजस्वला तु स्त्री रजस्युपरते स्नाता सती धर्मकार्येषु शुद्धयति, यदि सा साध्वी भवति मनसापि पतिं न व्यभिचरति; अन्यथा त्वागामिरजःपर्यन्तमेव तस्या आशौचमित्यर्थः । रजस्युपरत इति वचनादनुपरते रजसि चतुर्थेऽह्नि स्नातापि न धर्मकृत्ये शुध्यतीत्युक्तम् ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र रात्रिभिरिति विधेयगामिनो बहुत्वस्य विवक्षितत्वात्तृतीयमासात्प्रभृति गर्भस्नावे गर्भमासतुल्याहोरात्रैर्विशेषाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यस्त्री विशुध्यति । एतच्च षण्मासपर्यन्तम् । यथोक्तमादिपुराणे 'षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्नावो भवेद्यदि । तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ।' मेधातिथिगोविन्दराजादयस्त्वादिपुराणे वचनादर्शनात्सप्तमासादवर्गगर्भस्नावे मासतुल्याहोरात्रं स्त्रीणां विशुद्धिरित्यतिदिशन्ति । प्रथमद्वितीयमासीयगर्भस्नावे स्त्रीणां त्रिरात्रम् । यथाह हारीतः 'गर्भस्नावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयो रजोविशेषत्वात् । पित्वादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यःशौचम् ।' यथाह सुमन्तुः— 'गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्त्रवणे सद्यःशौचं वा भवति' । गर्भमासतुल्या इति स्त्रीविषयं, सद्यःशौचं वेति पित्वादिसपिण्डविषयमिति व्यवस्थितविकल्पः । रजस्वला च स्त्री रजसि निवृत्ते सति पञ्चमे दिने स्नानेनादृष्टार्थकल्पनयोग्या भवति । स्पर्शयोग्या तु त्रिरात्रव्यपगमे चतुर्थेऽह्नि कृतस्नानेनैव शुद्धा भवति ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच रात्रिभिरिति । मासद्वयाभ्यन्तरे त्रिरात्रं बहुवचनवशात् तृतीयमासप्रभृति षण्मासपर्यन्तं मासतुल्याहोरात्रैः स्त्री शुध्यति, अत ऊर्ध्वं स्वजातिक्रमेण । 'सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवती'ति (गर्भोप० ३) गर्भोपनिषत्श्रुतेर्जीवावेशात्पूर्णाशौचम् । अतः 'षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्नावो भवेद्यदि । तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते । अत ऊर्ध्वं स्वजात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते' इत्यादित्यपुराणोक्तेः । तथा 'गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भस्नावे सद्यःशौचं वा भवती'ति सुमन्तूक्तेः । गर्भमासतुल्येति सर्ववर्णस्त्रीसाधारणम् ।

सद्य इति पितृसपिण्डानामिति शेषः, 'सपिण्डानां तु त्रिरात्रं वृत्ते गर्भपतने सपिण्डानां त्रिरात्र-
माशौचं' मिति वसिष्ठोक्तेः । ऋतुः स्वाभाविक इत्यत्राशुद्धिस्मृता, न शुद्धिस्तत्राह रजसि
उपरते निवृत्ते स्नानेन मैथुनयोग्या साध्वीति विशेषणात् पञ्चमेऽहनि तासामदृष्टार्था
शुद्धिः । 'शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्ये च पञ्चमेऽहनि
(शुध्यतीति) याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । प्रथमद्वितीययोर्मसियोरार्तवं तृतीयादिषु चतुर्षु गर्भस्त्रावः सप्तमादिषु
मासेषु प्रसव इति प्रसिद्धम् । तत्र तृतीये मासे गर्भस्त्रावे तिस्रो रात्रय आशौचं, चतुर्थे चतस्रः,
पञ्चमे पञ्च, षष्ठे षट्, उत्तरार्धेन रजस्वलाशौचमुच्यते । रजस्युपरते, त्रिरात्रेऽतीत इत्यर्थः ।
स्नानेन विशुध्यतीत्यनुवर्तते ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । गर्भमासतुल्याभिः रात्रिभिरिति बहुवचनात्प्रथमद्वितीयमासयोरपि
स्त्रावे त्रिरात्रं स्त्रिया एवाशौचं, अन्येषां तु सद्यः; पुनः रजसि उपरते निवृत्ते पुनः रजोद्गमे
स्नानेन साध्वी शुद्धा भवेत् । असाध्वी चेदृत्त्वन्तरपर्यन्तमशुद्धा स्यात् ॥ ६६ ॥

(७) मणिरामः । गर्भस्त्रावे तृतीयमासात्प्रभृति गर्भस्त्रावे, ननु प्रथमद्वितीये । विशु-
द्धयति माता । अन्येषां स्नानमात्रेणैव शुद्धिः । एतच्च पण्मासपर्यन्तं । रजस्वला स्त्री
रजस्युपरते रजसि निवृत्ते सति पञ्चमे दिने स्नानेन साध्वी अदृष्टार्थकर्मयोग्या भवति, स्पर्शयोग्या
तु चतुर्थेऽहन्येव कृतस्नाना भवतीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ॥

निर्वृत्तमुण्डकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

[प्राक्संस्कारप्रसूतानां वर्णानामविशेषतः । त्रिरात्रात् भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्नौ विधीयते ॥ १ ॥]
[आदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता । त्रिरात्रमावृता देशात् दशरात्रमतः परम् ॥ २ ॥]
[परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च । मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वसपिण्डतः ॥ ३ ॥]

(१) मेधातिथिः । इमाः षष्ठीः "कर्तृकर्मणोः कृतीति" कर्तृलक्षणाः केचिद्व्याचक्षते ।
'अकृतचूड एकाहेन शुद्धयति' । तथा वयोवस्थापेक्षोऽपि विकल्प इत्येकीयमतमुक्तम् । तस्यैव
श्लोकस्य व्यवस्थावाक्ये इमे । अन्ये त्वध्याहारेण सम्बन्धलक्षणा आहुः ।

अकृतमुण्डानां मृतानां ये सपिण्डाः । तत्रोत्तरपक्षः समाचाराभिप्रेतः । स्मृत्यन्तरे
सद्यःशौचमप्याम्नातम् । विषयस्तत्रैव दर्शितः । 'आ दन्तजन्मनः सद्यः आ चूडान्नैशिकी
निर्वृत्तचूडकानां त्रिरात्र'मिति ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकृतचूडानां मरणे नैशिकी निशाव्यापिनी एकाहोरात्रमशुद्धि-
रित्यर्थः । अत्र चादन्तजातमरणेऽपि प्रागाशौचमात्रस्योक्तत्वादेकाहापकर्षः । सद्यःशौचमेवा-
शौचं, तच्च स्नानपर्यन्ताशौचम् । निर्वृत्तचूडकानां प्रागुपनयनान्मरणे त्रिरात्रं 'ऊनद्विवार्षिक'-
(५।६८) मित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् कृतचूडापदं पूर्णद्विवर्षतोपलक्षणम् ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । अकृतचूडानां बालानां मरणे सपिण्डानामहोरात्रेण शुद्धिर्भवति । कृतचूडानां तु मरणे प्रागुपनयनकालात् त्रिरात्रेण शुद्धिः ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च नृणामिति । नैशिकी एकाहोरात्रनिर्वृत्या । यदाह याज्ञवल्क्यः (आशौच ० २३) 'आ दन्तजननात्सद्य आ चूडानैशिकी स्मृता । त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्र-मतःपर'मिति सर्वमेतदुचितकालपरम् ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । अकृतचौलानामप्राप्ततृतीयवर्षाणां पष्ठमासाद्ध्वं मरणे ज्ञातीनां शुद्धिनैशिकी । आशौचमेकरात्रं निर्वृत्तचौलकानां । प्राप्ततृतीयवर्षाणां सप्तमवर्षात्प्रादुर्भवेन त्रिरात्रमाशौचम् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नृणां बालानां अकृतचूडानां नैशिकी स्मृता निर्वृत्तचूडकानां आ व्रतादेशात् आ व्रतबन्धात् त्रिरात्राच्च शुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

(७) मणिरामः । नैशिकी एकाहोरात्रेण निर्वृत्तचूडकानां कृतचूडानां, उपनयनात् प्राक् त्रिरात्रेणेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

ऊनद्विर्वाषिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ॥

अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । ऊने असंस्कृतस्य द्वे वर्षे यस्य जातस्य गते, स उच्यते ऊनद्विर्वाषिक-कस्तं प्रेतं बान्धवा बहिर्ग्रामं निदध्युर्भूमौ निखातायां स्थापयेयुः ।

स्मृत्यन्तरे निखनेदिति पठ्यते । अलंकृत्य प्रेतालंकारैः । ऊनद्विवर्षेऽपि श्रूयमाणोऽलंकारः समाचारात्कृतोपनयनादावपि विज्ञेयः ।

शुचौ यत्तास्थीनि भूप्रदेशे न सन्ति । अस्थिसंचयरहितत्वेन या शुद्धा तत्र निखाय स्थाप्यः । श्मशाने किलास्थीनि संचितानि भवन्ति । अत एतेन वचनेन ततोऽन्यत्र निधानमुच्यते । न पुनस्तादृशस्यास्थिसंचयो न कर्तव्य इत्येव वाक्यार्थः । अग्निसंस्काराभावादेव तदप्राप्तेः ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बहिर्ग्रामाद्भूमौ निदध्युरिति निखननमुक्तम् । अलंकृत्य स्रगादिना । अस्थिसंचयनादृते मांसापगमानन्तरमपि तत्र कार्यमित्यर्थः ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । असंपूर्णद्विवर्षं बालं मृतकृतचूडं मालादिभिरलंकृत्य ग्रामाद्वहिः कृत्वा विशुद्धायां भूमौ कालांतरे शीर्णदेहतया शक्यमस्थिसंचयनवर्जं बान्धवाः प्रक्षिपेयुः । विश्व-रूपस्तु 'यस्यां भूमावन्यस्यास्थिसंचयनं न कृतं तस्यां निदध्यु'रिति व्याचष्टे ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । असंपूर्णद्विवर्षस्य कृत्यमाह ऊनेति द्वाभ्यां । अलंकृत्य माल्या-दिभिः । अस्थिसंचयनादृते दाहाभावादस्थिसंचयनाप्राप्तेः 'शुद्धायां भूमौ निक्षिपेदिति विश्वरूपः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । ऊनद्विवाषिकमसंपूर्णद्वितीयवर्षम् । निदध्युनिखनेयुः । बहिर्ग्रामसीम्नः अस्थिसञ्चयनादृते अस्थिसञ्चयनरहितायां भूमावित्यर्थः ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऊनद्विवाषिकं ऊने अपरिपूर्णे द्वे वर्षे यस्यासौ ऊनद्विवाषिकः तं प्रेतं शुचौ भूमौ अवटं गर्तं कृत्वा गन्धमाल्यादिभिरलंकृत्य श्मशानादेर्वह्निदध्युः स्थापयेयुः; बान्धवाः अस्थिसञ्चयनादृते अस्थिसञ्चयनं न कर्तव्यम् । ब्रह्मपुराणे 'विप्रे द्विवर्षन्यूने तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकी । द्यूहात्तु क्षत्रिये शुद्धिस्त्रिभिर्वैश्ये मृते सति ॥ निर्वृत्तचूडके विप्रे त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते । निर्वृत्ते क्षत्रिये षड्भिर्वैश्ये नवभिरेव च ॥ शूद्रे द्विवर्षन्यूने तु मृते शुद्धिस्तु पञ्चभिः । अत ऊर्ध्वं मृते शूद्रे द्वादशाहाद्विशुध्यति ॥ 'षड्वर्षान्तमतीतो यः शूद्रश्चेन्म्रियते यदि ॥ मासिकं चे'त्याङ्गिरसभाषितम् ॥ ६८ ॥

(७) मणिरामः । ऊनद्विवाषिकं असंपूर्णद्विवर्षं । अकृतचौडं । बहिः ग्रामात्, भूमौ । निदध्युः प्रक्षिपेयुः ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ॥

अरण्ये काष्ठवत्यक्त्वा क्षपेत त्र्यहमेव तु ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । काष्ठवदिति निरपेक्षतामाह । श्राद्धमपि न कर्तव्यं न चोदकम् । उदकक्रियानिषेधेन श्राद्धनिषेधः सिद्धः, अङ्गाङ्गिभावात् । अतः समाचारप्रसिद्धः श्राद्धनिषेधो लिङ्गेन साधयितव्यः ।

अन्ये तु स्मृत्यन्तरदृष्टनिखननप्रतिषेधार्थं वर्णयन्ति । ततश्च विकल्पः । क्षपेत उदास्येत शास्त्रचोदितं व्यापारं न कुर्यात् ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदकक्रिया पिण्डमप्युपलक्षयति काष्ठवदिति । यमसूक्त- (ऋ. सं. ७।६।१४) पाठादिस्मृत्यन्तरसिद्धमनुप्रेतस्य कार्यमपि न कर्तव्यमित्यर्थः । अरण्य इति चारण्यमध्य एव निखननं मुख्यं तदभावे बहिर्ग्रामादिति दर्शितम् । क्षपेयुः क्षपयेत्यहमाशौचेन तच्छवनिखननकारिणः सपिण्डाः, इतरसपिण्डानां तु यथोक्तमेव ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्यो न द्विवाषिकस्याग्निसंस्कारो न कर्तव्यः, नाप्युदकक्रिया कर्तव्या । उदकदाननिषेधोऽयं श्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यनिवृत्त्यर्थः । कित्वा अरण्ये काष्ठवत्परित्यज्य काष्ठवदिति शोकाभावोऽभिहितः । यथाऽरण्ये काष्ठं परित्यज्य शोको न भवति । एवं त्यक्त्वा त्र्यहं क्षपेत् त्र्यहाशौचं कुर्यात् । अयं चाकृतचूडस्य त्र्यहाशौचविधिः । पूर्वोक्तैकाहाशौचविकल्पपरः; सच व्यवस्थितो वृत्तस्याध्यायादियुक्तस्यैकाहः । तद्रहितस्य त्र्यहः । यद्यपि मनुना परित्यागमात्रं विहितं तथापि 'ऊनद्विवर्षं निखने'दिति (आशौच० ११) याज्ञवल्क्यवचनाद्विशुद्धभूमौ निखायैव त्यक्तव्यः ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह नेति । अरण्ये काष्ठवदिति स्थानविकल्प उपेक्षायां दृष्टान्तो वा । ऊनद्विवर्षस्य कृतचूडस्य त्र्यहमाशौचमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । अस्योनद्विवार्षिकस्य निखातस्य प्रेतस्य न केवलं निखननमेव संस्कारः किंतु त्यागोऽप्युत्तरार्धेनोच्यते । नियमैः कालयापनं क्षपणम् । अथहमाशौचवान्भवेदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य ऊनद्विवर्षस्य अग्निसंस्कारो न कर्तव्यः । उदकक्रिया जलाञ्जलिक्रिया न कर्तव्या । अरण्ये काष्ठवदमन्त्रपूर्वकं त्यक्त्वा अथहं त्रिदिनपर्यन्तं आशौचं क्षपेरन् क्षपेयुः ॥ ६९ ॥

(७) मणिरामः । अस्य ऊनद्विवार्षिकस्य । अथहं क्षपेयुः व्यहाशौचं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ॥

जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । आ त्रिवर्षस्येति । आ तृतीयाद्वर्षात् प्रतिषेधः । न पुनश्चतुर्वर्षादौ एवमर्थमेवादिशब्दं केचित्पठन्ति । नात्रिवर्षस्य कर्तव्या त्रिवर्षादिरिति । समाचारश्चैवमेव । जातदन्तस्य वा कुर्युः उदकक्रियासाहचर्यादग्निसंस्कारोऽभ्यनुज्ञायते । ननु च विकल्पे कामचारः, तत्र कः प्रयाससाध्यं चित्तक्षयकरमनुष्ठानपक्षमाश्रयेत् ? व्यर्थस्तदुपदेशः । उच्यते—सर्वविलक्षणोऽयं पित्रोरधिकारः । प्रेतोपकारार्थमेतत् क्रियते, न नैमित्तिकत्वादवश्यकर्तव्यमित्येतत्प्रागेवोक्तम् । तत्रावश्यकर्तव्यप्रतिषेधोऽस्तीति इह निश्चीयते । प्रेतोपकारार्थत्वमस्तीत्यभ्यनुज्ञानेन ज्ञाप्यते । तत्राकरणे नास्ति विध्यतिक्रमः । प्रेतोपकारस्त्वनुष्ठानाद्भवतीति विधिप्रतिषेधयोर्नासमञ्जस्यम् ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नात्रिवर्षस्येति । अत्रोनद्विवर्षस्योदकक्रियां निषिद्धामनूद्य प्रेताभ्युदयार्थित्वेन सा पुनर्न विधीयते । अत्रिवर्षः अप्रविष्टतृतीयवर्षः । जातदन्तस्य वा कुर्युरिति स्त्रीविषयम्; तेन स्त्रियां जातदन्तायां मृतायां तदभ्युदयार्थित्वे उदकं कार्यम् । अनिर्दिष्टविशेषत्वाच्च नपुंसकलिङ्गेनाभिधानं शवविशेषतया चेति । नाम्नि वापीति पुत्रविषयम्; तस्य जन्ममात्रेणातिशयितोपकारकारित्वात् । नामव्यतिरेकेण चोदकदानानुपपत्तेर्नामकरणानन्तरं प्रेताभ्युदयार्थमुदकदानम् ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । अप्राप्ततृतीयवर्षस्य पित्रादिसपिण्डैरुदकक्रिया न कर्तव्येति पूर्वत्र निषिद्धाप्युत्तरार्थमनूद्यते । जातदन्तस्य वोदकदानं कर्तव्यम् । नामकरणे वा कृते उदकक्रियासाहचर्यादग्निसंस्कारोऽप्यनुज्ञामात्रम्, प्रेतपिण्डश्चाद्वैदिकं च यद्यप्यकरणसंभवे करणं क्लेशावहं, तथापि करणाकरणयोराम्नानाज्जातदन्तकृतनाम्नोः करणे प्रेतोपकारो भवति, अकरणे प्रत्यवायाभाव इत्यवगम्यते ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । अप्राप्ततृतीयवर्षस्य जातदन्तस्य कृतनाम्न उदकक्रियास्ति । तथा चाग्निसंस्कारप्रतश्चाद्धे उपलक्षिते तेषां करणाकरणयोराम्नातत्वात्करणे प्रेतोपकारोऽकरणे न प्रत्यवाय इति भावः । तत्रोदकक्रिया 'अप नः शोशुचदधम्' इत्यनेन मन्त्रेण । एवं मातामहाचार्यप्रेतानामुदकक्रिया । 'कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्त्रीयश्वशुरत्विजाम्' इति (आशौच० ४) याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । त्यागपक्षे किमुदकक्रिया कार्या न वेति चोदनायामाह नात्रिवर्षस्येति । उत्तरार्धेनोदकक्रिया कार्येति गृह्यते कुर्युदकक्रियामिति विभक्तिविपरिणामः ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । अत्रिवर्षस्येति अपरिपूर्णत्रिवर्षस्य बान्धवैरुदकक्रिया न कर्तव्या, जातदन्तस्य स्त्रीशावस्य ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ॥

जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । सब्रह्मचारी समानचरणोऽत एकोदका रुद्ध्या आसपिण्डेभ्यः परिगृह्यन्ते । तेषामितरेतरं जन्मनि सूतके त्रिरात्रम् । सद्यःशौचमपि स्मृत्यन्तरादुदकदायिनां विकल्पितं द्रष्टव्यम् ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सब्रह्मचारिणि स्वाध्ययनसमकालं स्वगुरुणोपनीताध्यापिते । एकोदकाः समानोदकाः ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । सहाध्यायिनि मृते एकरात्रमाशौचं कर्तव्यम् । समानोदकानां पुनः पुत्रजनने सति त्रिरात्रेण शुद्धिर्भवति । 'व्यहादुदकदायिन' (५।६४) इति मरणविषयमुक्तम् ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च सेति । सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि अतीते मृते क्षपणमशौचस्य निवृत्तिः । सपिण्डानां दशाहत्वेऽपि समानोदकानां सूतके तन्न्यूनतामाह जन्मनीति 'व्यहादुदकदायिन' (५।६४) इति मरणे उक्तत्वात् ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मणा सह चरतीति सब्रह्मचारी सवेदाध्यायी सहाध्यायी अतीते मृते एकाहं आशौचं क्षपणं स्मृतम् । जन्मन्येकोदकानां त्रिरात्राच्छुद्धिः ॥ ७१ ॥

(७) मणिरामः । सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि । अतीते मृते । क्षपणं अशौचं एकोदकानां सोदकानां । जन्मनि जनने सति ॥ ७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः ॥

यथोक्तैर्नैव कालेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च । मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने ॥ ११ ॥]

(१) मेधातिथिः । असंस्कृता या वाङ्मात्रेण प्रतिगृहीता न च विवाहितास्तासां मरणे बान्धवाः पतिपक्षास्त्रिरात्रेण । सनाभयस्तु सपिण्डाः स्वपितृपक्षा यथोक्तेन कल्पेन "निवृत्तचौडकानामिति" जातेरधिकारात्त्रिरात्रेण । अन्यैस्तूक्तं 'सोदर्या दशरात्रेणे'ति । तेषां चाभिप्रायः—अष्टवर्षायाः कन्याया दानं विहितम् । दत्तायाश्च निवृत्तचौडकव्यपदेशाभावात्पुंस इवोपनीतस्य, तदानीं कल्पान्तरस्यानाम्नानाद्दशाह एव युक्तः । अन्यैस्तु पठितम् "अहस्त्वदत्तकन्यामु बालेषु च विशोधनम्" इति । तत्र व्याख्यातारः पञ्चदशाब्ददेशीयाऽपि या ह्यदत्ता कन्या तिष्ठेत्तदहरेवाशौचम् । मुख्यमाप्नानमतिक्रम्य कालक्षपणे प्रमाणाभावात् ।

तत्रोच्यते-‘बालेषु चेति’ कोऽस्यार्थः? यावता उक्तमेव योगविभागे “आ दन्तजन्मनः सद्य” इति । न चैतेन तद्वाधितुं युक्तम्; सामान्यरूपत्वादस्य, तस्य च विशेषव्यवस्थापन-रूपत्वात् । अतोऽयमेकाहः पृथगुक्तोऽपि आ चूडादेव व्यवतिष्ठते । सामान्यस्य विशेषा-पेक्षत्वात् । तस्मादनार्प एवायमर्धश्लोकः प्रतिपद्यते-स्पर्शविषयतया नेयः । स्पर्शप्रतिषेधो हि मृतकसूतकयोर्बालस्यापि पुंवत्प्राप्तः । तदर्थमेतदुक्तं स्यात् “अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशेषधनम्” इति । एवं च विषयसप्तम्याश्रिता भवति । सा च युक्ता, कारकविभक्ति-त्वात् । इतरथा अध्याहृत्य भावलक्षणा सप्तमी व्याख्यायेत, ‘बालेषु मृतेषु जीवतां शुद्धिरिति’ । न च तदुपस्पर्शनादाशौचमेतेनैतत्सिद्धयतीति । विषयान्तरे तस्य च चरितार्थत्वात्, भूमौ परिवृतत्वात्, भूमौ परिवृतस्य च स्पर्शनासम्भवात् । “अविशेषोक्तौ कुतो विशेष-प्रतिपत्तिरिति” चेत्, -तस्याचमनकल्पो विद्यत इत्येतत्सन्निधौ तादृशस्यैव स्पर्शस्य प्रतीयमानत्वात् । तथा च रजस्वलास्पृष्टिनो बालस्य स्पर्शनं नेच्छन्ति । अथास्य विशेषणं स्यात् । तथा गौतमेन तदुक्तं स्वस्यां स्मृतौ ‘युक्तमेवाधातुमेतस्य । तस्माद्यु-क्तैवाधानकाललक्षणा’ ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असंस्कृतानां अपरिणीतानां वाग्दत्तानां । बान्धवाः पतिपक्षाः यथोक्तेन व्यह्वेन कल्पेन प्रकारेण वाग्दत्तानामेव स्त्रीणां सनाभयो जातयः ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवाः भर्त्रादयस्त्र्यहेन शुध्यन्ति, वाग्दानं विना भर्तृपक्षे संबन्धाभावात् । आश्रुतमपि वाग्दानान्तर्पर्यन्तं बोद्धव्यम् । सनाभयः पितृपक्षा वाग्दत्तानां विवाहादवर्ज्यमरणे ‘यथोक्तेनैव कल्पेन’ इत्येतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तेन त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यन्तीत्यर्थः । तदुक्तमादिपुराणे ‘आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते । सद्यःशौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः । ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि । अतःपरं प्रवृद्धानां त्रिरात्रमिति निश्चयः । वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयं चोभयतस्त्र्यहम् । पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि । स्वजात्युक्तमशौचं स्यान्मृतके सूतकेऽपि च ।’ मेधातिथिगोविन्दराजौ तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति ‘नृणामकृतचूडानां’ इत्येतदुक्तेन विधिना शुद्ध्यन्तीति व्याचक्षाते । अत्र च व्याख्याने पुत्रवत्कन्यायामपि चूडाकरणादूर्ध्वं मरणे व्यह्वशौचं स्यात् । तच्चादि-पुराणाद्यनेकवचनविरुद्धम् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च स्त्रीणामिति । असंस्कृतानां केवलं वाग्दत्तानां बान्धवाः भर्तुः संबन्धिनः वाग्दानं विना भर्तृपक्षैः संबन्धाभावात् इति भावः । ‘दत्तानां भर्तुरेव ही’ति भर्तृपक्षाणां केवलं तासां । अपितु पितृपक्षा अपि व्यह्वच्छुद्ध्यन्तीत्याह यथेति । सनाभयः सपिण्डाः यथोक्तेन त्रिरात्रेण । अवाग्दत्तानां तु ‘अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशेषधन-’मिति । अत्र अष्टवर्षाद्यूना कन्या बालश्च द्विवर्षान्यूनः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । असंस्कृतानामनूढानां चौलादूर्ध्वं मरणे सनाभयः सोदरा यथोक्तेन दशरात्रेण शुध्यन्ति ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणां कन्यकानां असंस्कृतानां अपरिणीतानां वाग्दत्तानां बान्धवाः पतिपक्षीयाः व्यह्वच्छुद्ध्यन्ति-तद्यथा-अकृतचूडायां सद्यःशौचं वाग्दानादूर्ध्वं

संस्कारात्प्राक्पतिपक्षे पितृपक्षे च त्रिरात्रमेव । संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं पितृपक्षे । प्रसवमरणे चेत्पितृगृहे प्रसव एकरात्रं मरणे त्रिरात्रमित्यर्थः । यथोक्तेन त्र्यहेन कल्पेन प्रकारेण सनाभयः भ्रात्रादयः शुध्यन्ति ॥ ७२ ॥

(७) मणिरामः । असंस्कृतानां अविवाहितानां वाग्दत्तानां । बांधवाः भर्त्रादयः त्र्यहेण शुद्ध्यन्ति । सनाभयः पितृपक्षाः । वाग्दत्तानां विवाहाद्दूर्ध्वमपि मरणे यथोक्तेनैव कल्पेन पूर्वार्धश्लोकोक्तेनैव त्र्यहेण शुद्ध्यन्तीत्यर्थः आदिपुराणे स्पष्टो द्रष्टव्यः ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् ॥

मांसाशनं च नाशनीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षारलवणम् । यवक्षारादि'क्षारम्' । 'लवणं' सैन्धवादि । तन्न भुञ्जीरन् । लवणविशेषणं वा क्षारग्रहणं तेन सैन्धवस्य न प्रतिषेधः ।

निमज्जनं च नदीतडागादौ च तीर्थस्नानमङ्गपरिघर्षणादिवर्जनम् । मांसाशनं च यावदाशौचं स्मृत्यन्तरात्प्रतिषिध्यते । एवं पठ्यते "न स्त्रियमुपेयुर्न मार्जयेयुर्न मांसमशनीयुः" । गृह्यकारस्तु "व्यहमनश्नन्त आसीरन् क्रीतोत्पन्नेन वा वर्तेरन्" इत्याह । शयीरंश्च स्थण्डिले परसङ्गवर्जम् । सूतकेऽपि ब्रह्मचर्यं स्मृत्यन्तरे प्रदर्शितम् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षारः सर्जिकादिः लवणं सैन्धवादि तदन्यान्नाशनाः । निमज्जेयुर्दकदानार्थम् । ते सपिण्डाः । व्यहमिति दशाहस्नानाशक्तौ निमज्जनमात्रेणान्वीयते । अन्यत्तु सर्वं यावद्दशाहमेव । मांसाशनं मांसरूपमशनीयम् । पृथगेकैकं क्षितौ क्षितिस्पृष्ट-सस्तरादौ न खट्वादौ ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षारलवणं कृत्रिमलवणं तद्रहितमन्नमशनीयुः । त्रिरात्रं नद्यादौ स्नान-माचरेयुः । मांसं च न भक्षयेयुः । भूमौ चैकाकिनः शयनं कुर्युः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । उभयपक्षिणां नियममाह अक्षारेति । मांसाशनं मांसयुक्तम-शनमन्नं पृथक्क्षितावेव । 'आचम्याग्न्यादि सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् । प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाश्मनि पदं शनैरित्यपि (आशौच० १३) यान्नवल्लवचनात्कार्यमुत्तरकृत्यम् ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । शावाशौचवतान्नियमानाह अक्षारेति । निमज्जेयुश्च तेऽन्वहमिति पाठः । ते शावाशौचिनः ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अक्षारलवणान्नाः अक्षारं अलवणं अन्नं येषां ते अक्षारलवणाः पुरुषाः स्युः क्षारलवणसंयुक्तान्नवज्याः स्युस्ते आशौचिनः । व्यहं निमज्जेयुः ; तद्यथा—दशाह-स्नानाशक्तावुदकदानार्थं व्यहं निमज्जन्ति कुशादिभिराच्छादितायां क्षितौ पृथक् शयीरन् ॥ ७३ ॥

(७) मणिरामः । अक्षारलवणं अकृत्रिमलवणम् ॥ ७३ ॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ॥

असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिवान्धवैः ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । सन्निधौ यत्रासौ मृतस्तत्र तत्संनिधीयते । अन्ये तु प्रयाणकाले ये संनिहितास्तेषामेवायं विधिरित्याहुः । सम्बन्धिनः समानोदकाः । बान्धवाः सपिण्डाः । अन्ये तु ग्रामान्तरे नगरान्तरेऽवस्थानमसन्निधानं मन्यन्ते, तेषां च ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कल्पः प्रकारः । अयं वक्ष्यमाणः । संबन्धिनः सन्नहचारि-
समानोदकाद्याः । बान्धवा ज्ञातयः ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । मृतस्य सन्निधावेकस्थानावस्थानादहःपरिज्ञाने शावाशौचस्य विधिरयमुक्तश्च, देशान्तरावस्थानादज्ञाने सत्ययं वक्ष्यमाणो विधिः संबन्धिवान्धवैर्ज्ञातव्यः ।
संबन्धिनः सपिण्डाः, समानोदका बान्धवाः ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तिष्यमाणार्थं वृत्तं कीर्तयति सन्निधाविति । मृतस्य सन्निधानावस्थानात्तदहःपरिज्ञान उक्तः । कल्पो विधिः । देशान्तरावस्थानादज्ञाने संस्कृतानां तु संबन्धिवान्धवैः सपिण्डसमानोदकैः कार्यो वक्ष्यमाणविधिरिति शेषः ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । एतच्छब्देन 'दन्तजात' (५।५८) इत्यारभ्योक्तस्य सकलस्याशौच-
कल्पस्य परामर्शः । नानन्तरोक्तस्यैव । अयं वक्ष्यमाणः । संबन्धिनो जामातृदौहित्रादयः ।
बान्धवा ज्ञातयः ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सन्निधौ समीपे मरण एव एष वै कल्पो विधिः शावाशौचस्य कीर्तितः, असंनिधावयं विधिः संबन्धिवान्धवैरिति संबन्धिभिः समानोदकैः बान्धवैः ज्ञातिभिः ॥ ७४ ॥

(७) मणिरामः । सन्निधौ मृतस्य सन्निधावस्थानात्तदज्ञाने एष पूर्वोक्तो विधिः कीर्तितः । असंनिधौ मृतस्य देशान्तरावस्थानादज्ञाने सति । अयं वक्ष्यमाणः विधिः संबन्धिवान्धवैः ज्ञेयः ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ॥

यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात् षण्मासे पक्षिणी तथा ।

अहस्तु नवमादवर्गागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । विदेशो ग्रामान्तरादिः पूर्ववत् । विगतं मृतम् । अनिर्दशम् । उपलक्षणमेतत् । यस्य य आशौचकालस्तच्छेषं तस्याशौचम् । पुनर्दशरात्रग्रहणं श्लोक-
पूरणार्थम् । उत्पत्त्यपेक्षया जन्ममरणयोराशौचकालविकल्पेनावश्यमपेक्ष्यम् । यदा सूतकाद्यु-
त्पन्नं तदा प्रभृति दशाहादि कल्पः, न यदा सपिण्डैर्जातमिति । अतश्च यदाऽतिथिना ज्ञातं सूतकादि न तु गृहस्थेन तदाऽप्यभोज्यमन्नम् । तथैवोत्पत्तिनिमित्तमात्रमिदमुभयत्रेति ।
दशाहमाशौचिनां तत ऊर्ध्वं त्रिरात्रैकाहाशौचिनां तु सचैलस्नानजा सद्यःशुचिः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विगतं मृतं विदेशो यत्र मृतस्तद्दिने न श्रूयते । अनिर्देशम् । अनतीततन्निमित्ताशौचम् । दशरात्रस्य तन्निमित्ताशौचस्य । दशरात्रपदमाशौचमात्रोप-
लक्षणमिति 'संबन्धिवान्धवै'रित्युभयप्रक्रमाद्गम्यते ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । विगतं मृतं विदेशस्थं विप्रकृष्टदेशस्थमनिर्देशमनिर्गतदशाहाद्य-
शौचकालं यः शृणोति स यदवशिष्टं दशरात्राद्याशौचस्य तावत्कालमविशुद्धो भवति । विगत-
मित्युपलक्षणं जननेऽप्येतदवगन्तव्यम् । तथा च बृहस्पतिः 'अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा
पुत्रजन्म च । अनिर्गते दशाहे तु शेषाहोर्भिविशुध्यति' ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । विगतं विशिष्टं परलोकगतं । तावदवशिष्टदिवसपर्यन्तं
एतदप्युपलक्षणं जननस्य । 'अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा पुत्रजन्म च । अनिर्गतदशाहे तु
शेषाहोर्भिविशुध्यते' इति बृहस्पत्युक्तेः ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । विगतं मृतम् । दशरात्रग्रहणं एकाहादीनामप्युपलक्षणार्थम् ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । संबन्धिवान्धवैरित्युभयत्र तन्निमित्ताशौचमध्ये श्रवणे आशौच-
शेषेनैव शुद्धिः ॥ ७५ ॥

(७) मणिरामः । विगतं मृतं अनिर्देशं असमाप्तदशाहाऽशौचकालं । यः शृणोति ।
स यत् दशरात्रस्य शेषं अवशिष्टं तावत्कालेन शुद्धो भवति । विगतमित्युपलक्षणं जननेऽप्येत-
दवगन्तव्यं । 'अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा पुत्रजन्म च । अनिर्गते दशाहे तु शेषाहोर्भिवि-
शुद्ध्यति' इति बृहस्पतिवचनात् ॥ ७५ ॥

(८) गोविन्दराजः । विगतन्त्विति । तच्छेषं दशरात्रं स्यादिति । देशान्तरस्थं
मृतं जातं वा अनिर्गतदशाहादिकं श्रुत्वा दशरात्रादेर्यच्छिष्टं तावदेवाशौचवान् भवेन्न तु
परिज्ञानात्प्रभृतिदशाहाशौचमाद्रियते ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्टवैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्य यः कृत आशौचकालो दशाहादिस्तस्य तदूर्ध्वं त्रिरात्रम् । यस्य
तु व्यहैकाहादिस्तस्य तत् ऊर्ध्वं सवाससः स्नानमात्रमेव । तथा चोत्तरत्र वक्ष्यति "सवासाः"
(५।७७) इत्यादि । संवत्सरे अतीते अतिक्रान्ते स्पृष्टवैवापः स्नात्वा शुद्ध्येदित्यर्थः । "हस्तेन
च सपादेन" इत्यादिवचनात्सर्वाङ्गस्पर्शनं प्रतीयते, तच्च स्नानमेव ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिक्रान्ते दशाहे इति तु दशाहपदं नोपलक्षकं । अतिक्रान्ते
श्रृणुयादित्यनुषङ्गः, एवं व्यतीत इत्यत्रापि । स्पृष्टवैवापः स्नात्वा । एतद्दशाहाशौचिनां
सपिण्डानाम् । समानोदकादीनां त्वाशौचमध्ये श्रवणे । आशौचशेषेणैवेति 'विगतं त्वि'त्यत्र
(५।७५) सिद्धम् ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । 'नाशौचं प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपि' इति देवलवचना-
न्मरणविषयं वचनमिदम् । सपिण्डमरणे दशाहाशौचेऽतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुद्धो भवति, संवत्सरे
पुनरतीते स्नात्वैव विशुध्यति । एतच्चाविशेषेणाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यविषयम् ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादुत्तीर्णे त्वाह अतीति । 'नाशौचं प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु
दिनेष्वपि'ति देवलवचनान्मरणविषयं त्विदम् । सपिण्डमरणे दशाहोत्तरं त्रिरात्रं वर्षोत्तरं
तु स्नानं । दशाहादुत्तीर्णे संवत्सराभ्यन्तरे समानोदकानां स्नानम् । एतच्चातुर्वर्ण्यसाधा-
रणम् ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । दशाहेऽतिक्रान्ते वत्सरादर्वाक् त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । अत्रापि दशाह-
ग्रहणमेकाहादीनामुपलक्षणम् । अपः स्पृष्ट्वैव स्नात्वैव ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दशाहादिप्राप्ताशौचस्यापवादमाह अतिक्रान्त इति । दशाहे
अतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । व्यतीते संवत्सरे अपः स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति । तथा
देवलः 'नाशुद्धिः प्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि । प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषे व्यहमेव तु ।
सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्वोदकं शुचिः ॥' सर्वेषां द्विजानां तत्राह 'मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे
पक्षिणी तथा । अहस्तु नवमादवर्गध्वं स्नानेन शुध्यति । पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि
हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्' ॥ ७६ ॥

(७) मणिरामः । संवत्सरमध्ये दशाहादूर्ध्वं श्रुत्वा त्रिरात्रं संवत्सरादूर्ध्वं स्नान-
मात्रं, जनने तु दशाहोत्तरमाशौचाभाव एव । 'नाशौचं प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपि'ति
देवलवचनात् ॥ ७६ ॥

(८) गोविन्दराजः । अतिक्रान्त इति । आशौचातिक्रमे सपिण्डजननं मरणं वा
ज्ञात्वा त्रिरात्रमाशौचवान्भवति । संवत्सरे पुनरतीते ज्ञात्वा स्नात्वैव शुध्यति ॥ ७६ ॥

निर्देशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ॥

सबासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । समानोदकानामयं विधिः । व्यहैकाहपक्षे च सपिण्डानामपि ।
सबासा वाससा सहितः । जलमाप्लुत्य स्नात्वेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऊर्ध्वं त्वाह निर्देशमिति । निर्देशमतीते तदाशौचकालं । ज्ञातिः
समानोदकः । पुत्रस्य स्वपुत्रस्य जन्म निर्देशमेव । शुद्धोऽपगताशौचः । एवमन्येषामपि त्रिरात्र-
पक्षिण्याद्याशौचिनामूह्यम्; ज्ञातिपदस्यासपिण्डोपलक्षणार्थत्वात् । एवं दशाहव्यतिरिक्ता-
शौचनिमित्तस्य तन्मध्ये श्रवणे शेषेण शुद्धिः, ऊर्ध्वं तु श्रवणे स्नानमात्रमिति सिद्धम् ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । दशाहाशौचव्यपगमे कर्मनिर्हृत्यलक्षणस्य व्यहाराशौचस्योक्तत्वात्त-
दङ्गास्पर्शविषयम् । निर्गतदशाहसपिण्डमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च सचैलं स्नात्वा स्पृश्यो
भवति ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादुत्तीर्णे सपिण्डमरणे पुत्रजन्मनि च स्नानमात्रमिति मेधा-
तिथिः । मानव इति विशेषणान्निर्देशमिति स्वस्वजात्युचिताशौचपरं, शुद्धः स्पृश्यः । कर्माधि-
कारिता तु व्यहोत्तरमिति कुल्लूकः ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । निर्देशं ज्ञातिमरणं संवत्सरादवर्गपि श्रुत्वा । अयं पूर्वोक्तस्य त्रिरात्रा-
शौचस्य विकल्पः ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मानवः समानोदकः ॥ ७७ ॥

(७) मणिरामः । दशाहाच्चोत्तरं दिनत्रयमाशौचमुक्तं, तत्राऽस्पृष्टत्वं स्नानपर्यंत-
मेवेत्याह निर्गतमिति । तथाच स्नानमात्रेण स्पृश्यो भवतीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

(८) गोविन्दराजः । निर्देशं ज्ञातिमरणमिति । निर्गतदशाहादिकं सपिण्डमरणं श्रुत्वा
पुत्रस्य च जन्म मनुष्यः श्रुत्वा सचैलं स्नात्वा शुद्धो भवत्येवं चानन्तरोक्तेन । त्रिरात्रेणास्य
सहस्ये (?) विकल्पः ॥ ७७ ॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ॥

सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । बालेऽदन्तजाते सूतौ, देशान्तरस्थे, पृथक्पिण्डे, च संस्थिते, इत्येका-
र्थानि पदानि । पृथक्पिण्डः समानोदक इति यावत् । तस्मिन् देशान्तरस्थे संस्थिते । सद्यः-
शुद्धिः । सन्निधौ “व्यहातूदकदायिनः” (५।६४) इत्युक्तम् ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र बालमरणे विशेषमाह बाल इति । यदि सपिण्डो
देशान्तरस्थो बालोऽकृतचौलो म्रियते यदि वा बाल एव पृथक्पिण्डः समानोदकमातुलतत्तुल्य-
श्यालादिः संबन्धी म्रियते तदा सचैलस्नानमात्रमित्यर्थः । ‘बाल’पदस्योभयत्रान्वयार्थं
चकारद्वयम् ।

इह च दशाहप्रक्रमेण तदतिक्रमे संवत्सरमध्ये श्रवणे तत्त्रिभागव्यहाशौचविधानात्तदनु-
सारेण गुणोत्कर्षादिकृतचतुरहाद्याशौचान्तश्रवणेऽपि तत्त्रिभागेनाशौचव्यवस्था ग्राह्या, तेषां
दशाहाशौचस्थानपतितत्वात् ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । बालेऽजातदन्ते मृते, जातदन्ते ‘नृणामकृतचूडाना’ (५।६७) मित्येका-
होरात्राभिधानादेशान्तरस्थे च सपिण्डे मृत इत्येकाहाशौचविषयम् । पूर्वश्लोके दशाहा-
शौचिनस्त्वहविधानात्पृथक्पिण्डे समानादके त्रिरात्रमुक्तम् । तत्र त्रिरात्रव्यपगमे सर्वेष्वेषु
सचैलं स्नात्वा सद्यो विशुद्धो भवति ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । जातदन्तबाले देशान्तरस्थे दशाहाभ्यन्तरेऽपि सद्यःशौचमित्याह
बालेति । पृथक्पिण्डे सपिण्डातिरिक्ते समानोदके । सन्निधौ तु ‘व्यहातूदकदायिन’ (५।६४)
इत्युक्तम् ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । बालेऽजातदन्ते, प्राप्तषष्ठमास इत्यर्थः । संस्थिते मृते । सपिण्डः सद्य एव स्नानेन शुध्यति । देशान्तरस्थे च सपिण्डे पृथक्पिण्डे समानोदके च संस्थिते दशाहा-दूर्ध्वं श्रुत्वा सद्यः शुध्येत्स्नानेन ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । बालेऽजातदन्ते । अकृतचूडे देशान्तरस्थे च पुनः पृथक्पिण्डेऽस्य सपिण्डे समानोदकमातुलतत्तुल्यशालकादौ ॥ ७८ ॥

(७) मणिरामः । बाले अजातदन्ते मृते स्नानमात्रात्सद्यःशुद्धिः । देशान्तरस्थे च सपिण्डे मृते यत्र एकाहाशौचमुक्तं तत्रापि तदपगमे श्रुत्वा स्नानाच्छुद्धिः, पृथक्पिण्डे समानोदके च मृते । द्वाहाशौचमुक्तं तत्र त्रिरात्रादूर्ध्वं श्रुत्वा स्नानमात्राच्छुद्धिरित्यर्थः ॥ ७८ ॥

(८) गोविन्दराजः । बाल इति । आदेशान्तरस्थेऽपि दन्तजात्यने (?) बाले देशान्तरस्थे वा बालेऽपि असपिण्डसमानोदके । देशान्तरस्थेति । मृते सचैलं स्नात्वा सद्य एव विशुध्यति । देशान्तरस्थसपिण्डजननमरणयोस्तच्छेषशुद्धिरुक्ता । समानोदकानां च त्र्यहाच्छुद्धिरुक्ता तद्वैकल्पिकमनेन सद्यःशौचमुच्यते ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे चेत्स्यातां पुनर्मरणजन्मनी ॥

तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि दशाहग्रहणमाशौचकालोपलक्षणार्थम् । यस्य य आशौच-कालस्तस्मिन् निवृत्ते यदि पुनरन्यदाशौचनिमित्तमुत्पद्यते तदा पूर्वशेषेणैव शुद्धिर्न त्वन्तरा निपतितं यत्तदीयादहनः प्रभृति दशाहादिगणना कर्तव्या । तथा च गौतमः (१४।५) “तच्चेदन्तः पुनरापतेत्तच्छेषेण शुद्धयेयुरिति” ।

मरणजन्मनी इति समासे यत्नमन्तरेण क्रमाप्रतिपत्तेर्व्यन्तरेणाप्युपनिपातप्राप्तौ समाचारात्समानजातीय एवेति द्रष्टव्यम् । पुनःशब्दश्च समानजातीयापेक्षया समर्थतरो भवति । विप्रग्रहणमप्याशौचिनामुपलक्षणार्थम् । स्मृत्यन्तरे तु विहितं “रात्रिशेषे द्वाभ्यां, प्रभाते तिसृभिः” इति । ‘एतस्य ब्राह्मणस्य प्रेतस्पर्शे दशरात्रमाशौचमिति’ प्रकृत्य ‘न चेदन्तरा म्रियेत जायेत वा शिष्टैरेव दिवसैः शुद्धयेत’ इतीयं स्मृतिः समानजातीयासमान-जातीयभेदं नानुमन्यते ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्तर्दशाहे पुनर्मरणमेकं दशाहाशौचमध्ये तादृङ्मरणानन्तरं पुनर्जननं तु तादृङ्जनने जननान्तरं तद्यदि पूर्वाशौचदशमदिनात्प्राक् पतेत्तदा यावत्पूर्वाशौच-मनिर्दशमनतीतं तावदेवाशुचिः । पुनर्मरणं पुनर्जन्म च पुनर्मरणजन्मनी । अत्रापि ‘दशाह’-पदं संपूर्णशौचोपलक्षणं, तेन क्षत्रियादीनामपि स्वशावाशौचमादायैवमेव व्यवस्था । किंचात्र सर्वत्र विष्ण्वादिसमृतिदर्शनात्पूर्वाशौचशेषदिन आशौचान्तरपाते दशाहोर्ध्वमपि दिनद्वयमाशौचं तद्विषयीयाष्टमयामे त्वाशौचान्तरपाते दिनत्रयमिति प्रपञ्चितं चैतच्छुद्धिदीपिकायाम् विस्तरभयान्नात्र लिख्यते ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः। दशाहादिमध्ये यदि पुनर्मरणे मरणं जनने जननं स्यात्, पुनःशब्दात्स-
जातीयावगमात् तदा तावत्कालमेव विप्रादिरशुद्धः स्यात्। यावत्पूर्वजातदशाहाद्याशौचं ना-
पगतं स्यात्तावत्पूर्वाशौचव्यपगमेनैव द्वितीयेऽपि मृतके सूतके च शुद्धिरित्यर्थः ॥७९॥

(४) राघवानन्दः। किञ्च दशाहादिमध्ये यदि मरणं जननं तदा पूर्वाशौच-
निवृत्तावनयोर्निवृत्तिरित्याह अन्तर्दशाहेति। तत्पूर्वाशौचं अनिर्दशं यावत्तावद्विप्रोऽशुचिः
स्यादित्यन्वयः। विप्रपदं चातुर्वर्ण्यपरम्। 'अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोर्भिविशुध्यती'ति
(आशौच. २०) याज्ञवल्क्योक्तेः ॥७९॥

(५) नन्दनः। तत् पूर्वाशौचम् ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः। पुनर्दशाहाद्याशौचप्राप्तौ तदपवादमाह अन्तरिति। अन्तर्दशाहे मरण-
जन्मनी मरणे स्यातां चेत् यावदनिर्दशं स्यात्तावद्विप्रोऽशुचिः स्यात्। जनने मरणे जाते पूर्वाशौचा-
वशिष्टैरहोभिर्न विशुध्यति। उशना अप्याह 'स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि।
न पूर्वैर्णैव शुद्धिः स्यात्स कालेनैव शुध्यति' ॥ तथा अङ्गिरा अप्याह 'सूतके मृतकं चेत्स्या-
न्मृतके त्वथ सूतकम्। तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सौतकं ॥' षट्त्रिंशन्मतेऽपि
'शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत्। शावेन शुध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधिनी ॥ यदि
स्यात्सूतके सूतिर्मरणे वा मृतिर्भवेत्। शेषेणैव भवेच्छुद्धिरहःशेषे त्रिरात्रिक'मिति ॥
अपवादमाह 'मातृग्रन्थे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता। पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुर्मृतक-
पक्षिणी ॥' कौशिकः 'पितुर्दशाहमध्ये तु मातुश्चेन्मरणं यदि। न तिलोदकादिकं कर्म
दाहमन्त्राहुतिं विना ॥ पितृकर्म समाप्याथ माताशौचं च पक्षिणीम्। मातुः क्रियां ततः
कुर्यात्तिलाञ्जल्यादिकं च यत् ॥' पितुराशौचं समाप्य सपिण्डीकरणान्तं कृत्वा पश्चान्मातुः
पक्षिणीं पक्षिणीमध्ये सर्वाः क्रियाः कार्याः। अथवा 'आद्यं हि षोडशश्राद्धं सपिण्डीकरणान्न
हि। मातुस्ततः कुर्यात्पितुः पुत्रः षोडशं वा सपिण्डनम्। अथैकस्मिन्दिने चाथ
सपिण्डीकरणं तयो'रिति ॥ ७९ ॥

(७) मणिरामः। अन्तर्दशाहे दशाहाद्याशौचमध्ये चेत् यदि पुनर्मरणजन्मनी स्यात्
(ताम्?) दशाहादि मरणाशौचे दशाहादि मरणांतरं दशाहादि जनने दशाहादि-
जननांतरं स्यात् तदा पूर्वाशौचशेषेणैव शुद्धिरित्यर्थः ॥ ७९ ॥

(८) गोविन्दराजः। अन्तर्दशाह इति। तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तस्यादनिर्दशं।
दशाहादिमध्ये यदि जन्मपुनर्मरणे मरणं जनने जननं स्यात्। पुनःशब्दात् 'सूतके
सूतकं भूयो यद्यपि स्यात्कथंचन। तच्छेषेणैव शुद्धिः स्यान्मृतके मृतकं तथा ॥' इत्यंगिरसः
स्मरणात्। च तदा तावत्कालमेव ब्राह्मणादेराशौचं स्याद्यावत्पूर्वोत्पन्नमाशौचं नापगतं
तत्पश्चादतीतम्। दशाहादि यावत्तत्रापि च 'रात्रिशेषे द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभि'रिति गौतमीयो
विशेषो द्रष्टव्यः ॥ ७९ ॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ॥

तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । आचार्य उपनेता । तस्मिन् संस्थिते । त्रिरात्रं शिष्यस्य । तस्याचार्यस्य पुत्रे पत्न्यां च संस्थितायामहोरात्रम् ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचार्ये उपनीयाध्यापके ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्ये मृते सति शिष्यस्य त्रिरात्रमाशौचं वदन्ति । तत्पुत्र-पत्न्योश्च मृतयोरहोरात्रमित्येषा शास्त्रमर्यादा ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । आचार्ये उपनेतरि । ज्ञातिभिन्ने त्रिरात्रं व्याप्याशौचं शिष्यस्येत्याहुः ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । आचार्ये संस्थिते मृते त्रिरात्रमाशौचम् । आचार्यपुत्रे आचार्य-पत्न्यां वा मृते दिवारात्रं अहोरात्रमित्यर्थः ॥ ८० ॥

(७) मणिरामः । संस्थिते मृते सति दिवारात्रं अहोरात्रम् ॥ ८० ॥

(८) गोविन्दराजः । त्रिरात्रमिति । आचार्ये प्रेते त्रिरात्रमाशौचमाहुस्तत्पुत्रपत्न्यो-श्चाहोरात्रमिति शास्त्रमर्यादा ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यादिवग्वान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदशाखाध्यायी श्रोत्रियः । उपसम्पन्नः मैत्र्या प्रयोजनेन वा केनचित्सङ्गतः शीलेन युक्तो वा । पूर्वं तु सन्नह्यचारिण्येकाहमगृहीतवेदे दृष्टम् ।

अभिधानकोशे तु 'उपसम्पन्नो' मृतपर्यायः । बहुकालत्वादाशौचस्य पूर्वव व्याख्या ज्यायसी ।

अन्ये तु 'श्रोत्रिये मातुले त्रिरात्रमित्येव सम्बन्धनन्ति, 'पक्षिणीं रात्रि'मिति शिष्यादिभिः । बान्धवाः श्यालकमातृष्वस्त्रेयादयः ।

यदा तु 'मातुले पक्षिणीमिति' सम्बन्धस्तदा मातुले बान्धवत्वादेव सिद्धा पक्षिणी, पुनर्वचनं नित्यार्थम् । तेनान्येषु बान्धवेषु यथाकामम् ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपसम्पन्ने प्रातिवेश्ये श्रोत्रिये मृते । पक्षिणीं पक्षाविव दिनद्वयेनोभयतो युक्तां रात्रिम् । शिष्ये मृते आचार्यस्य पक्षिणी । आगामिवर्तमानाहर्युक्तायां निशि पक्षिणीति मालाकारः । एवमृत्विजि याज्यस्य तथा बान्धवेष्वात्मबन्धुषु मातुलपितृष्व-सुमातृष्वसृसुतेषु ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदशास्त्राध्यायिनि उपसंपन्ने मैत्रादिना तत्समीपवर्तिनि तद्गृह-
वासिनीत्यर्थः । तस्मिन्मृते त्रिरात्रेण शुद्धो भवति । मातुलऋत्विक्शिष्यादिषु पक्षिणी
रात्रिं व्याप्याशौचं, द्वे अहनी पूर्वोत्तरे पक्षाविव यस्याः सा पक्षिणी ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच श्रोत्रिय इति । उपसंपन्ने मैत्रादिना समीपवर्तिनि स्वशाखा-
ध्यायिनि वा । पक्षिणी पक्षाविवाहनी यस्या दिवसद्वयसंदर्शिनी रात्रिस्तां बान्धवेषु
पितृष्वस्त्रीयादिषु ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । उपसंपन्नः स्वगृहवासी । संस्थित इत्यनुषङ्गः । बान्धवा
मित्राणि ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रोत्रिये प्रातिवेश्ये स्वगृहपार्श्ववर्तिनि साङ्गवेदाध्येतरि उप-
संपन्ने मृते त्रिरात्रमशुचिः । मातुले पक्षिणीं रात्रिं च पुनः शिष्यत्विग्बान्धवेषु पितृष्वस्त्रादि-
पुत्रादिषु पक्षिणीम् ॥ ८१ ॥

(७) मणिरामः । उपसंपन्ने मैत्र्यादिना तद्गृहवासिनि श्रोत्रिये वेदशास्त्राध्यायिनि
मृते त्रिरात्रं । मातुले शिष्यत्विग्बान्धवेषु च पक्षिणी पूर्वोत्तरे अहनी पक्षाविव यस्याः
रात्रेः सा पक्षिणी द्वादशप्रहरात्मिका ताम् ॥ ८१ ॥

(८) गोविन्दराजः । श्रोत्रिय इति । वेदाध्यायिनि केनापि मैत्र्यादिना निमित्तेन
निकटवर्तिश्च सन्नह्यचारिण्यपि प्रेते त्रिरात्रमाशौचवान् भवति । मातुलशिष्यत्विक्भागिने-
यादिषु उभयतोऽहर्द्वयं पक्षद्वयमिव । यस्यास्तां रात्रिमाशौचं बान्धवत्वेऽपि मातुलस्य
पुनर्वचनं मातुलेयादीनां विकल्पार्थम् ॥ ८१ ॥

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।

अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । राजशब्दोऽयमभिषेकादिगुणयोगिनि वर्णमात्रे लक्षणया वर्तते ।
यत् आह यस्य स्याद्विषये स्थितः । जातिविशेषावच्छिन्नविषयेऽवचनत्वे लक्षणा, न च
शब्दार्थः । सज्योतिः । सह ज्योतिषा वर्तते । दिवा प्रेते दिवैव, रात्रौ तु तन्नास्ति । एवं
रात्रौ रात्रिरेव नाहः । इदमेव ज्ञापकमन्यत्र रात्रिग्रहणेऽहर्ग्रहणेऽप्यहोरात्रप्रतिपत्तेः । यथा
'रात्रिभिर्मासतुल्याभिस्त्वहमेकाहमिति' (५।६६) । 'अह्ना चैकेने' (५।६४) त्यत्र तु रात्रिग्रहणं
पादपूरणार्थम् । रात्रावग्निर्ज्योतिः । एवं ह्यग्निहोत्रब्राह्मणे 'अग्निना वै तेजसा तेजस्विन्या-
दित्येन तेजसा न भवति' । अश्रोत्रियेऽवेदाध्यायिनि, अनूचाने, कृत्स्नमहः । रात्रौ न
भवत्येव-उत्पन्नेऽपि रात्रौ निमित्ते । "कथं पुनरश्रोत्रियेऽनूचाने । एवं हि स्मर्यते 'प्रवचने
साङ्गोऽधीतीति' ।" सत्यं प्रवक्ताऽप्यनूचान उच्यते । तेनैवं कथंचिदङ्गादिग्रन्थार्थान्यः प्रवक्ति
तस्मिन्नयमर्हविधिः । उपसम्पन्ने च गुरौ पूज्यत्वेन मुख्ये, आचार्ये वा विध्यन्तरभावात् ।

केचित्तु अश्रोत्रिये त्वित्यत्र नञं सम्बध्नन्ति । इह नञः प्रश्लेषेण योऽन्येषामुपाध्या-
यस्तस्य च न कश्चित्तत्वेन विधिमाचक्षते ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजन्ये क्षत्रिये स्वनिवासदेशाधिपतौ मृते सज्योतिः सूर्यनक्षत्रयोरन्यतरेण येनोपलक्षिते काले निमित्तोत्पत्तिस्तज्ज्योतिरवस्थानपर्यन्तम् अश्रोत्रिये उपसन्न इति व्यवहितेनान्वयः, तेन श्रोत्रिये प्रातिवेश्ये मृते एकरात्रमित्यर्थः । अनूचाने साङ्गवेदाध्येतरि गुरौ वेदार्थव्याख्यातरि ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य देशे ब्राह्मणादिः स्थितः तस्मिन् राजनि कृताभिषेके क्षत्रिये मृते सज्योतिराशौचं स्यात् । सह ज्योतिषा वर्तत इति सज्योतिः । यदि दिवा तदा यावत्सूर्य-ज्योतिस्तावदाशौचं । यदि रात्रौ मृतस्तदा यावत्तारकाज्योतिस्तावदाशौचम् । श्रोत्रिये त्रिरात्रमुक्तम् । अश्रोत्रिये पुनस्तद्गृहे मृते कृत्स्नं दिनमात्रमाशौचं, नतु रात्रावपि । रात्रौ मृते रात्रावेवेत्यवगन्तव्यम् । साङ्गवेदाध्यायिनि 'अल्पं वा बहु वा यस्येत्येतन्निर्दिष्टे गुरावप्यहर्मात्रमेव ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । राजादित्रयमरणे आशौचमाह प्रेत इति । विषये देशे इति लिङ्गात्प्रजापालनकर्तरि चातुर्वर्ण्येन ज्योतिर्मरणावधि यावत्सूर्यो नक्षत्रं वा परेद्युस्तावदाशौचं अश्रोत्रिये संपन्ने कृत्स्नमित्यहोरात्रम् । अनूचाने साङ्गवेदाध्यायिनि गुरौ वेदातिरिक्ते 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति य' (२।१।४९) इत्युक्तलक्षणे ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । यस्य राज्ञो विषये देशे स्थितिस्तस्मिन् राजनि प्रेते स्वस्य सज्योतिर्ज्योतिःसहितमाशौचम् । दिवा चेज्ज्योतिःशब्दः सूर्यवचनः, नक्तं चेन्नक्षत्रवचनः । अश्रोत्रिय उपसंपन्ने श्रोत्रियेगुरावनुपसंपन्नेऽनूचाने चैकाहम् ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजनि प्रेते सति सज्योतिः सूर्यनक्षत्रयोरन्यतरेण येनोपलक्षिते काले निमित्तोत्पत्तिस्तज्ज्योतिरवस्थानपर्यन्तम् । यस्य स्याद्विषये स्थितिः यस्य विषये देशे स्थितिः । अश्रोत्रिये मृतेऽहः कृत्स्नं । समग्रं अनूचाने साङ्गवेदाध्येतरि तथा गुरौ वेदशास्त्रार्थव्याख्यातरि मृते अहः कृत्स्नं आशौचम् ॥ ८२ ॥

(७) मणिरामः । यस्य देशे ब्राह्मणादिः स्थितः तस्मिन् । राजनिकृताभिषेके क्षत्रिये मृते तदा सज्योतिः । स ज्योतिषा वर्तत इति सज्योतिः । दिवसे मृते दिनमात्रं, रात्रौ रात्रिमात्रमाशौचं स्यात् । अश्रोत्रिये तद्गृहमृते कृत्स्नं दिनं तु रात्रौ रात्रौ, मृते रात्रावेव । अनूचाने साङ्गवेदाध्यायिनि तथा गुरौ च मृते दिनमात्रम् ॥ ८२ ॥

(८) गोविन्दराजः । प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषयेषु चेति । यत्संबन्धिनि देशे ब्राह्मणादिस्थितः तस्मिन् राजनि प्रेते सज्योतिषा दिनादित्येन रात्रौ तारकाभिः सह वर्तते इति सज्योतिर्दिवोत्पन्ने दिवैवाशौचं रात्रावुपजायते रात्रावेवेति । 'श्रोत्रिये सङ्गते त्रिदिवस'मित्युक्तमश्रोत्रिये पुनः सङ्गतेऽहः समग्रं रात्रौ न भवति । रात्रावुत्पन्ने रात्रिमेव नाहौ अङ्गादि अवक्तरिव (?) 'अल्पं वा बहु वा यस्येत्येवं धर्मके गुरावेवमेव ॥ ८२ ॥

शुद्धचेद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ॥

वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्धयति ॥ ८३ ॥

[क्षत्रविट्शूद्रदायादा स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः ।

तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११ ॥]

[राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु ।

स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्धयर्थमिति स्थितिः ॥ २ ॥]

[विप्रः शुध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु ।

षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥ ३ ॥]

[सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः ।

तद्वर्णं विधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ॥ ४ ॥]

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियादीनां प्रागुक्तवृत्ताद्यपेक्षस्य हचतुरहादिकल्पव्यावृत्त्यर्थ-
मिदम् । ब्राह्मणे दशाहस्त्वनूद्यत एव ।

अत्र त्विदं वाच्यं—“केन क्षत्रियादीनां द्वादशाहेन नियतकालाप्राप्तिर्येन कल्पान्तरव्या-
वृत्त्यर्थताऽवगम्यते” ।

इयमेव ह्येषामियत्कालस्य प्रापकम् । सत्यस्मिस्तत्र दशाहोऽयमाशौचकालस्तदु-
पलक्षणार्थो विज्ञायते ।

न च सत्यप्यस्मिस्तस्योपलक्षणार्थता । सत्यपि चातुर्वर्ण्याधिकारे यस्यैव दशाह उक्त-
स्तस्यैवेतरे कल्पा इति । स्मृत्यन्तरे च ब्राह्मणविवक्षयैवोक्तम् “एकाहाद्ब्राह्मणस्य स्यात्स्वा-
ध्याय” इत्यादि । तेषां तु स्मृत्यन्तरे यानि कल्पान्तराण्याम्नातानि तानि विकल्प्यन्ते ।
एकादशे आशौचकालः कश्चिद्विवरणकार आह “शुद्धचेद्विप्रो दशाहेनेति” अत्राहर्ग्रहणं
विवक्षितं, तेन दशम्यां रात्रौ नास्त्याशौचम् । ततः पूर्वद्युर्निमन्त्रणादि युक्तम् । अग्निं
चाध्यास्यतः पौर्वाहिकजागरणादिनाऽऽशौचं अपक्रान्तो भविष्यति । तदयुक्तम् ।
अहर्विवक्षायामाद्यास्वपि रात्रिषु न स्यादाशौचम् । अथ ‘दशाहं शावमिति’ एतस्मात्तत्र
भविष्यति । अत्राविवक्षायां किं प्रमाणम् ।

तस्मादहःशब्दोऽयमहोरात्रवचन इति प्रदर्शितम् । तथा च पूर्वश्लोके ‘अहः कृत्स्न’मिति
रात्रिनिवृत्त्यर्थं कृत्स्नग्रहणम् ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दशाहस्थाने क्षत्रियादिषु विशेषाभिधानार्थं विप्रसंबन्धेन
विहितं दशाहमनूद्य विशेषमाह शुध्येद्विप्र इति ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । उपनीतसपिण्डमरणे संपूर्णकालीनजनने च वृत्तस्वाध्यायादिरहित-
ब्राह्मणो दशाहेन शुद्धो भवति । क्षत्रियो द्वादशाहेन, वैश्यः पञ्चदशाहेन, शूद्रो मासेन ।
तस्य चोपनयनस्थाने विवाहः ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति क्षत्रियादित्रयस्याशौचमाह शुद्धचेदिति । दशाहेन निर्गुण-
विप्रः शुध्येत् । इति द्वादशाहादिना शुध्येयुरित्यन्वयः । नैतेषु गुणवदगुणवत्त्वापेक्षा ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । अथ शावाशौचयोर्वर्णविशेषात्कालविशेषमाह शुद्धचेदिति ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्णाशौचमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

(७) मणिरामः । उपनीतसर्पिडमरणे संपूर्णकालीनजनने च ब्राह्मणादीनामाशौच-
दिनान्याह शुद्धचेदिति ॥ ८३ ॥

(८) गोविन्दराजः । शुद्धचेदिति । अनुपूर्वशश्चतुर्णां वर्णानां प्रेतशुद्धिं वक्ष्यामीत्युक्त-
मतापूर्वो दशाहविधिः । ब्राह्मणविषय एवैवं चासौ दशाहेन ब्राह्मणः शुध्येदित्येतरविधित्सया
विहितमनूद्यते । जननमरणनिमित्त आशौचे । क्षत्रियो द्वादशेन वैश्यः पञ्चदशाहेन
शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ ८३ ॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ॥

न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

(९) मेधातिथिः । यस्यैषा बुद्धिः 'य उक्तास्त्यहादयः कल्पास्तुल्यं दशाहेन
विकल्पन्ते, न वृत्तादिव्यवस्थयेति, ततश्चिरतरकालमन्यस्य सम्भवे किमित्येकाहपक्षं नित्य-
स्वाध्यायकलेशकरं प्रतिपत्स्ये, दशाहमपाश्रयामि निष्कर्मसुखमासिष्य' इति, — तं प्रति
सौहार्देन सा व्यवस्था स्पष्टीक्रियते । 'नैते तुल्या अपि तु व्यवस्थिता एव' । व्यवस्था च
प्राग्दर्शिता । अन्यथा यस्याशौचकालो विहितस्तस्य ततः कालावधिकस्य कुतो वृद्धिप्राप्तिः
येनैवमर्थवत्स्यात् । विस्पष्टार्थत्वे को दोषः ? अन्ये त्वाहुरतीतेष्वप्यहःसु यावत्सना-
दिक्रिया न कृता तावन्नैव शुद्धिः । "विप्रः शुध्यत्यप" (५।१९) इत्यादि वक्ष्यति ।
तत्राशुचित्वादननुष्ठाने न दुष्यामीति स्नानादिषु शुद्धये न प्रवर्तते । तत्रैवमुच्यते 'न
वर्धये'न्नातीतेष्वहःसु बाह्याशौचे विलम्बितव्यम् ।

ये तु—“अहःशब्दो दशमस्याहनो या रात्रिस्तस्यामाशौचं न भवतीति”—
ते न सम्यङ्मन्यन्त इत्युक्तम् । तथा च गौतमः (१४।६) “आशौचमध्ये
आशौचान्तर उत्पन्ने तच्छेषेण शुद्धिः” इत्युक्त्वा एकस्यां रात्रौ शेषायां तथैव शुद्धिं
मन्यमान आह “रात्रिशेषे द्वाभ्यामिति” । प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः । अशु-
चित्वात्सर्वश्रौतस्मार्तक्रियानिवृत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते । अग्निषु याः क्रियाः सायं-
होमाद्यास्ता न प्रत्यूहेन प्रत्यस्येत् । 'प्रत्यूहो' निर्यास अननुष्ठानम् । न च
स्वयं कुर्याद्यत आह न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽपीति । सनाभ्योऽपि
नाशुचिः स्यात्किं पुनरन्यः ? तथा गृह्यं “नित्यानि निवर्तेरन्वैतानवर्जं शालाग्नी
चैक” इत्युक्त्वा आह “अन्य एतानि कुर्युरिति” । न च यदग्न्याधानं होममात्रमेव क्रियते ।
किं तर्हि ? साङ्गप्रयोगः, तत्रैव कर्तुर्नरस्य सम्भवात्प्रधानहोमस्य तु द्रव्यत्यागरूपत्वा-
त्स्वयंकर्तृत्वैव । अतो होमवैश्वदेवदर्शपूर्णमासाद्या निवर्तन्ते । अन्येषां तु जपसन्ध्योपासनादीनां
निवृत्तिर्न दर्शिता । तानि च नित्यानि । अतोऽन्वेषामेवाभ्यनुज्ञानं; यतः स्मृत्यन्तरे प्रतिषिद्धं

“होमः स्वाध्यायश्च निर्वर्तत” इति । अतो नित्यकाम्यभेदेन व्यवस्था । काम्यं तु नैव कर्तव्यमशुचित्वादधिकारापगमात् ।

“ननु च नित्येष्वपि नैवाशुचेरधिकारः” । न च शौचमङ्गम् । यदि विगुणं नित्यमनुष्ठीयते, न काम्यमित्युच्यते । अथास्माद्वचनाद्भवति । मैवम् । इह यदपि मानं तदस्यान्य एतानि कुर्युरिति परकर्तृत्वमभ्यनुज्ञायते । तच्च विगुणत्वान्नित्येषूपपद्यते न काम्येषु । वैश्वदेवे तु विवदन्ते । स्मृत्यन्तरं चोदाहरन्ति । “होमं तत्र न कुर्वीत शुष्कधान्यफलैरपि । एवं यज्ञविधानं तु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥”

अतः सन्ध्याहोमौ दर्शपूर्णमासौ सांवत्सरिकं चाश्वयुज्यादि कर्तव्यम् । उपाकरणं तु नक्षत्राश्रयमेव, न पौर्णमास्याश्रयम् ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । न वर्धयेदिति । निष्कर्मतासुखाभिसंधिना गुणवत्तया चतुरहाद्याशौचार्यो न दशाहादिपरिग्रहं कुर्यादित्यर्थः । प्रत्यूहेद्विघ्नताः कुर्यात् । अग्निषु श्रौतेषु होमादिक्रिया नित्याः । तच्छ्रौताग्निसंबन्धि कर्म सनाभ्यः सपिण्डोऽन्योऽपि यः साग्निः सोऽपि स्वतो होमो संभवऽस्याग्निषु होमं कुर्वाणो नाशुचिः किमुत स्वयमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य तु वृत्तस्वाध्यायाद्यपेक्षया पूर्वं ‘अर्वाक्संचयनादस्थना’ (५।५९)-मित्याद्याशौचसंकोच उक्तः स निष्कर्मा सुखमासिष्य इति बुद्ध्या नाशौचदिनानि दशाहादिरूपतया वर्धयेत् संकुचिताशौचदिनेष्वपि । अग्निष्विति बहुवचनाच्छ्रौताग्निष्वग्निहोत्रहोमान्न विघातयेत् । स्वयं कुर्यादशक्तौ वा पुत्रादीन्कारयेत् । अत्रैव हेतुमाह—यस्मात्तत्कर्माग्निहोत्ररूपं कुर्वाणः पुत्रादिः सपिण्डो नाशुचिर्भवति । तदाह पारस्करः—‘नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतानवर्जम् ।’ वैतानं श्रौतो होमः गार्हपत्यकुण्डस्थानग्नीनाहवनीयादिकुण्डेषु वितत्य क्रियते इति । तथा च शङ्खलिखितौ ‘अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः’ । जाबालोऽप्याह ‘जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपो न विद्यते । शालाग्नौ केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः’ ॥ छन्दोगपरिशिष्टमपि ‘मृतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते । होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः’ ॥ तस्मादेकाहव्यहाद्याशौचसंकोचे संध्यादीनामेव परित्यागो न तु श्रौतहोमस्य । एकाहव्यहाद्यपगमे तु संध्यापञ्चमहायज्ञादिसर्वमेवानुष्ठेयम् । अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यामन्यथाप्यभिधायि ‘एकाहव्यहाद्यशौचसंकोचोऽयं होमस्वाध्यायमात्रविषयः । संध्योपासनादिकं तु तेनाऽपि दशाहमेव न कर्तव्यमिति तन्निष्प्रमाणम् । यत्तु गौतमेन ‘राज्ञां च कर्मविरोधाद्ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थः ।’ याज्ञवल्क्येन च (प्राय० २८) ‘ऋत्विजां दीक्षितानां चे’त्यादिना सद्यःशौचमुक्तं तत्सर्वेषामेव दशाहाद्यशौचिनामपि तत्तत्कर्मविषयम् । यानि तूभयत्र दशाहानि ‘कुलस्यान्नं न भुञ्जीते’-त्यादीनि दशाहं तत्तत्कर्मनिषेधकानि वचनानि, तानि दशाहाशौचविषयाणीति न कश्चिद्विरोधः । तस्माद्धोमस्वाध्यायमात्रार्थं सगुणेशौचलाघवं न संध्योपासनार्थमितीदं निष्प्रमाणम् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । ‘अर्वाक् संचयनादि’त्यादिना गुणवदगुणवत्सु संकुचिताशौच-

मालस्यान्न वर्धयेदित्याह न वर्धयेदिति । संकुचिताशौचेऽपि कुण्डान्तरेष्वग्नीन्समूहमानो होमकरणेनाशुचिः स्यादित्याह प्रत्यूहेदिति । प्रत्यूहेन्न विघातयेत् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे 'सूतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते । होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्काग्नेनापि वा फलै'रिति ॥ सायंप्रातर्होममात्रं न तु वैश्वदेवदर्शादिकं होमस्वाध्यायादि वर्तत इति काम्यपरं सूतकं मृत-कोपलक्षणं । 'जन्महानौ वितानस्य कर्मत्यागो न विद्यते' इति जाबालोक्तेः । हानिर्मरणं वितानस्य श्रौतस्य । सनाभ्यः पुत्रादिः शुचिरिति कैमुत्योक्तेः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । श्रौतस्मार्तकर्मनिरतैर्लघुरेवाशौचकल्प आश्रयणीयो न गुरुरित्याह नेति । लघुकल्पसंभवे गुरुकल्पाश्रयेणाघवानघाहानि न वर्धयेत् । लघुकल्पमाश्रितोऽप्यग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेन्न विह्व्यात् । तत्कर्म अग्निकर्म । सनाभ्यः सोदरः । अग्निशब्दोऽयं वैतानिकविषयो बहुवचनादिति केचित् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अघाहानि अघस्य आशौचस्य अहानि दिनानि न वर्धयेत् । अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेन्न ह्व्यात् विघ्नं न कुर्यात् । 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूह' इत्यमरः । हावयेन्न तु हापयेत् । च पुनः तत्कर्म श्रौताग्निकर्म कुर्वाणः एतेन कर्मणा सनाभ्यः सगोत्री नाशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

(७) मणिरामः । न वर्द्धयेदघाहानि । यस्य प्राक् 'संचयनादस्थना'मित्याद्याशौच-संकोच उक्तः सः कर्मरहितोऽहं सुखेन स्थास्ये इति बुद्ध्या-अघाहानि-आशौचदिनानि दशाह-रूपाणि न वर्द्धयेत् । प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः । संकुचिता शौचमध्येऽपि श्रौताग्निक्रियाः अग्निहोत्रहोमरूपाः-न प्रत्यूहेत्-न त्यजेत् । नित्याः संध्यावंदनादयस्तु त्याज्याः । तत्र हेतुमाह न वेति सनाभिः पुत्रादिः सपिंडः । तथा च व्यहृदिसंकोचानंतरं दशाहमध्ये संध्या-दीनामपि न त्यागः ॥ ८४ ॥

(८) गोविन्दराजः । न वर्धयेदिति । यस्याग्निहोत्राद्यपेक्ष'अर्वाक् सञ्चयनादस्थना' इत्येवमाद्यशौचसंकोच उक्तः स तु क्रियार्थं तावदेवाशौचमाश्रयेन्न तु निष्कर्मा सुखमासिष्युः इति बुद्ध्या । अशौचसंयुक्तान्यहानि वर्धयेत्तस्यां क्रियायां दशाहं नाश्रयेत् । रतेषु चाग्निष्वपि होत्रादिक्रिया न निरस्यन्न च तच्छ्रौतं कर्म कुर्वन् सपिण्डोऽप्यशुद्धो भवति किं पुनरन्यत्तस्मादन्यं कारयेत् । तदुक्तं गृह्ये 'नित्यानि निवर्तन्ते । वैतानवर्जं शालाग्नौ चैके अन्य एतानि कुर्यु'रिति ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ॥

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ ८५ ॥

(९) मेधातिथिः । दिवाकीर्तिश्चाण्डालः, अत्यन्ताशुचिसाहचर्याद् भारते च प्रयोग-दर्शनान्मार्जारमूषिकसंवादे "तस्मिन्नपि च कालेऽभूद्दिवाकीर्तिर्भयादितः" इति । न नापितः, तस्य स्पृश्यत्वात् भोज्यान्नत्वाच्च । यत्तु श्मश्रुकर्मणि तस्येदं स्नानमित्याहुस्तदपि सिद्ध-त्वादवाच्यम् । अवश्यं श्मश्रुकर्माणि कारयतो रोमाणि गात्राणि स्पृशन्ति, तानि शरीरात् च्युतान्यशुद्धानीति सिद्धं स्नानम् । तत्स्पृष्टिनं तस्य स्पृष्टं 'तत्स्पृष्टं', तदस्यास्तीति

‘तत्स्पृष्टी’ । येनैते स्पृष्टास्तेषामपि स्नानमेव । इह सर्वस्याप्रत्यासत्तेः तत्स्पृष्टिनमित्यनेन सम्बन्धः शवस्यैव केचिदाहुर्न दिवाकीर्त्यादीनाम् । अन्ये तु एकवाक्योपनिपातादन्ते श्रुतत्वात्सर्वेषां बुद्धौ सन्निधानात् तच्छब्देन सर्वनाम्ना परामर्श इति । अत्र हि शवपर्यन्तानां द्वन्द्वं कृत्वा स्पृष्टीत्यनेन सम्बन्धः । तत्र तत्स्पृष्टीति समासार्थस्य बुद्धौ सन्निहितत्वात्तच्छब्देनावमर्शः । न हि केवलस्य शवस्य स्पृष्टिपदेन सम्बन्धो लक्ष्यते, पतितादिभिरितरेतरयुक्तत्वात् । किंतु केवलस्य पदान्तरसम्बन्धः । द्वन्द्वे ह्येकैकः शब्दः सर्वार्थाभिधायी । ततः सर्वे प्रत्यासन्नाः । अथापि शवस्पृष्टिशब्दस्य तत्स्पृष्टिपदेन सम्बन्धं कृत्वा ततोऽन्यैरभिसम्बन्धः, तथा सति पतितादीनां स्पृष्टिपदेन सम्बन्धो न स्यात् । तस्मात्समाचारत एव निर्णयः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दिवाकीर्तिं चाण्डालं । पतितं महापातकिनं । सूतिकां स्त्रियं दशाहमध्ये । तत्स्पृष्टिनं दिवाकीर्त्यादीनां पञ्चानामन्यतमस्य स्पृष्टारम् ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । चाण्डालं रजस्वलां ब्रह्महादिकं प्रसूतां दशाहाभ्यन्तरे शवं शवस्पृष्टिनं च स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धो भवति । केचित्तु तत्स्पृष्टिनमिति चाण्डालोदक्यादिभिः सर्वैः संबन्धयन्ति । गोविन्दराजस्तु याज्ञवल्क्यवचनाच्छवस्पृष्टिनमेव तत्स्पृष्टिनमाह, नोदक्यादिस्पृष्टिनम्; तत्राचमनविधानात् । तदाह याज्ञवल्क्यः (प्राय० ३०) ‘उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् । उदक्याशुचिभिः स्पृष्टः स्नानं कुर्यात्’ उदक्याशौचिभिः स्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेदाचामेत् ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतान् षट् स्पृष्ट्वा स्नायादित्याह दिवेति । दिवाकीर्तिं चाण्डालं उदक्यां रजस्वलां । तत्स्पृष्टिनं शवस्पृष्टिनं; नतु दिवाकीर्त्यादिस्पृष्टिनं; तेषां साक्षात्स्पर्शो स्नानमेव, परंपरास्पर्शो त्वाचमनं । ‘उदक्याशुचिभिः स्नायात्स्पृष्टस्तैर्वार्युपस्पृशेत्’ इति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । दिवाकीर्तिः चाण्डालः । तत्स्पृष्टं दिवाकीर्त्यादिस्पृष्टम् ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । दिवाकीर्तिर्नापितः, चाण्डाल इति केचित् । च पुनः तत्स्पृष्टिनं शवस्पृष्टिनं स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ ८५ ॥

(७) मणिरामः । दिवाकीर्तिः चाण्डालः । उदक्या रजस्वला । तत्स्पृष्टिनं शवस्पृष्टिनं न तु चाण्डालादिस्पृष्टिनं, तत्स्पर्शो आचमनविधानात् ॥ ८५ ॥

(८) गोविन्दराजः । दिवाकीर्तिमिति । चाण्डालरजस्वलापतितसूतिकाशव-तत्स्पृष्टिनः स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति । अन्ये तु चाण्डालादिस्पर्शेऽपि तत्स्पृष्टिन्यायमिच्छन्ति । किंतु ‘उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्’ इत्येवं याज्ञवल्क्य- (प्राय० ३०) वचनमस्ति । इत्थं स्मृत्यर्थेऽपि समाचारोऽन्वेष्टव्यः ॥ ८५ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ॥

सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । सूर्यदैवत्या मन्त्राः सौराः “उदुत्यं जातवेदसम्” इत्यादयः । पावमान्यः दाशतयोषु नवमे मण्डलेऽधीताः ‘स्वादिष्ठयेत्याद्याः’ । यथोत्साहं शक्तित इति च एक एवार्थः । वृत्तवशाच्छब्दद्वयं पठितम् । बहुवचननिर्देशात्त्रित्वसंख्याऽवश्यं कर्तव्या । परतस्तु यदि गुरुतरकार्यात्ययो न भवति तदा कर्तव्य एव जपः । मन्त्रग्रहणात्पावमानीरिति च ऋचामुपादानादसमाप्तेऽपि सूक्ते त्रिभ्य ऊर्ध्वं भवत्येव शुद्धिः । श्वाऽप्यत्र प्रक्षेप्तव्यः । सोऽप्यशुचिरेव । पठितं च गौतमीयेऽस्मिन्नेव वर्गे “शुनश्च । यदुपहन्यादित्येक” इति (अ. १४ सू० २९।३०) । प्रयतः अनन्यमना मन्त्रदेवतादिध्यानपरः । अथवा ‘प्रयतो’ देवतादिपूजाप्रवृत्तो यदा पश्येत्तदैव कुर्यान्नान्यदेति ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रयतो जपादिकर्मकरणार्थं प्रायश्चित्तकाले । अशुचिः चाण्डालादिः । सौरान् ‘उदुत्यं जातवेदसं चित्रं देवानामुद्वयं तमस’ इत्यादीन् । यथोत्साहं यथाशक्ति पावमानीः ‘स्वादिष्ठयामदिष्ठया’ इत्याद्याः ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । श्राद्धदेवपूजादिसंचिकीर्षुः स्नानाचमनादिना प्रयतः सन्प्रकृतचाण्डालाद्यशुचिदर्शने सति ‘उदुत्यं जातवेदसम्’ (ऋ. सं. १।४।७) इत्यादिसूर्यदैवतमन्त्रान्यथासामर्थ्यं पावमानीश्च शक्त्या जपेत् ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह आचम्येति । प्रयतः श्राद्धदेवादिपूजाचिकीर्षुः सन्निधानाद्विवाकीर्त्यादिषण्णामशुचीनां दर्शने ‘उदुत्य’मित्यादिसौरमन्त्राः । यथोत्साहं यथासामर्थ्यं सन्निध्यादिदर्शनानुरूपं वा ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । अशुचयो दिवाकीर्त्यादयः । सौरान् सूर्यदैवत्यान् । पावमानीः पवमानदैवत्याः, ऋच इति शेषः ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अशुचिदर्शने सौरान् मन्त्रान् गायत्र्यादीन् जपेत् । च पुनः शक्तितः पावमानीं सूक्तं जपेत् ‘पावमान्यः पुनन्तु माम्’ इति पठेत् ॥ ८६ ॥

(७) मणिरामः । श्राद्धपूजाद्यर्थं कृतस्नानादिर्यदि चांडालादिकं पश्येत्तदा किं कर्तव्यमत आह आचम्येति । सौरान्मन्त्रान् ‘उदुत्यं जातवेदस’मित्यादीन् । पावमानीः ॥ ८६ ॥

(८) गोविन्दराजः । आचम्येति । प्रकृतचाण्डालाद्यशुचिदर्शने सर्वदाऽऽचम्य शुचिः । स सूर्यदैवत्यान्मन्त्रान्यथासामर्थ्यं पावमानीश्च ‘स्वादिष्ठये’त्याद्याः शक्त्या जपेत् ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ॥

आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । नरो मनुष्यस्तस्येदं नारम् । सस्नेहं मांसमज्जादिगन्धम् । गोरा-
लम्भनं स्पर्शः । अर्कदर्शनगवालम्भौ विकल्प्येते ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सस्नेहमदग्धमशुष्कं च निःस्नेहं दग्धं शुष्कं वा । आचम्यैवेत्याचमनं कृत्वा गोस्पर्शनसूर्येक्षणयोरन्यतरत्कार्यमित्यर्थः ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । मानुषास्थि स्नेहसंयुक्तं स्पृष्ट्वा ब्राह्मणादिः स्नानेन विशुध्यति । स्नेहशून्यं पुनः स्पृष्ट्वाऽऽचम्य गोस्पर्शकविशेषणयोरन्यतरत्कृत्वा विशुद्धो भवति ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । नारं नरस्येदं । गोस्पर्शो रवेरीक्षणं वा ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नराज्जातं नारं सस्नेहमस्थि स्पृष्ट्वा स्नात्वा शुध्यति, द्विजात्यस्थि-विषयं शूद्रस्यास्थिस्पर्शने त्रिरात्रमाशौचम् । निःस्नेहं शुष्कं अस्थि स्पृष्ट्वा पादौ प्रक्षाल्याचम्य गामालभ्य स्पृष्ट्वा अर्कमीक्ष्य वा शुद्धो भवेत् ॥ ८७ ॥

(७) मणिरामः । नारं मानुषं अस्थि । आलभ्य स्पृष्ट्वा ॥ ८७ ॥

(८) गोविन्दराजः । नारमिति । स्नेहयुक्तं मानुषास्थि स्पृष्ट्वा ब्राह्मणादि स्नात्वा विशुध्यति । स्नेहशून्यं पुनः स्पृष्ट्वोपस्पृश्य गोस्पर्शनादित्येक्षणयोरन्यतरत् कृत्वा विशुध्यति ॥ ८७ ॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात् ॥

समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । आदेश 'आदिष्टम् ।' व्रतादेशनसम्बन्धाद्बहिरूपेण ब्रह्मचार्युच्यते । तस्य ब्रह्मचर्याश्रमस्थस्य सतो ये सपिण्डाः प्रमीयन्ते तेषाममनिष्टोदकदानप्रतिषेधः । प्राक्प्रमीतानां तु विहितमन्वाहिकं कुर्यादेवपितृतर्पणमिति ।

आ व्रतस्येति आ समावर्तनादित्यर्थः । न पुनरान्तरालिकसाहसिकादित्यर्थः । व्रताचरणसमाप्तेः समावृत्तः स सर्वेषामेकैकस्योदकं कृत्वैकस्मिन्नहनि, त्रिरात्रमाशौचं कुर्यात् ।

मातुस्तूदकदानं व्रतिनोऽपीष्यते । न च व्रतलोपः । स्मृत्यन्तरमुदाहरन्ति 'अपराध्य आदिष्टी नोदक' इति ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आदिष्टमाचार्येण ब्रह्मचार्यस्यपोशानेत्यादिना ब्रह्मचर्यव्रतं यस्य स आदिष्टी स पितर्यपि मृते नोदकमर्थादाशौचमपि न कुर्यात् । समाप्ते त्विति । समाप्ते तु ब्रह्मचर्ये यद्यनतीतवत्सरं पितृमरणं शृणुयात्तदा शौचमुदकदानं च प्रेतोद्देशेन त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणा कार्यं । ततः प्राक्सपिण्डने कृते प्रेतत्वाभावान्नैतदुदकदानमित्यर्थसिद्धम् । एतेन व्रतिनो व्रतकाल आपादितत्वादाशौचस्य तदाशौचात्ययकालप्राप्तकालमाशौचं कालान्तरेऽपि नास्तीति ग्राह्यमिति दर्शितम् । एतच्च युक्तिसिद्धमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । उदककरणोत्तर-कालीनत्वात् त्रिरात्रपूरणस्योदकं कृत्वेत्युक्तम् ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । व्रतादेशनमादिष्टं तदस्यास्तीति ब्रह्मचारी सप्रेतोदकमाव्रतसमापनान्न कुर्यात् । उदकमिति पूरकपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्योपलक्षणम् । समाप्ते पुनर्ब्रह्मचर्ये प्रेतोदकं कृत्वा त्रिरात्रमाशौचं कृत्वा विशुद्धो भवति । एतच्च मातापित्राचार्यव्यतिरिक्त-विषयम् । तदाह वसिष्ठः 'ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोर्गुरोर्वा'

शवकर्मणेति शवनिमित्तकेन निर्हरणदहनोदकदानपूर्वकपिण्डषोडशश्राद्धादिकर्मणा । वक्ष्यति च 'आचार्यं स्वमुपाध्याय' (५।९९) मिति ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च आदिष्टीति । आदिष्टी ब्रह्मचारी उदकं तत्पूर्वकस-
पिण्डषोडशश्राद्धादिप्रेतकृत्योपलक्षणं, एतन्मातापितृाचार्यातिरिक्तविषयं, तेषां कुर्यात् ।
'आचार्यं स्वमुपाध्याय'मित्यादिवक्ष्यमाणत्वात् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । आदिष्टं व्रतं तद्वानादिष्टी । व्रतस्य ब्रह्मचर्यस्य । समाप्ते व्रते ।
कृतसमावर्तनस्याकृतविवाहस्यायं त्रिरात्रविधिः ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आदिष्टी ब्रह्मचारी आ व्रतस्य समापनात् उदकं जलाञ्जलिं न
कुर्यात्; व्रतं समाप्य जलाञ्जलिं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति । एतावद्वत्सराभ्यन्तरे अकृतसपिण्डे
बोद्धव्यम् ॥ ८८ ॥

(७) मणिरामः । आदिष्टी व्रतादेशनं आदिष्टं तदस्यास्तीत्यादिष्टी ब्रह्मचारी ।
आ व्रतस्य समापनात् उदकं प्रेतोदकं न कुर्यात् । उदकमित्युपलक्षणं, तेन प्रेतसंबधिसकलकर्म
कुर्यादित्यर्थः । एतच्च मातापितृाचार्यातिरिक्तविषयं । ब्रह्मचारिणः शवकर्मणां
व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापितृोर्गुरोरे'ति वसिष्ठवचनात् । समाप्ते तु व्रते इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

(८) गोविन्दराजः । आदिष्टी नोदकमिति । व्रतादेशयोगादादिष्टी ब्रह्मचारी ब्रह्म-
चारिणः 'शवकर्मणां व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापितृोरिति वसिष्ठस्मरणान्मातापितृव्यति-
रिक्तानां सपिण्डादीनां अनिष्टोदकसमावर्तनान्न कुर्यात् । समाप्ते पुनः ब्रह्मचर्ये तेभ्योऽनिष्टोदकं
दत्त्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ ८८ ॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ॥

आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्ततोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

(९) मेधातिथिः । 'जात'शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । वृथाजातो यो न देवानर्चयति
न पितृन् मनुष्यानि । सत्यधिकारेऽनाश्रमी, हुताहुतपरित्यक्तः । 'संवत्सरमनाश्रमी भूत्वा'
इत्यादि चिरकालावस्थाने महादोषश्रवणात् । ब्रह्मचारिपरिव्राजकाभ्यामन्यस्य परपाकरति-
त्वम् । आत्मार्थस्तु पाको निषिद्धः ।

संकरजाता इतरेतरजातिव्यतिकरेण प्रतिलोमा आयोगवादयः । निन्दितत्वाद् वृथा-
जातसाहचर्येण । अनुलोमास्तु सत्यपि संकीर्णयोनित्वे मातृजातीयत्वादधिकारित्वाच्च नेह
गृह्यन्ते । न चानुलोमेषु संकीर्णयोन्यव्यवहारः । "संकीर्णयोनयस्त्वेताः प्रतिलोमानुलोमजा"
इति । अनियुक्ता सुतादयश्चानेकपुरुषसंसर्गजाः वेश्याजाताश्च । पारस्त्रैगेयास्तु असत्यनेक-
पुरुषसंसर्गे न संकरजाताः ।

अयं च सपिण्डानां निषेधो, न तत्पुत्राणामिति केचित् । आत्मत्यागिनां तु पुत्राणामपि;
तदयुक्तमविशेषश्रवणात् ।

‘प्रब्रज्यासु’ बाह्यासु भगालवरक्तपटाद्यासु अनधिकाराद्बहुवचननिर्देशात् व्रतादि-
दर्शनभेदेन बाह्याः ।

आत्मनस्त्यागिनां पुरुषाणामायुषोऽक्षये स्वेच्छया शरीरं त्यजन्ति । वृद्धानाम-
चिकित्स्यमहाव्याधीनां च भिषक्प्रत्याख्यातानामिष्यत एव । यथोक्तम्— “वृद्धः शौच-
स्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः । आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥” “तस्य
त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः । तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥” इति ।

कुष्ठद्यादेस्तु व्याधिगृहीतस्य इष्यत एव । यथोक्तं ‘लुप्तचेष्टस्य’ । गृहस्थावस्थाया-
मपि— “महाप्रस्थानगमना वृथा नेच्छन्ति जीवितुम्” । ‘लुप्तचेष्ट’श्चोच्यते यः शौचा-
दिष्वसमर्थः संध्योपासनादिषु च ।

‘अपरिक्षीणशरीरो वा सादयेद्यस्त्वात्मानमलुप्तचेष्टो वा’ । अतस्तद्विपरीतस्यानुज्ञातं
भवति ।

स्मृत्यन्तरेष्वन्येषामप्युदकक्रियानिषेधो विहितः । यथोक्तम्— “राजभिर्निहतानां च
शृंगिदंष्ट्रिसरिसृपैः । आत्मनस्त्यागिनां चैव श्राद्धमेषां न कल्पयेत् ॥” “उदकं पिण्डदानं च
प्रेतेभ्यो यच्च दीयते । नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ॥” “नारायणबलिः कार्यो
लोकगर्हाभयान्नरैः । तस्मादेभ्योऽपि दातव्यमन्नमेव सदक्षिणम्” ॥

तथाऽन्यत्र “चण्डालादुदकात्सर्पाद्ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं
पापकर्मणाम्” । तथा चोक्तम्— “नृणां चैवाग्निदानां च स्नानालंकारकारिणाम् ।
तप्तकृच्छ्रद्वये शुद्धिरश्रुपातेऽनुयायिनाम् ॥” “तेनोद्विष्टं न चैवान्यैः कार्यमस्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न च नामापि कर्तव्यं तद्वंशस्य तदीयकम् ॥” “अत्यन्तनरकस्थस्य तस्य पापीयसोऽधिकम् ।
कारणं कीर्तनं नाम सर्वं चैव भयावहम्” ॥

संबर्तेन आस्वेव क्रियासु सान्तपनमाप्नातम्, पराशरेण तप्तकृच्छ्रम्, वशिष्ठेन तप्तकृच्छ्र-
सहितं चान्द्रायणम् । तत्रापूर्वादिविशेषा उपेक्ष्याः । यदुक्तम् ‘चण्डालादुदकात्’ इत्याद्युपक्रम्य
‘मरणं पापकर्मणामिति’ तत्रेदं सन्दिह्यते— किं यश्चाण्डालादिर्बुद्धिपूर्वमात्मानं घातयति तस्यायं
विधिरौर्ध्वदेहिकाकरणम्, तत्करणे च प्रायश्चित्तम्, उत प्रमादहतस्यानिच्छत इति । कुतः
सन्देहः ? इह गौतमेन “प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्वन्धनप्रपतनैश्चेच्छता” इत्युक्तम्
(१४।१२) । इह चाविशेषण श्रुतं “चण्डालादुदकात्” इति । तत्र स्मृत्यन्तरेणैकशास्त्रत्वादु-
दकादित्यत्र तावदवश्यमिच्छतामिति सम्बध्यते । साहचर्यादन्यत्रापि तथैवेत्याशङ्का जायते ।
किंच पापकर्मणामिति श्रूयते । पापं च कर्म प्रतिषिद्धम् । अत्र प्रतिषिद्धं योजनुतिष्ठति स
पापकर्मेत्युपपद्यते । अनुष्ठातृत्वं च स्वव्यापारेण परप्रयोक्तृतया च । तत्र न वैद्युतदंष्ट्रि-
शुद्ध्यादयः । ते च न प्रयुज्यन्ते । नापि ते श्वभ्रोदकखड्गादिस्थानीयाः । येन तदुपादानेना-
त्मानं घ्नन् स्वतन्त्रः कर्ता स्यात् । किं तर्हि ? यस्येदृशं मरणमुपनतं स पूर्वजन्मनि कृतपातक
इति शास्त्रेण ज्ञाप्यते । यथा श्यावदन्तप्रभृतयः । तत्रापि किमेतेन ज्ञापितेन ? अङ्गहीना-
दीनां पूर्वपापसम्बन्धित्वं ज्ञाप्यते । प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं यथा वसिष्ठेनोक्तं कस्यचित्कृच्छ्रद्वय-
चरणं कस्यचिदभ्यधिकमपि ।

इह मृत्युना सम्बन्धिकारस्यापहतत्वान्नार्थोऽनेन । यदि वाऽसौ कृतपातक इत्यवसीयते । तेन सह येन केनचित् यौनमौखलोवाः सम्बन्धाः कृताः सोऽपि पापकारी स्यात् । न चैवं शिष्टानामाचारः । न हि तादृशेन सम्बन्धं कृतवन्तः केनचिद्विचिकित्सन्ते । प्रायश्चित्तं नाचरन्ति । अत इच्छतामनुमीयते । ये तु 'गोब्राह्मणहतानाम्' इति स्मृत्यन्तरे पठित्वा 'आत्मनस्त्यागिनामिति' पृथक् पठन्ति तेन विशेषपक्षः प्रतिभाति । अतः संशयः—किं पुनरत्र युक्तम् ? इच्छतामिति । कुतः ? पापकर्मवचनात् । स्वेच्छया यश्चात्मव्यापत्तिहेतौ व्यापारे प्रवर्तते तेन "तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादिति" शास्त्रमतिक्रान्तं भवति । स च युक्तः पापकर्मेति व्यपदेष्टुम् ।

“ननु चोक्तं न हि ते खड्गादिस्थानीयाः, येनेच्छया बधोपपत्तिः ।”

उच्यते । यः प्रमादं न रक्षति तेन तत्कृतमेवेति । तेन यश्चाण्डालदस्युभूयिष्ठेऽरण्य एकाकी गच्छति, तस्य यद्यपि चण्डाला मां घनन्वितीच्छा न भवति, तथापि तत्समर्थाचरणेन प्रमादस्यापरिहृतत्वाद्भूवत्येव शास्त्रातिक्रमः । एवं यो बाहुभ्यां नदीं तरति संदिग्धां वा नावमधिरोह्यकुशलकर्णधाराधिष्ठिताम्, एवं तस्य व्यापद्यमानस्य वेगक्षयेण नौपरिवर्तनादिना वा युक्तैव पापकारिता । तथा चागाधतां दण्डादिना ग्राह्यकरसंगं च ज्ञात्वा स्नातारो यद्यपि ह्येतरन्न दुष्येयुः । एवं यस्तु दृढबन्धनां तर्हि तीव्राम्भसि कुशलावहितसमर्थप्रेरकप्रेर्यमाणा-मधिष्ठः सहसोत्पतिते जविनि पवने चक्रवातेन पिच्छलमवाप्तवान् प्लवव्यापत्या म्रियेत न शास्त्रमतिक्रमेत् । एवं सर्पोपहतं देशं च अपरिहरन्दष्टो व्यापद्येत प्रत्यवेयादेव, नान्यथा । एवं तीक्ष्णशृङ्गां गां हस्तिनं वा दृष्ट्वा दूरमनपक्रामतो हन्यमानस्य युक्तोऽतिक्रमः । एवमरण्ये वर्षासूचरन्तीषु विद्युत्सु ग्रामनगरयोरप्रवेशे दुष्टतैव । ग्रामस्थस्योपरि कथंचिद्विद्युत्पातः स्यात्तदा न किंचिदपराध्यति । अतो युक्तमीदृशं यथाविहितक्रियाकरणम् । तत्र चोदक-क्रियानिवेधः सर्वोर्ध्वदेहिकप्रदर्शनार्थः, स्मृत्यन्तरेऽस्योदाहृतत्वात् ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वृथाजाताः क्लीबाः । संकरजाः प्रतिलोमजाः । प्रब्रज्या चतुर्थाश्रमः । आत्मनस्त्यागिनामुद्धन्नादिना । उदकक्रियेत्याशौचस्यापि ग्रहणम् ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । 'जात'शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, वृथाजातानां बाहुल्येन त्यक्त-स्वधर्माणां संकरजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषूत्पन्नानां वेदबाह्यरक्तपटादिप्रब्रज्यासु वर्तमाना-नामशास्त्रीयविषोद्धन्नादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिनामुदकादिक्रिया न कर्तव्या ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । एषामुदकं नास्तीत्याह वृथेति द्वाभ्यां । वृथाजातानां पञ्च-यज्ञाद्यनधिकारित्वेन चिरकालमनाश्रमिणामिति मेधातिथिः । संकरजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्ट-स्त्रीषु जातानां । तिष्ठतां परमहंसानाम् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । वृथाजाताः पञ्चमहायज्ञादीनामकर्तारः । संकरजाताः परभार्यायाम-नियुक्तायामुत्पन्नाः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह वृथेति । वृथाजाता पञ्चयज्ञरहिताः क्लीबादयो वा संकरजातानां च पुनः यतीनां च पुनः आत्मत्यागिनाम् पाषण्ड्यमाश्रितानाम् । च पुनः

कामतः चरन्तीनां व्यभिचारिणीनाम् । एवं वृथादिसुराप्यन्तानां योषितां उदकक्रिया जलाञ्जलिदानसूतकमपि निवर्तेत न कुर्यात् ॥ ८९ ॥

(७) मणिरामः । येषां प्रेतक्रिया न भवति तानाह वृथेति । जातशब्दः प्रत्येक-
मन्वेति । वृथाजातानां त्यक्तस्वधर्माणां । संकरजातानां नीचवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीपूतपन्नानां ।
प्रव्रज्यासु वेदबाह्यरक्तपटादिप्रव्रज्यासु । आत्मनस्त्यागिनां । अशास्त्रीयकृतात्म-
घातिनां ॥ ८९ ॥

(८) गोविन्दराजः । वृथासंकरजातानामिति । वृथाजातानां बाहुल्येनोत्कृष्ट-
स्वधर्माणां सङ्करजातानां वा नियुक्तासुतादीनां व्यतिक्रमसाहचर्याच्च वेदबाह्येषु च व्रतेषु
रक्तपटादित्वादिषु वर्तमानानां तथा ॥ ८९ ॥

[वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ॥

आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनांबुभिः ॥ १ ॥

तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसञ्चयः ॥

तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥ २ ॥]

[मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदनुचारोष्णं चेति वृद्धगार्गिवर्णवाद्युक्तश्रुतिस्मृतिबाह्य-
प्रकारेण । बुद्धिपूर्वं विषोद्वन्धनादिनात्मानं हतवतामुदकक्रियाद्यौर्ध्वदेहिकमाशौचं जनना-
शौचोदकभाजना इति याज्ञवल्क्यस्मरणान्निवर्तते ॥ १-२ ॥]

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ॥

गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । शास्त्रपरित्यागेन बाह्यदर्शनाश्रयं नरशिरःकपालरक्ताम्बरा-
दिधारणं 'पाषण्डम्' तदाश्रिताः । कृततल्लिङ्गपरिग्रहाः तद्दर्शनवशवर्तित्यः ।

चरन्तीनां च कामतः । तदाचारकुलस्थितित्यागेनेच्छामात्रानुवृत्तैकानेकपरपुरुष-
संप्रयोगः 'कामचारः' । भर्तुर्विषगरादिदानेन गर्भस्य च पातनं द्रोहः । सुराप्यः यथाप्रतिषेधं
प्रतिषिद्धायाः पानेन ।

अत्र कश्चिदाह "ब्राह्मणो न पिबेत्सुरामिति" सत्यपि जात्यर्थाविशेषे लिङ्गात्पुंस
एव ब्राह्मणस्य प्रतिषेधो न स्त्रिया इति । यद्यपि स्त्रीपुंसयोरेका जातिस्तथापि स्त्रीत्वपुं-
स्त्वलिङ्गे भिद्येते । इह च ब्राह्मण इति पुल्लिङ्गस्य शब्दस्य श्रवणादश्रुतायाः कः प्रसङ्गः ।
यथा 'ब्राह्मणीं पाययेत्पुत्रार्थमिति' न पुंसः पाययेदिति, तद्वत्पुल्लिङ्गश्रुतौ न स्त्रिय उपादीयन्ते ।
यत्र क्वचिल्लिङ्गं न विवक्ष्यते, यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इति स्त्रिया अपि प्रतिषेधो विज्ञायते,
तत्र द्वितीयया श्रुत्या ब्राह्मणस्येप्सिततत्त्वत्वात्प्राधान्यम् । न च प्रधाने प्रातिपदिकार्थव्यतिरेके-
कणान्यलिङ्गसंख्यादि विवक्ष्यते । यथा 'ग्रहं समाप्तीति' नैकस्य समार्गः । इह पुनर्ब्राह्मणेन
सुरा न पेयेति' कर्तृतया साधनभावेन क्रियां प्रति निर्देशात् 'ब्राह्मणो न पिबेत्सुरा'मित्याख्याता-
भिहितेऽपि तदर्थानामपि वृत्तेः प्रातिपादिकार्थोपपत्त्या प्रथमाऽपि तृतीयानुगुण्येति गुणीभावः,
गुणे च सर्वं श्रुतं विवक्ष्यते । यथा 'पशुना यजेतेति' पुमान्पशुरालभ्यते एकश्च ।"

अत्रोच्यते । नात्र द्वितीयातृतीये गुणप्रधानभावेनाविवक्षाविवक्षयोः कारणम्, किं तर्हि ? प्राप्त्यप्राप्तौ । यदप्राप्तं विधिविषयतयोपपद्यते तद्विवक्ष्यते, अनन्यपरशब्दावगम्यत्वात् । यत्त्वन्त्यतोऽवगतमर्थान्तरं विध्यर्थमुपादीयते, तद्यादृशमेव प्रमाणान्तरावगतं तादृशमेव विधेयकार्यान्तरसम्बन्धितया शब्देन प्रतिपाद्यते । 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्र वाक्ये विधिः प्रतिषेध एव पर्यवस्यति, यदन्यत्तदन्यतोऽवगतम् । प्रातिपदिकार्थविवक्षा तु श्रुत्यानर्थक्यप्रसंगात् । लिङ्गसंख्यादेस्तु प्रत्ययार्थस्य नान्तरीयकत्वेनाप्युपादानसम्भवाद्विवक्षाविवक्षे उच्येते । तत्रेह न ब्राह्मणादिभिः पुरुषो विधिना प्रवर्त्यः । तद्वेषात्स्वतः प्रवृत्तेः तत्सर्वस्य चात्र स्वयं प्रसंगात् । न ह्यविधीयमानः प्रतिषेधः कथंचिदन्वेतुमलम् । अन्यतः प्राप्त्यभावात्, अकारकत्वादकारकविशेषणत्वात्स्वभावानुप्रवेशेनापि सम्बन्धं न लभते । तस्मादस्यान्वयसिद्धयर्थं विषयभाव एषितव्यः । तस्मिंश्च विधिना विषयीकृतेन भावार्थो विषयतयाऽपेक्ष्यते । भावार्थश्च प्रतिषेधेन विषयांशस्य गृहीतत्वात्ततः प्रच्युतो लौकिक्या च प्रवृत्त्या सिद्धानुष्ठान आत्मविधिसिद्धयर्थमनुप्रवेशमप्यकांक्षन्नधिकारमात्रसापेक्षविधौ प्रमाणान्तरतः प्रतिपन्नहननकर्तृभावस्य पुंसोऽधिकारतां प्रतिपादयंस्तद्विशेषणद्वारेणान्वयं प्रतिपद्यत इत्युपपन्नमन्विताभिधानम् । तेन भावार्थस्य सविशेषणस्याविधेयत्वाल्लौकिकी प्रवृत्तिरभ्युपेतव्या । अस्ति च रागलक्षणा प्रवृत्तिर्न तस्या लिङ्गसंख्यानियमोऽस्ति, द्वेपाद्वा । तस्मादविधेयार्थशब्दोऽवगतार्थपरत्वादभिधानशक्तिमुत्सृज्य प्रमाणान्तरतो यथावधृतस्वरूपमर्थं लक्षयति । तत्र लिङ्गसंख्ययोस्तात्पर्यतः शब्देनानभिधानात्कुतो विवक्षा । केवलं प्रातिपदिकनिर्देशार्थं येन केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्तव्यः, न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्येति तदर्थं लिङ्गसंख्ययोरुपादानम् ।

अत इयमत्रावगतिः । हननेऽध्यवसितकर्तृभावः स नञ्यर्थे नियुज्यते । अतः प्रतिषेधवाक्ये द्वितीयाश्रुतिरविवक्षायामतन्त्रम् । यत्रापि हि तृतीया श्रूयते प्रथमा वा, 'ब्राह्मणेन न पातव्या', 'ब्राह्मणो न पिबेदिति' तत्रापि तदर्थश्चान्यतः प्राप्तेरविधेयत्वादनूद्यते । याऽधिकारविशेषणत्वेनैव सम्बद्धा तत्र ते द्वितीयाविशिष्टे प्रथमातृतीये । सत्यामपि च द्वितीयाश्रुतौ यदप्राप्तं तद्विधेयत्वाद्विवक्ष्यते यथा "भार्यामुपगच्छेत्" "अपत्यमुत्पादयेदिति" । न हि लौकिको भार्यार्थः, उपयमनेनैव तत्सिद्धेः ।

नापि वाक्यान्तरे विधिना कचिदुपात्तो येन यथावगममुद्दिश्येत यथा 'अश्विनं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' 'दशैतानध्वर्युर्गृह्णातीति' संख्याविशिष्टा एव ग्रहा उपादीयन्ते । अतो निर्जातसंख्यत्वात्संमार्गविधौ यथासंख्यावगमं निर्दिश्यते । अत्र पुनर्वाक्यान्तराभावादस्यैवोत्पत्तिवाक्यत्वाच्छ्रुतसंख्यापरित्यागे प्रमाणाभावान्निरपेक्षाभिधानशक्तिसमर्पितस्यैकस्य परित्यागः पुरुषबुद्धिप्रभव एव स्यात् । एवं 'पशुना यजेते'ति यागविषयत्वाद्विधेस्तस्य च साध्यस्वभावत्वात्साधनाकांक्षायां समर्पितसविशेषणकारितसहितस्य विधेयत्वे यज्यर्थमात्रे विधिव्यापारापरिसमाप्तेः स्वार्थपरशब्दाभिहितापेक्षितस्वार्थाः किमिति नयन्ति ।

प्रमाणशास्त्रविदस्तु स्वयं विधिं वदन्ति अन्योक्तमवगाहन्ते । यत्त्वस्माभिस्तु तत्सुखोपायग्राह्यम्, नातिमहती व्युत्पत्तिरत्रोपयुज्यते । इयदेव च तत्सारम् । इयती

सा विद्याऽनुष्ठानोपयोगिनी यदधिकमाहोपुरुषिकामात्रं तदर्थवाद एव । तत्र ह्यर्थवादा-
द्विशेषावगतिर्भवति यत्राकांक्षा विधेरनिवृत्तेति । यथोक्तमुपदधातीति बहुषु भोजनसाधनेषु
सर्पिस्तैललवणादिषु सत्सु केनेत्यनवसाये घृतेनेति गम्यते । यथा तु रात्रिष्वनुष्ठानाश्रवणा-
दाकांक्षायां प्रतिष्ठित्यन्तीत्यर्थवादः । अतः प्रतिष्ठाकामस्येति गम्यते । इह पुनर्ब्राह्मणा
इति परिसमाप्तत्वात्पदार्थस्य निवृत्ताकांक्षेति स्तुतिमात्रापेक्षयाऽर्थवादः । अथ लिङ्गदर्शन-
मात्रतयोपन्यस्यते “देवानामश्नता हवि”रिति (११।९५) तस्माच्छेयः संपन्नं पापी-
यानन्वेतीतिवत्तदपि पुंसः प्रतिषिद्धत्वात्पाक्षिकेनानुवादेन सालम्बनमिति न किञ्चित् । स्त्रीणा-
मपि देवान्नशेषमाज्यादिप्राशनमस्त्येव । वेदोदाहरश्च दर्शपूर्णमासादिषु “विदेयकर्मासीति” ।
न च श्राद्धस्य कर्तुः सुरां पाययेदिति चोदनया तासां पानमनुमीयते । ब्रह्महत्यादानेनैव ग्रहः ।
तस्माज्जातिमात्रस्य प्रतिषेध इत्येष एतस्यां विप्रतिपत्तौ निर्णयः ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पाषण्ड्यं बौद्धादिदर्शनं तल्लिङ्गं वा आश्रितानां पुंसां स्त्रीणां
च कामतश्चरन्तीनां सवर्णव्यभिचारिणीनामपि । गर्भद्रुहां गर्भानुत्पत्त्यर्थं कृतौषधीनां ।
भर्तृद्रुहां भर्तृताडनादिकारिणीनां । सुरापीनामिति ब्राह्मणीविषयेणान्यदप्यन्यजातीयास्वपि
महापातकमुपलक्ष्यते । ‘वृथासंकरजातानां’मित्यादौ पुल्लिङ्गमत्र च स्त्रीलिङ्गं योषितामिति पदं
चाविवक्षितार्थम् ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । वेदबाह्यरक्तपटमौञ्ज्यादिब्रतचर्या पाषण्डं तदनुतिष्ठन्तीनां स्वच्छन्द-
मेकानेकपुरुषगामिनीनां गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनां द्विजातिस्त्रीणां सुरापीनामुदकक्रियौ-
र्ध्वदैहिकं निवर्तेत इति पूर्वेण संबन्धः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । अशास्त्रीयबन्धनादिना प्राणस्य त्यागिनां चरन्तीनां कामतः
काममात्रोपशमनार्थं कुलटानां । योषितां सुरापीनां द्विजातिस्त्रीणाम् ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । पाषण्ड्यं वेदबाह्यं कर्म । कामचारो व्यभिचारः । निवर्तेतोदक-
क्रियेत्यनुषङ्गः ॥ ९० ॥

(६) मणिरामः । पाषण्डं आश्रितानां वेदबाह्यरक्तपटमौञ्ज्यादिब्रताऽऽचरणं
पाषण्डं, तदनुतिष्ठन्तीनां । कामतः चरन्तीनां स्वच्छन्दमेकाऽनेकपुरुषगामिनीनां । गर्भभर्तृद्रुहां
गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनां ॥ ९० ॥

(८) गोविन्दराजः । पाषण्डमिति । वेदबाह्यब्रतवर्तिनां कुलटानां च यथा गर्भ-
भर्तृघ्नीनां सुरापीनां च द्विजातिवन्निषेधातिक्रमेण चरन्तीनां च यथासंख्यं द्विजातिस्त्रियं
प्रत्याह । सुरालशुनपलाण्डुगृञ्जनकादीन्यभक्ष्याणि वर्जयेदेवंविधानां स्त्रियामुदक-
क्रियाद्यौर्ध्वदैहिकमाशीचं निवर्तेत ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ॥

निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वग्रहणमाचार्यविशेषणं मन्यते । “गुरोर्गुरौ सन्निहित” (२।-
२०५) इत्यतिदेशात्तदाचार्येऽपि प्राप्ते प्रतिषेधः ।

अन्ये तु स्वशब्दं बान्धववचनं व्याचक्षते । अत्र तु पितरं मातरमिति न वक्तव्यम् ।
नित्यार्थं त्वभिधानमिति । गुरुः “अल्पं वा बहु वाऽपि” (२।१४९) इत्यनेन य उक्तः ।
एतान्निर्हरतो व्रतवियोगो नास्तीति श्रुतसामर्थ्याद्दर्शयति । अन्यान्निर्हत्यानेन वियुज्यत
इति पदार्थसिद्धिः ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचार्यमुपनायकं । उपाध्यायं वेदाध्यापकं । गुरुं वेदार्थ-
व्याख्यातारं । निर्हृत्य निर्हरणं दाहादि तेषां कृत्वा । एतच्चान्यस्मिन्कर्तर्यसति । अर्थादन्य-
स्मिन्सति । तथाचार्यादिभ्योऽन्यस्य निर्हरणादिकरणे व्रतलोपस्तथा च पुनःसंस्कारः ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्य उपनयनपूर्वकं संपूर्णशाखाध्यापयिता, उपाध्यायो वेदैक-
देशस्याङ्गस्य वाऽध्यापकः । वेदस्य वेदानां चैकदेशस्यापि व्याख्याता गुरुः । निर्हरण-
पूर्वकत्वात्प्रेतकृत्यस्य निर्हृत्य इति दाहदशाहपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यस्य प्रदर्शनार्थ-
माचार्यादीन्पञ्च मृतान्निर्हृत्य ब्रह्मचारी न लुप्तव्रतो भवति । एवं चान्यान्निर्हृत्य व्रतलोपो
भवतीति गम्यते । ‘आचार्यं स्वमित्यभिधानाद्गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरे’
(२।२०५) इति न्यायान्नाचार्याचार्यमपि स्वमिति सर्वत्र संबध्यते, तेनोपाध्यायोपाध्यायमपि
निर्हृत्य व्रतलोप एव ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तलक्षणाचार्यादिपञ्चकं प्रत्युदकादिकृद्ब्रह्मचारी न
व्रतलोपी स्यादित्याह आचार्यमिति । आदिष्टीत्यस्य प्रतिप्रसवः तेषां पुत्राद्यभावे ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । ‘स्वमुपाध्याय’मिति वचनाद्गुरोरुपाध्याये प्रतिषेधः । व्रतो ब्रह्मचारी ।
निर्हृत्य पितृमेधकर्मणा संस्कृत्य । एभ्योऽन्यान्निर्हृत्य व्रतेन वियुज्यत इत्यभिप्रायः ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । व्रतो ब्रह्मचारी आचार्यादीन् निर्हृत्य दग्ध्वा व्रतेन न
वियुज्यते ॥ ९१ ॥

(७) मणिरामः । ब्रह्मचारिणोऽपि क्वचित्प्रेतहरणे दोषाभावमाह आचार्य-
मिति ॥ ९१ ॥

(८) गोविन्दराजः । आचार्यमिति । स्वमाचार्यं न गुरौ सन्निहिते गुरुवृत्तिमाचरे-
दिति न्यायेनाचार्यमपि मातृपितृपाध्यायं ‘अल्पं वा बहु वा यस्येत्येवंविधं गुरुं प्रेतान्निर्हृत्य
ब्रह्मचारी लुप्तव्रतो न भवति । एवं वा निर्हृत्य भवतीति गम्यते ॥ ९१ ॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ॥

पश्चिमोत्तरपूर्वस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । पुरद्वारेणेति । पुरग्रहणं ग्रामादीनामप्युपलक्षणार्थम् ।

यत्रानेकद्वारसम्भवस्तत्रायं नियमः । यो यत्रेष्टे तस्यायनुपदेशः ।

अमङ्गल्यत्वाच्च शूद्रादारभ्य क्रमेणोपदिष्टम् । अतश्च यथायोगमिति वैश्यक्षत्रिय-
ब्राह्मणाः पश्चिमादिभिर्यथासंख्यं सम्बन्धनीयाः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथायोगं यथार्हं वैश्यक्षत्रियविप्रक्रमेणेत्यर्थः ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । अमाङ्गलिकत्वादत्यन्तापकृष्टशूद्रक्रमेणाभिधानम् । शूद्रं मृतं दक्षिण-
पुरद्वारेण निर्हरेत् । द्विजातीन्पुनर्यथायोगं यथायुक्त्यापकृष्टवैश्यक्षत्रियक्रमेणैव पश्चिमोत्तर-
पूर्वद्वारेण निर्हरेत् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । शावाशौचप्रसंगेनाह दक्षिणेनेति । यथोपयोगमपकृष्टवैश्यादि-
क्रमेण । पूर्वेण विप्रमित्येव संभवद्विषयत्वात् । पुरादन्यत्रानियमः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । पश्चिमेन वैश्यं उत्तरेण क्षत्रियं पूर्वेण ब्राह्मणं यथायोगं यथाक्रमं
हारयेत् ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । दक्षिणेन पुरद्वारेण मृतं शूद्रं निर्वहेत् निष्क्रामयेत् । यथायोगं
यथाक्रमं द्विजन्मानः द्विजातयः तद्यथा पश्चिमेन वैश्यं उत्तरेण क्षत्रियं पूर्वेण ब्राह्मणमिति ॥ ९२ ॥

(७) मणिरामः । प्रेतनिष्कासनद्वाराण्याह दक्षिण इति ॥ ९२ ॥

(८) गोविन्दराजः । दक्षिणेनेति । शूद्रं मृतं दक्षिणदिग्वर्तिना नगरादिद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वदिग्वर्तिभिः पुरद्वारैर्यथाक्रमं वैश्यक्षत्रियब्राह्मणान्निर्हरेत् । अमङ्गलत्वाच्छू-
द्रादिप्रक्रमेणात्र धर्माभिधानम् ॥ ९२ ॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ॥

ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । राजशब्दो यद्यपि क्षत्रियजातौ वर्तते तथापीह ऐन्द्रं स्थानमुपासीना
इति कारणस्योपादानाज्जनपदेश्वरवचनो लक्षणया विज्ञायते । उत्तरश्लोके निपुणं वक्ष्यामः ।
व्रतिनो व्रतचारिणः चान्द्रायणादिस्थाश्च । सत्रिणो गवामयनिकाः अन्यस्मिन्वा यज्ञे दीक्षिताः ।
तथा च गौतमः “ऋत्विग्दीक्षितब्रह्मचारिणामिति” । अत्रार्थवादः । ऐन्द्रं स्थानमाधिपत्यं पदं
प्रजैश्वर्यमुपासीनाः कुर्वाणा राजानो, ब्रह्मत्वं प्राप्ताः व्रतिनः सत्रिणश्च । अघदोषमाशौचम् ।
अन्ये तु सततदानप्रवृत्तान् ‘सत्रिणो’ मन्यन्ते । मुख्य याऽनुवृत्त्या क्रतुविशेषे वर्तते ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ‘न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रं’ इति
स्मृत्यन्तरेऽभिधानात् । राजब्रह्मचारियजमानानां व्यवहारदर्शनाद्यसाधारणराजकार्याध्ययन-
संध्योपासनादिब्रह्मचारिकृत्ययागतदङ्गमन्त्रपाठादियजमानकृत्येष्वेवाशौचाभावः । अघदोष
आशौचकृतमनधिकारित्वम् । सत्रं यज्ञं तद्वतां, यजमानानामित्यर्थः । ऐन्द्रं स्थानं परलोक-
मुपासीना आकाङ्क्षमाणा एतत्कर्म कुर्वन्तो ब्रह्मभूता ब्रह्मवच्छुद्धाः । ‘ब्रह्मपूता’ इति पाठे
ब्रह्मवत्पूता इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

(३) कुल्लूकः । राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणां सपिण्डमरणादावाशौचदोषो नास्ति,
यतो राजान ऐन्द्रं स्थानं राज्याभिषेकाख्यमाधिपत्यकारणं प्राप्ताः । व्रतिनो ब्रह्मचारिण-
श्चान्द्रायणादिव्रतकारिणश्च । सत्रिणो गवामयनादियागप्रवृत्ताः । यतो ब्रह्मभूतास्ते ब्रह्मैव

निष्पापाः । आशौचाभावश्चायं कर्मविशेषे । तदाह विष्णुः—‘आशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे’ राजकर्मणि व्यवहारदर्शनशान्तिहोमादिकर्मणि ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । अयमपि प्रतिप्रसवः । न राज्ञामिति । प्रकरणादघपदमाशौचपरं; इदमाशौचराहित्यं कर्मविशेषे । तदाह विष्णुः—‘आशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे’ इति । ऐन्द्रमिन्द्रवदधिकृतं । ब्रह्मभूताः ब्रह्मेव तत्तत्कर्मसु निष्पापाः आरब्धत्वेन श्रौतहोमवदावश्यकत्वादिति भावः ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणाम् । व्रतिनां प्रारब्धवेदपारायणकृच्छ्रादीनाम् । सत्रिणां प्रारब्धयज्ञानाम् । उत्तरार्धेन हेतुरुक्तः । ऐन्द्रं स्थानमुपासीनाः देवतायजनपरत्वात् । तथा हि श्रुतिः ‘एष वा एतर्हीन्द्रो यो यजत’ इति । ब्रह्मभूता धर्मस्वरूपिण इत्यर्थः । हि यस्मात् ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । राज्ञां राजकर्मणि अघदोष आशौचदोषः नास्ति । व्रतिनां पूर्वसंकल्पितव्रते दोषो नास्ति स्नातकव्रतादिकानां वा । सत्रिणां सत्रकर्मणि दोषो नास्ति । अघदोषः आशौचकृतमनधिकारित्वम् । ऐन्द्रं स्थानं परं लोकं उपासीनाः आकाङ्क्षमाणाः एतत्कर्म कुर्वन्तो ब्रह्मभूताः ब्रह्मवच्छुद्धाः । हि निश्चये । न तेषां शौचाभावः ॥ ९३ ॥

(७) मणिरामः । येषां सर्पिडाशौचं नास्ति तानाह न राज्ञामिति ॥ ९३ ॥

(८) गोविन्दराजः । न राज्ञामिति । यतो राजान ऐन्द्रं स्थानमाधिपत्यपदमाश्रिता ब्रह्मचारिणः चांद्रायणादिव्रतप्रवृत्ताः सत्रिणश्च गवामयनादिस्था ब्रह्मत्वप्राप्त्यभिमुखा अतस्तेषां स्वकर्मण्याशौचाख्यो दोषो न भवति । तथा च विष्णुः—‘न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे चे’ति एवं च ॥ ९३ ॥

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते ॥

प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । महानात्मा यस्य स्थानस्य तन्माहात्मकं । यस्मिंस्थाने स्थितस्य पुंसः प्रजानां परिरक्षा, ‘माहात्म्यं’ तदेव उच्यते । तच्च प्रजैश्वर्यम् ।

यदाह आसनं चात्र कारणमिति । तदुक्तम् नात्र जातिमात्रं किंतु प्रजापालनाधिकारः । ‘आसन’शब्दोऽपीह नासनशय्यादिवचनः, अपि तु तत्पदं प्राप्तवतो यत्कर्तव्यं तदाह । अतः अक्षत्रियोऽपि यदि प्रजापालने समर्थः तस्याप्याशौचाभाव एव पूर्वव्याख्यातः ।

प्रजानां परिरक्षार्थमिति । न सर्वेण सर्वाशौचनिवृत्तिः, किं तर्हि ? प्रजापालनविरोधि यदाशौचधारणं तन्निवर्तते । यथा दुर्भिक्षादौ स्वकोशादन्नदानेन प्रजाभरणम् । तथा दिव्यान्तरिक्षभौमेपूत्पातेषु शान्तिः । अकस्मात्सभ्यैः कर्तव्येन राज्ञा, अथवा आश्रमेषु द्विजातीनां धर्मसंशयसत्त्वेन, प्रथमेज्यादावप्यस्ति प्रवक्तृत्वम्, तदपि प्रयोजनम् ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमर्थमेकदेशेन विवृणोति राज्ञ इति । यत्र स्थितस्य महानात्मा भवति तद्व्यवहारदर्शनादिस्थानं माहात्मिकं, तत्र स्थाने तत्रापि धनार्थितया

तत्करणे नाशौचाभावः किंतु प्रजारक्षोद्देशेन करण इत्याह प्रजानामिति । आसनमवस्थानं अत्र सद्यःशौचकारणम् ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । महात्मन इदं स्थानं माहात्मिकं राज्यपदाख्यं सर्वाधिपत्यलक्षणं महात्मैव प्राचीनपुण्यराज्यमासादयति तस्मिन्वर्तमानस्य सद्यःशौचमुपदिश्यते । न तु राज्य-प्रच्युतस्य क्षत्रियजातेरपि । अत्र जातिरविवक्षितेत्यनेन श्लोकेन दर्शितं । यतो न्यायनिरूपणेन दुर्भिक्षेऽन्नदानेनोपसर्गेषु शान्तिहोमादिना प्रजारक्षार्थं राज्यासनेष्ववस्थानमाशौचाभावे कारणम् । तच्चाक्षत्रियाणामपि तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टम् । अतएव सोमकार्यकारिणि फलचमसे सोमधर्माः, अतएव ब्रीहिधर्मान्विततया श्रुतमप्यवघातादि तत्कार्य-कारित्वस्य विवक्षितत्वात्प्रकृतौ यवे विकृतौ च नीवारादिषु संबध्यत इति कर्ममीमांसायां तत्तदधिकरणेषु निरणायि ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । अत एवाह राज्ञ इति । माहात्मिके माहात्म्यं प्रततैश्वर्यं तेन राज्यरक्षाव्यवहारदर्शशान्तिहोमादिके सर्वाधिपत्य आसने; एतच्च चातुर्वर्ण्यराजसाधारणम्, अवघातवत्प्रकृतिविकृतिसाधारणनियमविधित्वात् ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । महात्मा इन्द्रस्तस्येदं माहात्मिकं तस्मिन्स्थान आसीनस्येति शेषः । अत्र सद्यःशौचे ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । परिरक्षार्थमित्युक्ते माहात्मिके स्थाने । धनार्थितया व्यवहारदर्शने नाशौचाभावः । आसनं सिंहासनं, अत्र शौचे कारणं सिंहासनस्थस्याभावः ॥ ९४ ॥

(७) मणिरामः । राज्ञः स्वाधिकारे सद्यःशुद्धिमाह राज्ञ इति । माहात्मिके स्थाने राज्यपदाख्ये । तथा च राज्यप्रच्युतस्य क्षत्रियस्य न सद्यःशुद्धिरित्याशयः ॥ ९४ ॥

(८) गोविन्दराजः । राज्ञ इति । महानात्मस्वरूपं यस्य स्थानस्य तस्मिन् राजाख्ये पदे वर्तमानस्य राज्ञः सद्यःशौचमुपदिश्यते । अत्र च सद्यःशौचे शान्तिहोमदुर्भिक्षान्नदानादि प्रजापरिपालनार्थं राज्ञो यदवस्थानं तत्कारणम् ॥ ९४ ॥

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ॥

गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । डिम्बो बहुजनसंकुलः अशस्त्रकलहो वा । आहवः संग्रामो युद्धम् । तत्र हतानां सद्यःशौचम् ।

विद्युदशनिः एतद्व्याख्यातम् । पार्थिवः पृथिव्या ईश्वरश्चातुर्वर्ण्यस्य यः कश्चित् । ब्राह्मणार्थे गवार्थे च युद्धादन्यत्रापि जलाग्निदंष्ट्रिहतस्य ।

यस्य चेच्छति पार्थिवः स्वकार्यार्थपरिपालनाधिकृतस्य ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । डिम्बाहवहतानां ये बान्धवास्तेषां सद्यःशौचमित्यर्थः । एवमुत्तरेण्वपि । अत्र च कानिचिन्मरणान्यतिनिन्दितत्वेनाशौचाभावकारणानि कानिचिदति-शस्तत्वेनेति विवेचनीयम् । डिम्बाहवोऽराजकं युद्धं । विद्युता हतानां पार्थिवैः क्षुद्रापराधेन

हतानां द्विजैरभिचारादिना तदभिचारनिमित्तं तद्विप्रियकरण एव । गोब्राह्मणस्येति । गवां ब्राह्मणस्य वा प्राणरक्षार्थं हतानां । यस्य च स्वपरिचारकस्यानन्यसाध्यव्यापारेष्वा-
शौचाभावं राजेच्छति ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । डिम्भाहवो नृपरहितयुद्धं तत्र हतानां विद्युता वज्रेण पार्थिवेण वधार्हेऽपराधे हते गोब्राह्मणरक्षणार्थं विनापि युद्धं जलाग्निव्याघ्रादिभिर्हतानां यस्य पुरोहितादेः स्वकार्याविधातार्थं नृपतिरशौचाभावमिच्छति तस्यापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च डिम्भेति । डिम्भाहवो नृपतिरहितयुद्धं तेन हतानां युद्धं विना हतानामपि गोविप्रार्थं जलादिव्याघ्राद्यैश्च हतानां । पार्थिवो वा यस्य पुरोहितादेः स्वकार्यपरिपालनाद्यर्थमाशौचाभावमिच्छति तस्यापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । डिम्भो बालः । महाजनसंमर्द इति केचित् । विद्युता अशन्या । गोब्राह्मणहेतोर्हतानां च । अत्रापि सद्यःशौचमित्यनुषज्यते ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । डिम्भाहवहतानां डिम्भाहवोऽराजकं युद्धं अशस्त्रकलहः, तत्र हतानां । विद्युत्पातेन पार्थिवेन च हतानां । गोब्राह्मणरक्षार्थं विपन्नानां मृतानां संबन्धिनो ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं न कार्यम् । यस्य पार्थिवः शुद्धत्वमिच्छति स एव शुद्धः स्वस्वाधिकारस्थले पौरोहित्यादौ ॥ ९५ ॥

(७) मणिरामः । डिम्भाहवो नृपरहितयुद्धं तत्र हतानां पार्थिवेण वधार्हेऽपराधे हतानां । यस्य चेच्छति पार्थिवः कार्यार्थः राजा यस्य शुद्धिं इच्छति तस्यापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

(८) गोविन्दराजः । डिम्भाहवहतानामिति । डिम्भे जनौघसंपीडने अशस्त्रकलहे वा हतानां तथा संग्रामाशनिहतानां राज्ञा वा संग्रामेऽपि हतानां गोब्राह्मणपरित्वाणार्थं असंग्रामेऽपि व्याघ्रादिव्यापादितानां यस्य च पुरोहितादेः स्वकार्याविधातार्थं पृथिवीपतिरिच्छति तस्यापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

सोमान्यकर्णिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ॥

अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । “कुत एतद्यतो राज्ञां परिपालन एवाशौचनिवृत्तिस्तत्र कुतोऽन्यस्याविशेषेण तदिच्छया विनिवृत्तिः स्यात्”— वपुस्तेजोऽंशः । वित्तपतिर्वैश्रवणः । अपांपतिर्वरुणः । अत्रैव द्वितीयोऽर्थवादः ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सोमादीनामष्टानां लोकरक्षकाणाम् । वपुस्तेजोऽंशः । सोम उत्तरस्या अधिपतिः । अर्कस्त्वैशान्या रुद्रमूर्तित्वात्तस्य । वित्तपतिः कुबेरो नैऋत्याः, काल-पतित्वात् । अप्पतिर्वरुणः । अन्येषां तु लोकपालानां दिशः प्रसिद्धाः । राजधर्मेषु चैतदुप-पादयिष्यति ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । चन्द्राग्निसूर्यवायुशक्रयमानां वित्तस्यापां च पत्योः कुबेरवरुणयो-रेवमष्टानां लोकपालानां संबन्धि देहं राजा धारयति ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञ आशौचसंकोचे तद्वाक्यतस्तत्संकोचे चार्थवादमाह सोमेति द्वाभ्यां । वित्ताप्पत्योः कुबेरवरुणयोः वपुस्तेजस्तत्तत्कर्मणि ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञामाशौचाभावं श्लोकद्वयेनोपपादयति सोमेति । वित्तपति-
र्वैश्रवणः । अप्पतिर्वरुणः ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुतो राज्ञामाशौचाभाव इत्यपेक्षायामाह सोमेति । सोमादीनाम-
ष्टानां लोकपालानां वपुर्नृपो धारयते । वित्ताप्पत्योः कुबेरवरुणयोः ॥ ९६ ॥

(७) मणिरामः । राज्ञोऽष्टमूर्तित्वमाह सोमेति । वित्ताप्पत्योः कुबेरवरु-
णयोः ॥ ९६ ॥

(८) गोविन्दराजः । सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणामिति । चन्द्राग्न्यादित्यवाय्विन्द्रयमानां
धनपतेः वैश्रवणस्यापांपतेश्च वरुणस्येत्येषां लोकपालानां सम्बन्धि तेजः पार्थिवो
धारयति ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ॥

शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । एतैर्लोकेशैरधिष्ठितो राजा । नास्य शौचाशौचम् । यतो
मर्त्यानां मनुष्याणामाभ्यामधिकारः । तयोश्च प्रभवाप्ययौ प्रवृत्तिनिवृत्ती लोकेभ्यः
सकाशान्मर्त्यानां, न तु लोकेशानामेव ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नास्याशौचमसाधारणं लोकेशकर्मणि । शौचाशौचं हि मिलितं
मर्त्यानामेव न देवानां, तेषां शौचमात्रत्वात् । लोकेशप्रभवोऽयमतो नास्याशौचमित्यर्थः ।
'लोकेशप्रभवोऽप्यय' इति तु क्वचित्पाठस्तत्र लोकेशप्रभवे नृपे शौचाशौचयोरप्ययोऽभ्यपन-
योऽतो यस्य शौचमाशौचं वाऽपनेतुमिच्छति तस्य तदपनयो भवतीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । ततः किमत आह लोकेशेति । यतो लोकेशांशाक्रान्तो नृपतिरतो
नास्याशौचमुपदिश्यते । यस्मान्मनुष्याणां यच्छौचमशौचं वा तल्लोकेशेभ्यः प्रभवति विनश्यति
च । अप्ययो विनाशः । एतेनान्यदीयशौचाशौचोत्पादनविनाशशक्तस्य लोकेश्वररूपस्य नृपतेः
कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुतिः ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । लोकेशाधिष्ठितः उक्तैः सोमाद्यैर्लोकपालैरधिष्ठितः स्वांशेनानु-
गृहीतः । लोकेशप्रभवात्प्ययं लोकेशेभ्यः प्रभवति तद्वाक्यत आशौचं भवति, पुनस्तेभ्योऽप्ययः
अभावोऽपि तद्वाक्यादेव यस्य शौचाशौचं विशेष्यं अस्यापि लोकेशत्वादयमेव परकीयाशौच-
संकोचे हेतुर्युक्तः । लोकेशप्रभवाप्ययाविति क्वचित्पाठस्तदा तयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती लोके-
शेभ्यः सकाशान्मर्त्यानां नतु लोकेशानामिति मेधातिथिः ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । अयं राजा लोकेशप्रभवो देव इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा लोकेशाधिष्ठितः तस्मात्कारणादस्य राज्ञ आशौचं न
विद्यते । अयं राजा लोकेशेभ्यः प्रभवो यस्य स लोकेशप्रभवः ॥ ९७ ॥

(७) मणिरामः । लोकेशाधिष्ठितः यतो राजा लोकेशानां आशाः दिशाः तासु आक्रांतः राजा अतो नाऽस्याशौचम् । हि यस्मात् मर्त्यानां शौचाऽशौचं लोकेशप्रभवाप्ययो लोकेशाज्ञया प्रभवति न पश्यति च । एतेनाऽन्यशौचाऽशौचकरणक्षमस्य कुतः स्वकीयाऽशौचमिति शौचाभावस्तुतिः ॥ ९७ ॥

(८) गोविन्दराजः । लोकेशाधिष्ठित इति । एवमुक्तनीत्या यतो लोकेश्वराक्रान्तो राजानोऽन्यस्याशौचं विधीयते स्वकार्यमुपदिश्यते । यस्मान्मनुष्याणां यच्छौचमाशौचं तल्लोकेशेभ्यः प्रभवत्यपैति च । तस्मादन्यशौचाशौचोत्पादनोपासनसमर्थलोकेशरूपस्य राज्ञः कुत एवात्मनोऽशौचमिति प्रकृतार्थस्तुतिः ॥ ९७ ॥

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ॥

सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । येन शस्यते हन्यते तच्छस्त्रम् । अतः पाषाणलगुडादिनाऽपि हतस्य यज्ञसंस्था निष्पद्यते नायुधैरेव खड्गादिभिः । आहूयन्ते यत्रेतरेतरं स्पर्धमाना युद्धाय स आहवः संग्रामः । क्षत्रधर्मः अपराङ्मुखत्वम्, प्रजार्थम्, प्रभुप्रयुक्तं च । सद्यः संतिष्ठते समाप्तिमेति । यज्ञो ज्योतिष्टोमादिस्तत्पुण्येन युज्यत इति यावत् । आशौचमपि सद्य एव । अत्र केचित् 'क्षत्रधर्महतस्ये'त्यनेन सद्य इत्यभिसम्बन्धनन्ति । ततश्च यः संग्रामभूमौ मृतः तस्यैवायं विधिर्न तु योज्येद्युस्ततोऽन्यत्र गतः,— तदेतद्विचार्यम् ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्यतैः शस्त्रैरिति कूटशस्त्रादिघातव्यवच्छेदः । आहवे नृपतिकर्तुं युद्धे क्षत्रधर्मेणापराङ्मुखत्वादिना हतस्य यज्ञः पितृयज्ञोऽस्थिसंचयनदशाहपिण्डादिसहितः सद्यः संतिष्ठते समापनीयस्तदाशौचं च सद्य इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । उद्यतैः शस्त्रैः खड्गादिभिर्न तु लगुडपाषाणादिभिरपराङ्मुखत्वादि-क्षत्रियधर्मयुक्तसंग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादियज्ञः संतिष्ठते समाप्तिमेति तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः । तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति—इयं शास्त्रे मर्यादा ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च उद्यदस्त्राद्यपराङ्मुखयुद्धहतस्य क्षत्रियादेर्ज्योतिष्टोमादियज्ञः समाप्तिं गच्छति आशौचं चेत्याह उद्यतैरिति । अस्त्रैरस्यते घातयते यैर्लगुडाद्यैरपि आहवे संग्रामे । ज्योतिष्टोमादिपुण्येन युज्यत इति मेधातिथिः । प्रकरणात्पुत्राद्याशौचाभावपरं वा ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । संतिष्ठते समाप्नोति । युद्धस्य यज्ञत्वसंस्तवः परधर्मत्वप्रतिपादनार्थः । तथाशौचमपि सद्यः संतिष्ठते ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आहवे सङ्ग्रामे उद्यतैः शस्त्रैः कूटशस्त्रैः व्यवच्छेदरूपैः क्षत्रधर्म-हतस्य च सद्यःशौचं यज्ञः पितृयज्ञः सद्यः संतिष्ठते भवति । तथा अशौचं सद्यः अशौचं शौचाभावः । इति स्थितिः मर्यादा ॥ ९८ ॥

(७) मणिरामः । उद्यतैः शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य अपराङ्मुखत्वादिक्षत्रधर्मयुक्तस्य हतस्य । सद्यः तत्कालमेव यज्ञः संतिष्ठते समाप्तो भवति, तत्पुण्ये न युज्यत इत्यर्थः । तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति—इति स्थितिः शास्त्रमर्यादा ॥ ९८ ॥

(८) गोविन्दराजः । उद्यतैरिति । संग्राम उद्यतैः खड्गादिभिः अपराङ्मुखत्वादिक्षत्रधर्मयुक्तस्य हतस्य तत्क्षणादेव यज्ञसमाप्तिस्तत्कालमेव यज्ञफलसंबन्धात्तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेतीत्येवं शास्त्रमर्यादा ॥ ९८ ॥

विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ॥

वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । दशाहादीनां कल्पानां परिपूर्ण आशौचकाले इदमपरं कर्तव्यम् । अपः स्पृष्ट्वेति स्नानमुपदिश्यत इति प्राग्व्याख्यातम् । कृतक्रिय इति क्षत्रियादिभिरभि-सम्बध्यते । 'क्रिया' च स्नानमेव; अन्यस्याश्रुतत्वात् । स्नात्वा वाहनादीनि स्पृशेयुः । अन्ये तु श्राद्धक्रियामाहुः । श्राद्धादि कृत्वा सर्व एव विशुध्यति । तत्रापि ब्राह्मण उदकं हस्तेन स्पृष्ट्वा, क्षत्रियादयस्तु वाहनादिभिः ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकादशेऽह्नि प्रातःशुद्धयर्थं स्नात्वा जलस्पर्शखड्गाश्वादिसपर्श-प्रतोदरश्म्यन्यतरस्पर्शकाष्ठदण्डस्पर्शः क्रमाच्छुद्धिरित्यर्थः । कृतक्रियोऽतीतदशाहकृत्यकाल इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । अशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्यो ब्राह्मणोऽपः स्पृष्ट्वेति जलस्पर्शमात्रं दक्षिणहस्तेन कृत्वा शुद्धो भवति, न तु 'संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्टैरर्द्धिर्विशुध्यतीति'वत् स्नात्वा वाहनादिस्पर्शसाहचर्यात् स्पृष्ट्वेत्यस्य च सकृदुच्चरितस्यार्थभेदस्यान्याय्यत्वात्क्षत्रियो हस्त्यादिवाहनं खड्गाद्यस्त्रं च, वैश्यो बलीवर्दादिप्रतोदं लोहप्रोताग्रं योक्त्रं वा, शूद्रो यष्टिं वंशदण्डिकाम् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतश्राद्धादिब्राह्मणादिचतुष्टयमाशौचान्तेऽवादिचतुर्णां स्पर्शने-नैव शुध्येदित्युत्तराङ्गमाह विप्र इति । प्रतोदं सूक्ष्मलोहाग्रदण्डं । रश्मीन् योक्त्ररज्जुं । कृतक्रियः कृतौर्ध्वदेहिका क्रिया येन स विप्रादिः । इति दैहिकशुद्धिः ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । कृतक्रियः समापितसमस्ताशौचक्रिय इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूतकान्ते कृतक्रियः कृतश्मश्रुवपनादि तैलेन पिण्याकेन सह कृतस्नानः विप्रः अपः स्पृष्ट्वा कृताचमनः शुध्यति । एवं कृतशौचो क्षत्रियः वाहनायुधं स्पृष्ट्वा शुध्यति । एवं कृतशौचो वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा स्पृष्ट्वा शुध्यति । एवं शूद्रः कृतशौचो यष्टिं स्पृष्ट्वा शुध्यति ॥ ९९ ॥

(७) मणिरामः । आशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्यानां विप्रादीनां यथा शुद्धिः तदाह विप्र इति । अपः स्पृष्ट्वा आचम्य ॥ ९९ - १०० ॥

(८) गोविन्दराजः । विप्र इति । आशौचान्ते कृतश्राद्धादिक्रियो ब्राह्मणोऽप औचित्याद्वस्तेन स्पृष्ट्वा क्षत्रियश्च खड्गादिकं वैश्यो बलीवर्दादिप्रतोदमयःप्रान्तं प्रग्रहं वाऽश्वादिनियमरज्जुं शूद्रो यण्टि स्पृष्ट्वा शुध्यति ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ॥

असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोत्तरवस्तूपसंहारोपपत्त्युपन्यासार्थो पूर्वोत्तरावर्धश्लोकौ ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सपिण्डेषु मृतेषु तन्मरणनिमित्तकाशौचे सति शौचं । असपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं प्रेतवहनादिनिमित्ताशौचशुद्धिम् ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । भो द्विजश्रेष्ठाः ! एतच्छौचं सपिण्डेषु प्रेतेषु युष्माकमुक्तम् । इदानीमसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं शृणुत ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तिष्यमाणशुद्धयर्थं वृत्तमुपसंहरति एतदिति त्रिभिः ॥ १०० ॥

(८) गोविन्दराजः । एतदिति । हे ब्राह्मणाः ! सपिण्डेषु प्रेतेषु यच्छौचं युष्माकमुक्तं अधुना त्वसपिण्डेषु सर्वेषु मृतेषु प्रेतशुद्धिं शृणुतेति भृगुर्महर्षीनाह ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ॥

विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । बन्धुवदिति धर्मेण, न मूल्यात् । मातुराप्तांश्च । आप्तग्रहणं प्रत्यासन्नबान्धवमातुलादिग्रहणार्थम् । अस्माच्चानुमीयते असपिण्डः असमानोदको न सर्वसपिण्डादन्यः ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्हृत्य दाहाङ्गनिर्हरणान्यतमं दाहं वा कृत्वा । बन्धुवत् धनमगृहीत्वा व्यहमात्रेण तद्गृहवासे 'न चेत्तस्मिन्नि'त्येकाहेवक्ष्यमाणत्वात् । मातुश्च बान्धवान् चकारात्पितुश्चासगोत्रबन्धून् तथा आप्तानागन्तुना संबन्धेन प्राप्तान्श्यालादीन् ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । असपिण्डं ब्राह्मणं मृतं ब्राह्मणो बन्धुवत् स्नेहानुबन्धेन न त्वदृष्ट-बुद्धयेत्यर्थादुक्तम् । मातुश्चाप्तान्सन्निकृष्टान्सहोदरभ्रातृभगिन्यादीन्बान्धवान्निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुद्धो भवति ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मेणैव मातुराप्तान् सोदरभ्रातृतत्पुत्रभगिन्यादीन् । मातुले पक्षिणीमित्यसन्निकृष्टे ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । विनिर्हृत्य वहनादिकं कृत्वा । बन्धुवदुपकारबुद्ध्या ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मातुर्बान्धवान् मातुष्वस्त्रीयादीन् चकारात्पितुष्वसुः पुत्रादीन् तथा आप्तान् श्यालादीन् निर्हृत्य दग्ध्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥ १०१ ॥

(७) मणिरामः । मातुः आप्तान् बान्धवान् सहोदरभ्रातृभगिन्यादीन् ॥ १०१ ॥

(८) गोविन्दराजः। असपिण्डमिति। असपिण्डं मृतं ब्राह्मणं ब्राह्मणो बन्धुवत् स्नेहेन निर्हृत्य मातुश्च सन्निकृष्टान् बान्धवान्मातुलादीन् निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुध्यति ॥ १०१ ॥

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ॥

अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः। अनश्नतो निवसतश्च पूर्वोक्तस्त्रिरात्र एव। अनश्नतो न निवसतश्च एकाह एव। अश्नतः निवसतश्च दशाह एव ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। यद्यन्नमत्ति निर्हृत्य वा उभयथा दशाहेन। तदन्नाशन-तद्गृहवासयोरकरणे निर्हरणाद्यकरणे चैकाह इति विवेकः ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः। निर्हारको यदि तेषां मृतस्य सपिण्डानामाशौचिनामन्नमश्नाति तदा तद्दशाहेनैव शुध्यति, न त्रिरात्रेण। अथ तेषामन्नं नाश्नाति, गृहे च तेषां न वसति, निर्हरति च तदाहोरात्रेणैव शुध्यति। एवं च तद्गृहवासे सति तदन्नाभोजिनो निर्हारकस्य पूर्वोक्तं त्रिरात्रम् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः। स्नेहादिवत्त्वे त्वाह यदीति। अयमर्थः—अन्नं नाश्नाति गृहे न वसति निर्हरति च तदाहोरात्रेण शुध्यति। गृहे वसन्नान्नमश्नाति तदा पूर्वोक्तत्रिरात्रेण। गृहे वसन्नन्नमदन्दशाहेनेति ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः। अन्नमनदन्नभक्षयन् अह्नैव विशुध्यति ॥ १०२ ॥

(७) मणिरामः। तेषां आशौचिनां। केवलप्रेतहरणमात्रमेव करोति, नान्नमत्ति, न वा तेषां गृहे वसति तदा एकेनाहोरात्रेणैव शुद्धो भवतीत्यर्थः ॥ १०२ ॥

(८) गोविन्दराजः। यदीति। स निर्हारको यदि तेषामाशौचिनां संबन्ध्यन्नमश्नाति तदा दशाहेन शुध्यति, न त्रिरात्रेण। अन्नं पुनस्तत्संबन्धि अनश्नन् यदि तत्संबन्धिनि गृहे न निवसेत्तदाहोरात्रेणैव, न त्रिरात्रदशरात्राभ्यां। एवं च निर्हारकस्य निवासान्नभोजनरहित-स्याहोरात्रमनश्नतस्तत्र वसतः पूर्वोक्तं त्रिरात्रमश्नतो वसतश्च दशाहम् ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ॥

स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः। अनुगमनं बुद्धिपूर्वमनुव्रजनम्। यथाकथंचिदधिगमने न सचैलम्। स्नानं अग्निस्पर्शं घृतप्राशनं च समुचितं शुद्धिहेतुः ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। इच्छया न धनादिना। ज्ञातिं सपिण्डादिसंबन्धिनम्। अज्ञाति-संबन्धिनम् घृतप्राशनं नान्नान्तरनिवर्तकम्। विशुद्ध्यति अनुगमनदोषात् ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः। ज्ञातिमज्ञातिं वा मृतमिच्छातोऽनुगम्य सचैलस्नानं च कृत्वा ततोऽग्निं स्पृष्ट्वा पश्चाद्घृतप्राशनं कृत्वा अनुगमननिमित्ताशौचाद्विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्ञातिमिवाज्ञातिमनुगम्य बुद्धिपूर्वं अनुगमननिमित्तस्यौपाधिकस्या-
शौचस्य स्नानादित्यत्र प्रायश्चित्तं नाधिकाशौचे मानमस्तीति भावः । अनुगमननिमित्ताद्वा-
शौचात् अग्न्यादित्यत्र सर्वे शुध्येयुः 'शुद्धेः कर्तृणि देहिना'मिति (१०५) वक्ष्यमाणत्वात् ।
ज्ञातिपक्षे उक्तमाशौचमस्त्येव ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । अनुगम्य नीयमानेन शवेन सह गत्वा ॥ १०३ ॥

(७) मणिरामः । प्रेताऽनुगमनमात्रे त्वाह अनुगम्येति ॥ १०३ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनुगम्येति । बन्धुमन्यं प्रेतं वा बुद्धिपूर्वकमनुगम्य स्नानं
कृत्वा ततोऽग्निं स्पृष्ट्वा तदनु च घृतप्राशनं कृत्वा विशुध्यति ॥ १०३ ॥

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ॥

अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । न नाययत् निर्हारयेत् । स्वेषु तिष्ठत्सु समानजातीयेषु सत्सु ।
आहुतिग्रहणात् दाहयेदिति । विप्रग्रहणमतन्त्रम्, क्षत्रियवैश्ययोरपि शूद्रसंस्पर्शो दोष
एवेत्यर्थवादात्प्रतिषेधः प्रतीयते ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वेषु विप्रेषु । क्षत्रियादेस्तु स्वेषु तिष्ठत्स्वपि शूद्रेण नयने
दोषाभावः । स्वेषु तिष्ठत्स्विति वचनात्स्वेष्वसत्सु शूद्रेणापि निर्हार्यो विप्रः । अस्वर्ग्याः स्वर्ग्या न
भवन्तीत्यर्थः । यजमानो हि पितृमेधे हविस्तस्य शूद्रेण संपर्कात्तेन हविषा कृताहुतिर्दुष्यतीति
तात्पर्यम् । अत्र शौचमधिकृत्य स्मृत्यन्तरीयशुद्धिप्रकारोऽस्माभिः शुद्धिदीपिकायां प्रपञ्चित
इति तेषामेतदविरोधेन व्यापारस्तत्रैवानुसंधेयः ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादि मृतं समानजातीयेषु स्थितेषु न शूद्रेण पुत्रादिर्निर्हारयेत्
यस्मात्सा शरीराहुतिः शूद्रस्पर्शदुष्टा सती मृतस्य स्वर्गाय हिता न भवति, मृतं स्वर्गं न
प्रापयतीत्यर्थः । स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यभिधानाद् ब्राह्मणाभावे क्षत्रियेण तदभावे शूद्रेणापि निर्हारये-
दित्युक्तम् । यथापूर्वं श्रेष्ठत्वादस्वर्ग्यदोषश्च ब्राह्मणादिसद्भावे शूद्रेण निर्हारेण सति
बोद्धव्यः । गोविन्दराजस्तु दोषनिर्देशात् स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यविवक्षितमित्याह, -तदयुक्तम् ।
संभवदर्शपदद्वयोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गादुपक्रमावगतेश्च वेदोदितन्यायेनानुबोध्यत्वाद्गुणभूत-
शुद्धचनुरोधेन प्रधानभूताया जातेरुपेक्षायां गुणलोपेनामुख्यस्येत्यपि न्यायो बाध्येत । तस्मात्स्वेषु
तिष्ठत्स्विति पदद्वितयं न विवक्षितम् । इमां गोविन्दराजस्य राजाज्ञां नाद्रियामहे ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वेषु ज्ञातिषु सत्सु सजातीयेषु वा न हापयेत् न निर्हरेत् । सा
देहाहुतिः स्वर्गापहा भवतीत्यर्थवादः, न त्वाहुतिर्न कार्या प्रधानलोपापत्तेः प्रकरणबाधश्चातो
वक्ष्यति संकरजातिनिर्णये 'अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थिति'रिति ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । स्वेषु जातीयेषु तिष्ठत्सु तत्र विद्यमानेषु । आहुतिः शवा-
हुतिः ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रसंस्पर्शगहिता दूषिता । यथा यमः ‘प्रस्थानयति शूद्रोऽग्नि तृणं काष्ठं हवींषि च । प्रेतत्वं हि सदा तस्य स च धर्मेण लिप्यते’ ॥ १०४ ॥

(७) मणिरामः । नेति ॥ १०४ ॥

(८) गोविन्दराजः । नेति । पुत्रादिविप्रं मृतं समानजातिषु तिष्ठत्सु स्थितेषु सत्सु शूद्रेण न निर्हारयेत् । यस्मात्सा शारीराहुतिः शूद्रस्पर्शदुष्टा सती मृतस्य स्वर्गलोकसाधनी न भवत्येवं च दोषनिर्देशात् स्वेषु तिष्ठत्सु इति विवक्षितं ॥ १०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ॥

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्ञानादीनि कालशुद्धेः दृष्टान्ततयोपादीयन्ते । तथैतानि स्वविषये शुद्धिकारणानि । एवं कालोऽपि नात्रातिशङ्कितव्यः । एतेषां यस्य यत्र शुद्धिहेतुत्वं तदिहैव प्रकरणे तेषां वक्ष्यते । अन्येषां तत्र तत्र देशे । तत्र ज्ञानमाध्यात्मिकं साङ्ख्ययोगोपदिष्टम् । तेन हि अविद्यावासनापासनेन रागादिक्रये निर्दोषज्ञानमुपैति । वक्ष्यति च (श्लो० १०८) “बुद्धिज्ञानेन शुध्यतीति” ।

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि । तत्पातकोपपातकानां शुद्धिहेतुः । अग्निर्मृन्मयादिषु “पुनःपाकेनेति” (श्लो० १२१) । आहारः पवित्राणां पयोमूलानाम् । सोऽपि तप इव शोधयति । मृद्वारिणां शुद्धिहेतुता प्रसिद्धैव । मनसो वक्ष्यते “मनः सत्येनेति” (श्लो० १०८) । उपाञ्जनं मठादेः सुधागोमयादिना संमार्जनानुलेपने । वायुश्चण्डालादिस्पृष्टे तृणकाष्ठादौ रथ्यापतिते । कर्मणि संधयोपासनादीनि । उक्तं च (२।१०२) ‘पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहतीति’ । एतच्च द्वितीये व्याख्यातम् ।

सत्यपि तपसः कर्मत्वे प्राधान्यख्यापनार्थं पृथगुपदेशः । प्रायेण च शास्त्रे भेदेनैव कर्मणस्तपो निर्दिश्यते “कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठा” इति (याज्ञ० आचार० २२१) ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अथ बाह्यद्रव्यशरीरोपघातशुद्धिप्रकारानभिधित्सुः सामान्यतः शोधनान्याह ज्ञानमिति । ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं सकलपापक्षयहेतुत्वाच्छोधकम् । तपः प्राणायामः । ‘प्राणायामः परं तप’ इति वचनात् । अग्निस्तैजसादीनामिव देहिनां मूर्धाग्निः । आहारो ब्रह्मसुवर्चलापानादिर्दुष्टजलादिपाने । मृद्गुदशौचादौ मनःक्षमाख्यनियमयुक्तं जीवस्य वारिखालनादिना । उपाञ्जनं सजातीयेन लेपो भूम्यादेः । वायुः सर्वायुष्ट्वेन जीवो पावनः । कर्म चान्द्रायणत्रात्यस्तोमादि । अर्को दर्शनादिना अस्थिस्पर्शदिः । कालो दशाहादिः । आशौचिनां देहिनां दाहप्रभृति ॥ १०५ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्ञानादीनि शुद्धेः साधनानि भवन्ति । तत्र ब्रह्मज्ञानं बुद्धिरूपान्तःकरणशुद्धेः साधनम् । यथा वक्ष्यति, (५।१०९) ‘बुद्धिज्ञानेन शुध्यति’, तपो यथा (५।१०७) ‘तपसा वेदवित्तमाः’ । अग्निर्यथा (५।१२२) ‘पुनःपाकेन मृन्मयम्’ । आहारो यथा (१।१।१०६) ‘हविष्येण यवाग्वा’ इति । मृद्वारिणी यथा (५।१३४)

‘मृद्वार्यादियमर्थवदिति । मनो यथा (३।१४६) ‘मनःपूतं समाचरे’दिति । संकल्पविकल्पात्मकं मनः, निश्चयात्मिका बुद्धिरिति मनोबुद्धयोर्भेदः । उपाञ्जनमुपलेपनं यथा (५।१२२) ‘मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म’ । कर्म यथा (१।१।७५) ‘यजेत वाऽश्वमेधेने’त्यादि । अर्को यथा (५।८७) ‘गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा’ । कालो यथा (५।८३) ‘शुध्येद्विप्रो दशाहेन’ । वायोस्तु शुद्धिहेतुत्वं मनुनानुक्तमपि ‘पन्थानश्च विशुध्यन्ति सोमसूर्याशुमास्तै’रिति विष्ण्वादावुक्तं ग्राह्यम् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादेः शुद्धिहेतु तावत् ज्ञानादेरप्याह ज्ञानमिति । ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं । ‘असौ वाव लोको गौतमाग्नि’ (छां. उ. ५।४।१) रित्यादिपञ्चाग्निविद्यादिज्ञानं च ‘नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र’ (भग. ४।३।८) मित्युक्तेः । तपश्चान्द्रायणादि, आहारो हविष्येण यवाग्वा समाचरेत् । वायुः प्राणायामः बाह्यवायुश्च । वारि जलं । उपाञ्जनं उपलेपनं । कर्म वा । मनो ‘मनःपूतं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत’ इत्यादि । कालः ‘शुध्येद्विप्रो दशाहेने’त्यादिः प्रकरणात्कालवदेतान्यपि देहिनां शुद्धिहेतव इति वा ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । शुद्धिहेतूनाह ज्ञानमिति । ज्ञानमध्यात्मज्ञानं, तच्छुद्धिकारणं शरीरात्म-विवेकेन । तपोऽनशनादिकं तच्छरीरगतदोषनिहरिण । अग्निः स्पर्शनादिना । आहारः पञ्चगव्यादिसत्त्वशोधनेन । मृद् धारणादिना । मनो देवताध्यानेन, वारि स्नानादिना । उपाञ्जनं गोमयादिकं तदुपलेपनं । वायुश्चण्डालादिस्पृष्टतृणकाष्ठादीनां स्पर्शेन । कर्म यज्ञादिकं तद्देवताप्रीणनेन । अर्ककोऽशुभिर्वस्तुशोषणेन । काल एकरात्रपक्षिण्यादिः सदोषभावनेन ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञानं आध्यात्मिकं । तपः प्राणायामादि । आहारः जलपानादिः । देहिनामेतानि शुद्धेः कर्तृणीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

(७) मणिरामः । शुद्धेरुत्पादकान्याह ज्ञानमिति । ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं । तपः चान्द्रायणादिः, आहारः हविष्यरूपः, उपाञ्जनं उपलेपनं । कर्म यागादिः । कालः दशाहा-दिरूपः ॥ १०५ ॥

(८) गोविन्दराजः । इदानीं कानिचिद्वाक्यान्तरसिद्धानि शुद्धिसाधनानि संक्षेपाव-बोधाय प्रसंगतोऽनुवदितुं कानिचिच्च प्रसङ्गतोऽंशपूर्वाणि विधातुमाह ज्ञानमिति । ज्ञानं बुद्धेः शुद्धिकर्तृ, यथा वक्ष्यति ‘बुद्धिज्ञानेन शुध्यती’ति । सङ्कल्पकं मनो निश्चायिका बुद्धिरिति । बुद्धिर्मनसो भेदः । एवं तपो वेदविदां यथाभिधास्यति ‘तपसा वेदवित्तमा’ इत्यग्निर्यथा वदिष्यति ‘पुनःपाकेन मृन्मय’ इत्याहारो यथा कथयिष्यति ‘हविष्येण यवाग्वा वे’ति मृद्वारिणी यथा जल्पिष्यति मृद्वारि चादेयमर्थवदिति । मनो यथा ख्यास्यति ‘मनःपूतं सदा भवेदि’ति । उपाञ्जनमुपलेपनं यथा भणिष्यति ‘संमार्जनेनाञ्जनेने’ति । वायोरिह शास्त्रे शोधयं न निर्दिष्टं तस्य मृत्पर्णतृणकाष्ठानां च चाण्डालादिवायसैः स्पर्शने शौचं ‘सोमसूर्याशुमास्तैः’ इत्येवमादिविप्लाव्याद्युक्तं कर्म यथा कीर्तयिष्यति ‘यजेत वाऽश्वमेधेने’त्यादित्यौ यथोक्तं ‘गामालभ्यार्कं वीक्ष्य वे’ति कालो यथोक्तं, ‘शुध्येद्विप्रो दशाहेने’त्येवं ज्ञानादीनि मनुष्याणां साक्षादुपयोग्यद्रव्यद्वारेण च शुद्धेः कर्तृणि ॥ १०५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ॥

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥१०६॥

(१) मेधातिथिः । कोऽस्य प्रसंगः ? यथा मृद्वारिशुचावविलम्बं कृतोत्सर्गः प्रवर्तते तथा प्रमादस्खलिते परद्रव्यापहरणादावविलम्बितं प्रायश्चित्तं शुद्धये समाश्रयणीयम् । एकादशे वक्ष्यति ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थशौचं शुद्धोपायागतार्थत्वम् ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषां मृद्वारिनिमित्तदेहशौचमनःशौचादीनां मध्यादर्थशौचमन्यायेन परधनहरणपरिहारेण यद्धनेहा तत्परं प्रकृष्टं मन्वादिभिः स्मृतम् । यस्माद्योऽर्थे शुद्धो भवति, यः पुनर्मृद्वारिशुचिरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्ध एव ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । एकादशाहादौ वक्ष्यमाणं प्रासंगिकमाह सर्वेषामिति । अर्थे शुचिः परद्रव्याहरणं कर्म, विवक्षितं अथवा अर्थेन दत्तेनैवाशौचशुद्धिरत आह य इति । अर्थे विषये शुचिरकृपणो दातेति यावत् । वक्ष्यति 'दानेनाकार्यकारिण' (१०७) इति वानेन वधनिर्णयकमित्यादि च ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । अर्थशौचमान्तरेभ्यः श्रेष्ठमित्याह सर्वेषामिति ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां शौचानां मध्ये अर्थशौचं मानसं शौचमिन्द्रियनिग्रहादिकं परं उत्कृष्टं स्मृतम् । यः कश्चन पदार्थः अर्थे मानसिके शौचे इन्द्रियनिग्रहादौ शुचिः स एव शुचिः । मृद्वारिभ्यां शुचिः शुचिर्न किंतु एतादृशः स्वयमेव शुचिः ॥ १०६ ॥

(७) मणिरामः । सर्वेषां पूर्वश्लोकोक्तानां ॥ १०६ ॥

(८) गोविन्दराजः । सर्वेषामिति । सर्वेषां मृद्वारीन्द्रियमनःशौचादीनां मध्यादर्थ-शौचं परद्रव्यादीच्छापरिहारार्थं प्रकृष्टमृषिभिः स्मृतं । यस्माद्योऽर्थे शुद्धः स शुद्धो बोद्धव्यो यः पुनर्मृद्वारिशुचिरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्ध एव ॥ १०६ ॥

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ॥

प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । ये विद्वांसस्ते क्षान्त्यैव शुध्यन्ति । ते हि द्वेषेर्ष्यामत्सरैर्नोपहन्यन्ते । ततो दुष्कृतेषु प्रवृत्तेषु नित्यशुद्धा भवन्ति । क्षान्तिर्नाम चित्तधर्मः, सर्वत्र साम्यम् ।

दानस्याप्यकार्यकृच्छुद्धिरुक्ता "दानेन वधनिर्णयकम्" (११।१३९) इत्यादिना । प्रच्छन्नपापानामपि रहस्याधिकारे जप उक्त एव । तपः वेदविदां वेदाभ्यास एव, ज्ञानं च । यथोक्तं "ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं" इति (११।२३५) । कृच्छ्रादि तु सर्वेषां शुद्धिहेतुर्न वेदविदामेव ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षान्त्या क्लेशसहत्वेन विद्वांसोज्ञात्वाऽकार्यकारिणः । अकार्य-कारिणः षण्ढवधादिना दानापनेयपापकारिणो दानेन वक्ष्यमाणसीमादिदानेन । प्रच्छन्नपापाः

परैरज्ञातापापाचरणाः जप्येन रहस्यप्रायश्चित्तरूपेण । तपसा प्राणायामेन वेदवित्तमाः । उपनिषदर्थीभूतात्मविदः वेदो वेदार्थः । एतेन यतिनां सर्वविषये प्राणायाम एव प्रायश्चित्तं गुरुलघ्वपेक्षया तु भूयस्त्वालपत्वे इति ग्राह्यम् ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । परेणापकारे कृते तस्मिन्प्रत्यपकारबुद्ध्यनुत्पत्तिरूपया पण्डिताः शुध्यन्ति । यथा च वक्ष्यति 'महायज्ञक्रिया क्षमा । नाशयन्त्याशु पापानी'ति । अकार्यकारिणो दानेन । यथा वक्ष्यति (११।७६) 'सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणाये'ति । अप्रख्यातपापा जप्येन (११।२४५) यथा वक्ष्यति 'जपस्तूपवसेद्दिन'मिति । वेदवित्तमाः वेदार्थचान्द्रायणादितपोविदः तपसेत्येकादशाध्याये वक्ष्यमाणेन ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच क्षान्त्येति । तितिक्षया । प्रच्छन्नपापा मिथुनातिरिक्त-जनाविदितपापाः मनोजनितपापा वा जप्येन गायत्र्यादेः । तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना वेदान्ताभ्यासेन वा ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । क्षान्त्या द्वन्द्वसहिष्णुतया । विद्वांसोऽध्यात्मविदः । तपसा स्वाध्यायेन तपो हि स्वाध्याय इति स्वाध्यायप्रवचने । 'तद्धि तपस्तद्धि तपः' इति श्रुतेः ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । परमार्थशुचित्वमाह क्षान्त्येति । विद्वान् क्षान्त्या कायक्लेशेन शुध्यति । अकार्यकारिणः यज्ञाहितकारिणः दानेन बन्धनादिना शुध्यन्ति । प्रच्छन्नपापानां अविख्यातदोषाणां अघमर्षणादिसूत्रजाप्येन शुद्धिः । वेदवित्तमो द्विजः रजसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना शुध्यति ॥ १०७ ॥

(७) मणिरामः । येषां यैः शुद्धिस्तानाह क्षान्त्येति । क्षांतिः अपकारिण्यपि प्रत्यपकारबुद्ध्यनुत्पत्तिः ॥ १०७ ॥

(८) गोविन्दराजः । क्षान्त्येति । ये शास्त्रज्ञास्तेऽपराधक्षमया शुध्यन्ति । यथा वक्ष्यति (११।२४५) 'महायज्ञ (क्रिया) क्षमा । नाशयन्त्याशु पापानी'ति । अकार्यकारिणो दानेन । यथा वक्ष्यति 'सर्वस्वं वा वेदविदे' इति । अप्रख्यातपापा जप्येन । यथा वक्ष्यति परंतरत्समंदीयमिति । वेदतत्त्वार्थज्ञाश्चान्द्रायणादिना प्रायश्चित्तप्रकारेण वक्ष्यमाणेन ॥ १०७ ॥

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ॥

रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमाः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । नद्यः पारावारे क्षीणोदकाया अशुद्ध्युपहृते । तस्या एव वेगं गतायाः कूलं कषाया उदकं वेगेन शुध्यति । न यथान्यस्या भूमेः "भूमिः शुध्यति पञ्चभिरिति" (१२३) शुद्धये प्रतीतिर्नैवं नदीतीरेषु । अथवा वेगवत्या अशुचिप्रवाहसंसर्गेणाशुच्याशङ्कायामिदमुच्यते नदी वेगेनेति । नैवं मन्तव्यं इतश्चामुतश्चाशुचिप्रवाहैः संस्पृष्टा न शुध्यति ।

शारीरे व्यभिचारेऽनुपलभ्यमाने परपुरुषरूपगुणानुचिन्तनेन मनोदुष्टा रजसा ऋतौ शोणितेन स्त्रुतेन शुध्यति स्त्री । संन्यासः षष्ठे वक्ष्यते । तेन द्विजोत्तमाः

शुद्धा भवन्ति । न कथंचिन्मानसापचारे । यदविदुषा चिन्तितं सूक्ष्मप्राणिवधादि तदेषामपनीयते ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शोध्यं वहिर्द्रव्यं देहश्च । नदी ग्राममलवहा । मनोदुष्टा मनसा पुरुषान्तररक्ता रजसा रजोन्तरप्रवृत्त्या । संन्यासेन पारिव्राज्येन द्विजोत्तमो विप्रः ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । मलाद्युपहतं शोधनीयं मृज्जलैः शोध्यते । नदीप्रवाहश्च श्लेष्माद्य-शुचिदूषितो वेगेन शुध्यति । स्त्री च परपुरुषमैथुनसंकल्पादिदूषितमानसा प्रतिमासार्तवेन तस्मात्पापाच्छुद्धा भवति । ब्राह्मणश्च संन्यासेन षष्ठाध्यायाभिधेयेन पापाच्छुध्यति ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । शोध्यं मलाद्युपेतं । नदी श्लेष्माद्यशुचिदूषिता । मनोदुष्टा परपुरुषमैथुनसंकल्पदुष्टा रजसा पुनर्ऋतुयोगेन । द्विजोत्तमो ब्राह्मणः संन्यासमुपक्रम्य ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च स ब्राह्मणः 'कैन स्या'दिति श्रुतेः 'पारिव्राज्यदर्शनाच्चे'ति भाष्योक्तेश्च संन्यास एवासाधारणः संस्कारो विप्रस्येति ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । शोध्यं शरीरलग्नं मलम् । मनोदुष्टा मनसा भर्तारं व्यतिक्रान्ता । संन्यासेन सङ्गत्यागेन ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शोध्यं वस्तु अमेध्योपहतं मृत्तोयैः शुध्यति । नदी वेगेन वर्षाम्बु-प्रवाहवेगेन । मनोदुष्टा मनसि व्यभिचारेण स्त्री रजोदर्शनेन शुध्यति । संन्यासः प्रव्रज्या द्विजन्मनां मानसोपचारे शुद्धिकृत् ॥ १०८ ॥

(७) मणिरामः । शोध्यं मलादिसंयुक्तं । मनोदुष्टा परपुरुषमैथुनसंकल्प-दूषिता ॥ १०८ ॥

(८) गोविन्दराजः । मृत्तोयैरिति । मृत्तोयैः शुध्यते शोधनीयं तावन्मृद्वारि चादेय-मिति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण । नदी च निदाघादावत्यल्पप्रवाहतया शुध्यत्युपहतपुलिनदेशा सती वर्षादिजनितेनोदकवेगेनावक्षालितपारावारतया शुध्यति । सकृत् स्त्री च कथंचिन्मनसा परपुरुषसंकल्पा आर्तवेन शुध्यति । ब्राह्मणाश्च संन्यासेन षष्ठाध्यायवक्ष्यमाणेन शुध्यन्ति ॥ १०८ ॥

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ॥

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । इयानेवाधिकारी—कर्ता च पुरुषः, यदान्तरात्मा, अन्तःकरणं मनः, बुद्धिः, शरीरं भोगायतनम्, इन्द्रियाणां भौतिकत्वान्न पृथक्त्वम् । अत्र किञ्चित्के-नचिच्छोध्यते । 'कालेन तु सर्वमिति' स्तुतिपरम् । गात्राणीत्यवयवैरवयविनं लक्षयति । अद्भिः स्नानेन शरीरं शुध्यति । मनस्तु सदसदात्मकम् तस्यासत्संकल्पादबुद्धिः 'सत्येन' साधुसंकल्पेन निवर्तते । पूर्वं मनसः शुद्धिहेतुत्वमुक्तं तदध्याहारेण नेदं वाचो मनः-शुद्धिकरणत्वम् । तथा च श्रुतिः "मनसा वा इषिता वाग्वदति या ह्यन्यमना

वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टेति” । विद्यया साङ्ख्यवेदान्ताभ्यासजन्यया तपसा च कृच्छ्रादिनाऽभ्युपेतः शुध्यति । भूतात्मा । भूतशब्दस्तत्त्ववचनः । पारमार्थिकोऽयमात्माऽनुपचिताहंप्रत्ययवेद्यः, न तु भूतमय आत्मा शरीरात्मेति मन्तव्यम् । बुद्धिरविद्यमानार्थाकारदर्शनीया स्वप्नादिष्वसत्सिद्धान्तप्रकल्पितार्थाभिनिवेशतया वस्त्वात्मा-
 र्थाकारयोरसद्भेदाध्यवसायेन दुष्यन्ती । या वाऽनुपभुक्तजन्मानन्तरकृताशुभकर्मजा ‘एकैक-
 दुष्कृतजा वा’ बुद्धिरात्मनो यावत्सहजा अविद्यात्मकाभेदग्रहणलक्षणा गुणात्मविवेकाभाव-
 लक्षणा वा धनपुत्राद्यभिषङ्गरूपा तृष्णातिशयहेतुः, सा तु ज्ञानेन स्वप्रकाशाश्रयया प्रमाण-
 व्युत्पत्त्या शुद्ध्यति । बुद्धचर्ययोर्भेदादाकारवत्त्वादर्थस्य विषयाकारेण च परिणामासिद्धि-
 निर्विकारत्वनिश्चयाद्बुद्धिशुद्धिः । पूर्वत्र च ‘विद्या’ वेदार्थवेदनमेव । तस्याश्च हेतुत्वं
 “यथैधस्तेजसा वह्निः” (११।२४६) इतिवदिति ।

एवं शुद्धः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नोतीत्येषा सा चतुर्विधा शुद्धिः । यथैता शुद्ध्यः परपुरुषार्थ-
 हेतवस्तज्जननादिष्वियमिति प्रशंसा ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अद्भिः स्नानेन शुध्यन्ति कर्माधिकारं लभन्ते । मनः शुध्यति मनसा यत्पापं कृतं तत्सत्याभिधानेन नश्यति । विद्या वैश्वानराद्युपासना तपोऽनाशकं भूतात्मा स्थूलः सूक्ष्मश्च देहः बुद्धिः क्षेत्रईश्वरज्ञानेन ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वेदाद्युपहतान्यङ्गानि जलेन क्षालितानि शुध्यन्ति । मनश्च निषिद्ध-
 चिन्तादिना दूषितं सत्याभिधानेन शुध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीवात्मा
 ब्रह्मविद्यया पापक्षयहेतुतया तपसा च शुद्धो भवति । शुद्धः परमात्मरूपेणावतिष्ठते ।
 बुद्धिश्च विपर्ययज्ञानोपहता यथार्थविषयज्ञानेन शुध्यति ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च अद्भिरिति । गात्राणि करचरणादीनि । मनः निषिद्ध-
 चिन्ताद्यशुद्धं सत्येन सत्याभिधानेन । सर्वदा प्रसन्नमना व्यवहरेन्न मिथ्या भाषेतेति । विद्या-
 तपोभ्यां भूतात्मा सच्चित्को देहः स्थूलोऽहमित्यभिमानात् शुध्यति विद्या आत्मानात्मविवेकधीः
 तपश्चान्द्रायणादि विपर्ययज्ञानोपहताबुद्धिर्यथार्थज्ञानेन । वस्तुतस्तु विद्या सगुणोपासना
 तपो नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तं कर्म ताभ्यां विशुद्धो भूतात्मा ब्रह्मसाक्षात्कारार्हः । ज्ञानेन
 बुद्धिर्जीवोपाधिरन्तःकरणं शुध्यति । तत्त्वं पदार्थद्वयनिश्चयवती तदुपहितचैतन्यस्य ब्रह्मात्मत्वे
 तस्या अपि तन्मात्रताशुद्धिरात्यन्तिकी नान्या । ‘तपसा कल्मषं हन्ति विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वो-
 भयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते’ (ईशा. ११) इति श्रुतेः । एवं च
 सगुणब्रह्मविदोऽपि न श्राद्धादि । नाशौचं च तथा च श्रुतिः ‘यद्यस्मिञ्छब्दं कुर्वन्ति यदुच्यते
 ननर्तेचिषमत्तिसंभवतीति । अस्यार्थः कं ब्रह्म खं ब्रह्मेत्येवंविद्यस्मिन्पुरुषे यदि शब्दं कुर्वन्ति
 शवसंबन्धिदाहश्राद्धादिकं कर्म कुर्वन्ति यदुच्यते न यद्विवा न उभयथा अचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं
 गच्छन्ती’त्यनेनाप्यविदुषस्तदकरणे प्रेतत्वमस्तीति भावः । इति प्रेतशुद्धिः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । गात्राणि शरीरमिति यावत् । रजस्तमोदूषितं मनः सत्त्वेन सत्त्वगुणेन
 शुध्यति । विद्यातपोभ्यां ज्ञानस्वाध्यायाभ्याम् । भूतात्मा चेतः । बुद्धिरध्यवसायनिमित्त-
 मन्तःकरणम् । ज्ञानेन शास्त्रार्थज्ञानेन ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । गात्राणि अङ्गानि हस्तपादादीनि अद्भिः प्रक्षालनेन शुध्यन्ति । मनः सत्याचारेण शुध्यति । भूतात्मा विद्यातपोभ्यां शुध्यति । तद्यथा-भूतशब्देन तद्विकारभूतो देहेन्द्रियसंघो लक्ष्यते, तत्र स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्येवंतदभिमानित्वेन योज्यमात्मा वर्तते स भूतात्मा । तस्य तपोविद्ये शुद्धिनिमित्ते । तपः ब्रह्मजिज्ञासुश्चेति पञ्चकोशव्यतिरेकप्रतिपादनपरं वाक्यं । विद्याशब्देन चोपनिषदस्थूलमनण्वह्रस्वमसंगो ह्ययमात्मेत्यात्मपदार्थनिरूपकवाक्यजन्यं ज्ञानं विद्या वैखानसाद्युपासना वा तपः अनशनादि । भूतात्मा जीवात्मा । बुद्धिः सूक्ष्मदेहः । ज्ञानेन आत्मज्ञानेन शुध्यति शरीरादिव्यतिरिक्तसंशयविपर्ययरूपत्वेन स्वरूपज्ञानं विशो-
धनम् ॥ १०९ ॥

(७) मणिरामः । मनः संकल्पविकल्पात्मकं । भूतात्मा जीवात्मा । बुद्धिः निश्चया-
त्मिका । ज्ञानेन ब्रह्मज्ञानेन ॥ १०९ ॥

(८) गोविन्दराजः । अद्भिरिति । अङ्गानि स्वेदाद्युपहतानि अद्भिः शुध्यन्ति । मनश्च कथंचिदसत्सङ्कल्पोपहतं सत्याभिधानेन शुध्यति । पारमार्थिकश्चात्मापरमात्मा-
द्यकोशकारकमिवदात्मैव रागादिमलजालावबद्धो विद्ययोपनिषदाद्युक्तात्मोपासनाभिस्तपसा
चाखिलमलपरिलोपी ब्रह्मस्वरूप एवावतिष्ठते । तथा बुद्धिर्विपरीतार्थग्राहिणी तेनाशुद्धासती
यथा भूतार्थग्राहिणा विज्ञानेन शुध्यति ॥ १०९ ॥

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ॥

नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । नानाविधानां द्रव्याणां बहुप्रकाराणां तैजसमार्तिकद्रवकठिन-
व्यस्तसंहतकार्यद्रव्यादिभेदैर्द्रव्याणामुपकरणभूतानाम् । पूर्वस्याः शुद्धेर्भेदमेतेनाह । तत्र
बुद्ध्यात्मनः प्रधानतया शुद्धिः । द्रव्याणां तु तत्संपरिग्रहात् । इह तु विपरीतम् । शृणुत
निर्णयम् । पूर्वोक्तार्थस्यासांक्यार्थः श्लोकः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शारीरस्य बाह्यद्रव्यविषयस्येत्यपि । द्रव्याणां बाह्यानां
नानाविधानां प्रकारविशेषोपाधिभिन्नानां तत्तदुपाधिभेदनियतायाः शुद्धेः ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । अयं शरीरसंबन्धिनः शौचस्य युष्माकं निश्चय उक्तः । इदानीं
नानाप्रकारद्रव्याणां येन यच्छुध्यति तस्य निर्णयं शृणुत ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । तामुपसंहरन्द्रव्यशुद्धिं प्रतिजानीते एषेति । शारीरस्य देहद्रव्य-
संबन्धिनः ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । नानाविधानां पात्राणां तथा द्रव्याणां शुद्धेर्निर्णयं
शृणुत ॥ ११० ॥

(८) गोविन्दराजः । एष इति । एष शरीरसंबन्धिनः शौचस्य युष्माकं विचार
उक्तः । इदानीं नानाप्रकाराणां द्रव्याणां शुद्धेः निर्णयं शृणुत ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ॥

भस्मनाऽद्भिमृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । तैजसान्युच्यन्ते यान्यग्निसंयोगाद् द्रवीभवन्ति, रजतसुवर्ण-
ताम्रायसत्पुसीसादीनि । मणयः स्फटिककल्पाः । अश्मा पाषाणः । तद्विकारः पात्रमश्ममयम् ।
सर्वस्येति पादपूरणार्थम् । पर्वतग्रावणो नदीस्थस्य चेत्यालंबनम् ।

भस्मनेति एककार्यत्वान्मृद्भस्मनी विकल्प्येते । आपः समुच्चीयन्ते । किं पुनरत्र
कार्यम् । लेपगन्धापमार्जनम् । उक्तं (श्लो० १२६) “लेपगन्धापकर्षणे शौचममेध्यस्य”
इहापि “यावन्नापैत्यमेध्याक्तादिति” । तत्र रूपतः पारुष्यं समानं मृद्भस्मनोः, स्नेहनिमित्त-
कार्यभेदे शुद्धिः । अशुचेः शुचित्वापादनं प्रत्यवायापनयेन संव्यवहारयोग्यता ।

यद्येवमशुद्धिर्वाच्या—इदमनेन संपृक्तमशुचीति । ‘ननु लौकिकाः पदार्थास्तत्र लोकादेव
ज्ञास्यन्ते’ । नैवम् । सामान्यमात्रं लोकाज्ज्ञायते । यज्जुगुप्सितं मूत्रपुरीषशोणितसंसर्गेण
तादृशं लोकेऽशुचीत्याह—यदयोग्यं स्पर्शनादिक्रियासु तदशुचि । कथं च तस्यायोग्यतेत्येतच्छा-
स्त्रादेव विवेक्तव्यम् । किंच परद्रव्यादौ यो न स्वलति स शुचिरुच्यते । अतो नानया
पदार्थप्रसिद्धयेह किंचित्सिद्धयति । अपहृतमशुचीति सिद्धेऽपि इदमनेनापहन्यत इति
नान्तरेण शास्त्रविशेषं सिद्धयति ।

“कथं पुनः शास्त्रात्पदार्थविशेषावसायः, यावता कर्तव्यतापरत्वेन शास्त्रं प्रमाणम्,
न पदार्थप्रसिद्धौ, पाणिनिवत् । वेदमूलत्वाभ्युपगमान्मन्वादिस्मृतीनाम् ।”

उच्यते । अनेन द्रव्येण यद्दुष्टं तेन न व्यवहर्तव्यमित्यस्त्येव विध्यनुमानम् । यत्संसर्गेण
व्यवहारप्रतिषेधः स उपघातहेतुरित्यवगमो न विरुध्यते । एवं शुद्धावपि-यदुपहृतं द्रव्यं तेन
यथा विहितं कृतप्रक्षालनादिक्रियेण व्यवहर्तव्यमिति—शक्यते विधिमूलता प्रतिपत्तुम् । न च
शुद्धिः कर्तव्येति विध्यर्थः । तथा सत्यकुर्वन्नप्रत्यवेयात् । किंतु दृष्टार्थं व्यवहारे येन केनचित्पात्रेण
शुचिनाऽन्येन वा कर्तव्येऽर्थित्वात्प्राप्ते नियमः शास्त्रीयः—‘इत्थंभूतेन व्यवहर्तव्यं सत्यार्थित्वे,
नानित्थंभूतेन’ ।

“ननु च नियमपक्षेऽभ्युदयार्थिनोऽधिकारः । अन्यस्य तु कामप्रसंगः । यथा कुसाधुत्व-
चिन्तायां वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोरिति” ।

सत्यम्, यद्यशुद्धपात्रस्य प्रतिषेधो न स्यात् । प्रतिषेधे तु सति कुतोऽकृतशुद्धिना
व्यवहारः । शुद्धिविधिस्तु प्रतिप्रसवमात्रम् । प्रतिप्रसवे कुतोऽभ्युदयः । केवलं प्रतिषेधाति-
क्रमो न भवति ।

भवतु वा पदार्थाधिगमपरैव स्मृतिरियम्, साध्वसाधुविवेकवत्स्वल्पस्मृतिवच्च । यत्तु
‘कार्यमूलत्वं मन्वादिवाक्यानामिति’ केनैतदुक्तम् । यत्र यादृशं मूलत्वेन शक्यतेऽवगन्तुं तत्र
तदेवाभ्युपगम्यते । अष्टकादौ कार्यरूपे तादृशमेव वाक्यं मूलम्, सिद्धे त्वर्थे सिद्धार्थविषयमेव ।
पदार्थव्यवस्थायामिदं प्रथमता व्यवहारमूलेति न कदाचित्कृतिः । इह तु न कथंचिद्व्यवहारमूलं
संभवति । वैदिकमन्त्रसाध्यायां च शुद्धौ का व्यवहारमूलता शक्या । विधिश्चानर्थकः स्यात् ।

“ननु च पाणिनेरपि विधिरस्ति साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिरिति ।”

नैषा पाणिनेः स्मृतिः । सा ह्येतावति पर्यवसिता—‘साधुरयमयं नेति’ एतत्तु धर्म-
सूत्रकारिणी ‘स्मरणं यद्यप्यस्ति अभिधानसाराच्चैतन्निपुणतोऽवगन्तव्यम् ।

“ननु तत्स्मृतावपि विधिः श्रूयते । ‘दायादा एवं विभजेरन्’ ‘चतुरोऽंशान् हरेज्ज्येष्ठः’
(१/१५३), ‘ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयादिति’ (१/१०५) किं विध्यर्थं एव लिङ्गान्तरे
प्रैषादौ स्मर्यते । पदार्था विधिरूपाः, विधिशेषा प्रैषादयः सर्वत्र प्रवर्तनाप्रतिपत्तेरिति”—चेत् ।
हेतुहेतुमतोराशिपि प्राप्तकालादिषु का प्रवर्तना । न च ग्रहणं विधेयम्, अर्थितया प्राप्तत्वात् ।

‘स्वपरांशयोरविशिष्टायामर्थितायां नियमार्थो विधिरिति’ चेत् । अदृष्टकल्पेन विहितां-
शातिरेकेण विधिनियमाननुपत्तेः ।

‘प्रतिषेधाख्या परिसंख्येति’ चेत् । युक्तमेतत् । किन्तु विभागकाल एव यः कश्चिदधि-
कमंशं भ्रातृभिरनुज्ञातमाददीत स प्रत्यवेयात्सत्यामप्यनुज्ञायाम्—न चैकवस्त्वंशे स्वत्वं ज्ञाप्येत ।
ग्रहणविधौ हि स्वत्वापत्तिरुपात्ता । तस्य यदन्यत्तदस्वमिति विज्ञायते प्रतिषेधः । पुनस्तदति-
क्रमेणापि परिग्रहे स्यादेव स्वाम्यम् । अतश्च चौर्यादिनाऽपीष्यते । न तदा इदमस्य स्वमिदं
नेति परिग्रहादृते निश्चीयते ।

तस्माद्विधिनियमपरिसंख्यानामसंभवादित्यंशेऽयं स्वामीयत्यंशेऽयमिति एतावान्वि-
भागार्थः । अतोऽयमर्थान्तरे लिङ्गं विभजेरन्निति प्राप्तकालतायाम् । हरेयुरित्यादिषु लौकिक-
प्रवृत्त्यनुवादः; यथा “क्षुधितो भुञ्जीत” “योगक्षेमार्थमीश्वरमभिगच्छेदिति” ।

शौतमश्च स्पष्टमेवाह “रिक्थक्रय” इत्यादि । तस्मादष्टकादिस्मृतेः शुद्धचशुद्धिवचनस्य
संस्कारविधितैव शिष्यते, विधिमूलत्वाद्विधिशिष्टैव । अतः शुद्धचशुद्धौ उभे अपि शास्त्रा-
वसेये । ततः अशुद्धिरपि वाच्या ।”

उच्यते । उक्तैव तर्हि ‘वसा शुक्रमिति’ (५/१३५) । नृग्रहणं च तत्र स्मृत्यन्तर-
दर्शनेन प्रदर्शनार्थम्—श्वमार्जारखरोष्ट्रकपिकाकविड्वराहग्राय्मकुक्कुटाखुशृगालक्रव्याद-
मृगशकुन्तनखिनकुलानाम् । वसादिग्रहणं च रोममांसानाम् । शुद्धिवचनाच्चाशुद्धानां मूत्रा-
द्युपहतानामयं संस्कारः कर्तव्यः, न पुनरेवमेव प्रयुज्यमानानाम् । न हि सुवर्णादयो भावाः
स्वरूपेणाशुद्धाः, येन प्रयोगकाले शुद्धिमपेक्षेरन् । अथवाऽदृष्टार्थो दृष्टप्रयोगश्रायः संस्कारो
विधीयते । प्राङ्मुखेनेव भोजने । तत्र शुद्धिवचनं विरुध्यते । ये तु पात्राणां भोजनारम्भे
संमार्जनप्रक्षालने, ते समाचारतः न पुनरस्याः शुद्धिस्मृतेः । यदप्यन्यदस्पृश्यं पुरुषस्य पतित-
चाण्डालादि तथा लशुनपलाण्डुसुरामांसादि, तदपि द्रव्याणामुपघातकम् । तत्र कस्मिन्नुपघाते
का शुद्धिरिति स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेषणीयौ । उक्तश्च विशेषो हारीतापस्तम्बपराशर-
मुनिभिः । तानि तु वचनान्यस्माभिरिह सर्वाणि न परिवर्तितानि लेखकविशेषप्रसंगात्
चन्द्रगोमितन्त्रकारवत् ॥ १११ ॥

(२) सर्वजनारायणः । तैजसानां सुवर्णादीनां । मणीनां माणिक्यादीनाम् । अश्म-
भयस्य प्रस्तरमयस्य । भस्मनेति भस्ममृदोरन्यतरेणाद्धिश्च सलेपोपघाते शुद्धिः ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । तैजसानां सुवर्णादीनां मरकतादिमणीनां पाषाणमयस्य च सर्वस्य, भस्मना जलेन मृत्तिकया च मन्वादिभिः शुद्धिरुक्ता । निर्लेपस्य जलेनैवान्तरशुद्धेर्वक्ष्यमाणत्वादिदमुच्छिष्टघृतादिलिप्तविषयम् । तत्र मृद्भस्मनोर्गन्धक्षयैककार्यत्वाद्विकल्पः । आपस्तूभयत्र समुच्चीयन्ते ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । तामाह तैजसानामिति । पञ्चत्रिंशता तैजसानां ताम्रकटाहादीनां मणीनां मरकतादीनां अश्ममयस्य पात्रादेः उच्छिष्टघृतादिसलेपानां तेषां भस्मादिति भिरेव शुद्धिरुक्तेत्यन्वयः ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । तैजसानां लोहविकाराणां मणीनां रत्नादीनां भस्मादिभिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेन वा यथायोगं शुद्धिः प्रोक्ता ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ पात्रद्रव्यशुद्धिमाह तैजसानामिति । तैजसानां सुवर्णादीनां मणीनां मुक्तादीनां सर्वस्याश्ममयस्य दृषदुपलादीनां तेषां सौवर्णादीनां सोच्छिष्टानां मृद्भस्मवारिणा शुद्धिरुक्ता ॥ १११ ॥

(७) मणिरामः । द्रव्यशुद्धिमाह तैजसानामित्यादिभिः । तैजसानां सुवर्णादीनां । मणीनां मरकतादीनां । अश्ममयस्य पाषाणमयस्य । इदमुच्छिष्टघृतादिलिप्तविषयम् ॥ १११ ॥

(८) गोविन्दराजः । तैजसानामिति । अग्नितेजसा यानि द्रवीभवन्ति तानि तैजसानि सुवर्णादीनि । एवं प्रसिद्धेस्तेषां मणीनां पाषाणमयस्य च सर्वस्य चकारान्मृदादेरपि अद्भिर्मृद्भस्मनोश्चान्यतरेण लेपगन्धापकर्षणाख्यैककार्यत्वाद्विकल्पितेन विद्वद्भिर्मन्वादिभिः शुद्धिरुक्ता । इदं समानजातीयोच्छिष्टलेपामेध्यद्रव्यसंस्पर्शादिष्वल्पोपघातविषयम् । तथा चोपघातविषये शुद्धयन्तराणि दृश्यन्ते । यथा बौधायनादिभिस्तैजसानां मूत्रपुरीषशुक्रासृक्कुणपमयैरत्यन्तवासितानामावर्तनम् । अल्पकालसंसर्गेषु परिलेखनं, स्पर्शमात्रोपघाते तु त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनायुक्तं । आवर्तनं पुनःकरणं, परिलेखनं तक्षणम् ॥ १११ ॥

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति ॥

अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । तैजसविशेषयोः काञ्चनराजतयोर्निर्लेपयोरयं विधिः । अन्येषां तु ताम्रादीनां यथोच्छिष्टस्पर्शं धावनादिष्टकादिभिः ।

यत्र क्षीरं वा पानीयं वा पीतं तत्र न भवति लेपः । यत्र मांसघृतक्षीरादिभिरुच्छिष्टैः संश्लिष्यन्त्यवयवास्तत्र वक्ष्यति “तस्मात्तयोः स्वयोन्यैवेति” (५।११३) । लेपगन्धापकर्षणवचनाच्च यो लेपो येनैवापक्रष्टुं शक्यते तत्र तदेवोपादेयम्, न भस्मवारिणी एव । तथा च हारीतः “गोधूमकुष्ठककलायवमुद्गमसूरचूर्णैः” इत्यादि पठति । एवं “श्वचाण्डालोदक्यादिस्पर्शे तु निर्लेपयोरपि भस्मना त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनमिति” हारीतः ।

शङ्खस्तु “तैजसानां कुणपरधिररेतोमूत्रपुरीषोपहतानामावर्तनमुल्लेखनं भस्मना वा त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनमिति ।” तत्र चिरकालमूत्रादिवासितानाम् ‘आवर्तनम्’ । नामा-

कृतिमुपमृद्येच्छातस्तदाकृतिसंपादनम् 'आवर्तनम्' । 'उल्लेखनं' तीक्ष्णेन शस्त्रेणाशमना वा निघर्षः । स्मृत्यन्तरे त्वाकरदाहावचूलनान्याम्नातानि । तत्र सुवर्णकारैर्वर्णीकृतस्य शुद्धिः 'आकरः' । 'दाहः' अग्नौ सुवर्णकारैर्निष्ठापनम् । 'अवचूलनं' दाहोन्नीतानां सुवर्णकाराणां सुवर्णघनभाण्डे तेन सर्वत अवहननं तस्मिन् वर्णाकरे । तथा चोक्तं "आकराः शुचयः सर्वे" इति ।

'अब्जं' शङ्खस्फटिकादि । शङ्खस्य तु सलेपस्य गौरसर्षपकल्केन गोमूत्रोदकाभ्यां क्षीरेण च । स्मृत्यन्तरे हि पठ्यते "अद्भिः शङ्खस्येति" "क्षीरोदकाभ्यां गौरसर्षपकल्केनोच्छिष्टस्नेहयुक्तस्येति" ।

अनुपस्कृतमखातपूरितमथवाऽत्यन्तानुपहतम् । सर्वशेषश्चायम् । तेन शुष्कामेध्यचण्डालादिस्पर्शे सत्यपि निर्लेपत्वे प्राक्प्रदर्शितैव शाखान्तरीया शुद्धिः ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्लेपं शुष्कविष्ठादिस्पृष्टं उच्छिष्टनरादिस्पृष्टं च । अब्जं शङ्खादि । अश्ममयपदेन मणीनामपि ग्रहणम् । अनुपस्कृतमनुत्कीर्णकाञ्चनाब्जादि । उत्कीर्णे रेखान्तर्मलावस्थानसंभवादधिकं शौचम् । रजतपदं ताम्रादिव्यवच्छेदार्थम् ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । उच्छिष्टादिलेपरहितं सौवर्णभाण्डं जलभवं च शङ्खमुक्तादि पाषाणमयं च राजतमनुपस्कृतं रेखादिगुणान्तराधानरहितं तथाविधमलासंभवाज्जलेनैव भस्मादिरहितेन शुध्यति ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । अब्जं शङ्खशुक्त्यादि अनुपस्कृतं रेखादिरहितं निर्लेपं चेज्जलेनैवं ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । भाण्डं पात्रम् । अब्जं शङ्खशुक्त्यादिकम् । अनुपस्कृतं निर्लेपमित्यर्थः । निर्लेपमित्यत्र विशेषणात्सलेपविषयाः पूर्वोक्ताः ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अब्जं मुक्ताफलशङ्खशुक्त्यादि राजतं च अनुपस्कृतं रेखादिरहितं अन्नादिना असंस्पृष्टं अद्भिः प्रक्षालनेन शुध्यति ॥ ११२ ॥

(७) मणिरामः । निर्लेपं उच्छिष्टादि लेपरहितं । अब्जं जलभवं शङ्खशुक्त्यादि । अनुपस्कृतं रेखादिगुणान्तराधानरहितं ॥ ११२ ॥

(८) गोविन्दराजः । निर्लेपमिति । उच्छिष्टादिलेपरहितं पानीयपानाद्युपहतं सौवर्णभाण्डमब्जं च शुक्त्यादिकमश्ममयं च रूप्यमारकतपूरितमद्भिरेव केवलाभिर्विशुध्यति । न मृद्भस्मसहिताभिः ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्च संयोगाद्धर्मो रौप्यं च निर्बभौ ॥

तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्धवादोऽयम् । "अग्निर्वैवरुणानी"त्यारभ्य 'अकामयते'त्याद्यर्थवादिषु हेम्नः सुवर्णस्य रूप्यस्य चोत्पत्तिः श्रुता । 'पुरुषधर्मेणाग्निर्वरुणानीरपोऽकामयत, मैथुनधर्मेण

समयुज्यत' । तत एतद्द्वयं निर्बभौ उद्भूतम् । अतस्तयोः स्वयोन्या स्वेनोत्पत्तिकारणेनाग्निना अत्यन्तोपघाते उदकेन च ।

“सयोन्येति” पाठे समानोत्पत्तिना भस्मनेति व्याख्येयम् । तद्दर्शनाच्च मृदोऽपि कदाचिदनुज्ञायन्ते । निर्णोकः शोधनं गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्यन्तोपघाते त्वाह अपामग्नश्चेति । अप्सु अग्नितेजोरूपवीर्य-विसर्गात्सौवर्णराजतोर्ध्वाधःशकलद्वयवद्ब्रह्माण्डोत्पत्तिरिति तात्पर्येणेदमुक्तम् । स्वयोन्या अग्नौ प्रताप्य आवर्त्य वा जलप्रक्षेपेणेत्यर्थः । निर्णोकः शोधनं गुणवत्तरः शोधनान्तरेभ्यः ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । ‘अग्निर्वै वरुणानीरकामयत’ इत्यादिवेदे श्रूयते तथान्तेः सुवर्णमिन्द्रियं वरुणानीनां रजतमित्यादिश्रुतिष्वग्न्यापःसंयोगात्सुवर्णरजतं चोद्भूतं यस्मादतस्तयोः स्वेन कारणेनैव जलेनात्यन्तोपघातेनाग्निना निर्णोकः शुद्धिहेतुः । गुणवत्तरः प्रशस्ततरः ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च अपामग्नश्चेति । अत्यन्तोपघाते तयोः सुवर्णरजतयोः । अग्निजलजत्वं श्रौतमाश्रित्याह तस्मात्तयोरिति । सुवर्णरेतादुतभुक् ‘सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रजतम-भूदि’ति श्रवणादग्निजलरूपया स्वयोन्या निर्णोकः शुद्धिर्गुणवत्तरः प्रशस्तः ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । आग्नेयं हि रेतो गंगाजलसंयोगात्सुवर्णरजतं चाभवदितिहासपुराणेषु स्मर्यते तेनोक्तमनेश्वापां च संयोगाद्धेमरूप्यं च निर्बभाविति । बलवत्तरशब्देनात्यन्तोपहतहेमरूप्यमिदमिति गम्यते ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । हैमं हेमविकारं रौप्यं रौप्यविकारं जलाग्निसंयोगान्निर्बभौ स्वयोन्यैव जलाग्निसंयोगेनैव निर्णोकः शुद्धिर्गुणवत्तरः उत्कृष्टः ॥ ११३ ॥

(७) मणिरामः । अत्यन्तोपघाते स्वर्णरजतयोः शुद्धिमाह अपामिति । निर्बभौ उत्पन्नौ । निर्णोकः शुद्धिः ॥ ११३ ॥

(८) गोविन्दराजः । अपामिति । ‘अग्निर्वै वरुणानीरकामयते’त्यादिवेदे श्रूयते । तत्राग्नेः सुवर्णमिन्द्रियं वरुणादीनां रजतमित्येवं श्रूयते । एवं चाग्न्यापःसंयोगाद्यतः सुवर्णरूप्यं चोद्भूतमतः तयोः स्वकारणेनैवोदकाख्येन तथैककारणकेन भस्मनैव शोधनं प्रशस्यतरमेवं च मृदः काञ्चनरजतयोर्भस्मातिशयवत् ॥ ११३ ॥

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ॥

शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । यथार्हम् । यस्य यदर्हति, येन यस्य मलमपक्रष्टुं शक्यत इत्यर्थः । अत एव स्मृत्यन्तरोक्तमपि लभ्यते “वाहनीयास्त्रपुसीसकविकारा गोमयतुर्बेरिति” । यथा—

“गवाघ्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च ।

शुद्धयन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥” इति ।

अत एव क्षारभेदाश्च काञ्जिकदाडिमादियोजिताः सिद्धा भवन्ति ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । रैत्यं पैतलं । त्रपु रङ्गं । अत्र रैत्यानामिति विकारमुक्त्वा त्रपुण इति प्रकृत्यभिधानात्तत्तत्प्रकृतिविकारयोस्तुल्यं शौचमित्युक्तम् । यथाहं येन यस्य मलापगमः । क्षारसहितेन वारिणा ताम्ररैत्यव्यतिरिक्तानाम् तयोस्तु अम्लोदकेन अम्लरसेन वारिणा चेत्यर्थः ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । अयो लोहं, रीतिः पित्तलं, तद्भवं पात्रं, रैत्यं त्रपु रङ्गम्, एषां भस्माम्लोदकैः शोधनं कर्तव्यं । यथाहं यस्य यदहंति 'अभसा हेमरौप्यायःकांस्यं शुध्यति भस्मना । अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥' इति बृहस्पत्यादिवचनाद्विशेषोऽत्र बोद्धव्यः ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । ताम्रादिषण्णां शुद्धिमाह ताम्रेति । अयो लोहं, रीतिः पित्तलं, तद्भवं रैत्यं त्रपु रङ्गं यथाहं यस्य यदिति । 'अभसा हेमरूप्यायःकांस्यं शुध्यति भस्मना । आम्लाद्यैस्ताम्ररैत्ये च पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥' इति बृहस्पतिवचनात् । मद्योपहतत्वेऽल्पोपहतत्वे च वारिणैव अत्यन्तोपहतत्वे भस्मक्षारादीनां शुद्धिः ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । क्षारो भस्मोषो वा । अम्लोदकं चिञ्चाफलादिरसः । गन्धवर्णादिदूषितविषयमेतत् । कुतः ? यथाहमिति लोकदृष्टिसामर्थ्यानुसारोपदेशात् । इह रूप्यस्य पुनर्ग्रहणमम्लोदकार्थम् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । रैत्यं पैतलं । त्रपुणः रङ्गस्य च पुनः सीसकस्य पात्रस्य ताम्रादेः क्षाराम्लोदकेन शुद्धिः ॥ ११४ ॥

(७) मणिरामः । अयः लौहं । रीतिः पित्तलं, तद्भवं पात्रं रैत्यं । त्रपु रंगं । यथाहं यस्य यद्योग्यं तस्य तेनेत्यर्थः । यथाह बृहस्पतिः— 'अभसा हेमरौप्यायःकांस्यं शुध्यति भस्मना । अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयमिति ॥ ११४ ॥

(८) गोविन्दराजः । ताम्रायःकांस्यरैत्यानामिति । ताम्रलोहकांस्यपित्तलत्रपुसीसानां भस्मोदकलाञ्जिककादिभिर्मलनिर्हरणातिक्रमेण शौचं कर्तव्यं । इदं च यत्र मृद्भस्मनामुच्छिष्टादिमलनिर्हरणासामर्थ्यं तद्विषयं, यथाहवचनात् ॥ ११४ ॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ॥

प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षरणधर्माणो द्रवाः । घृततैलोदश्वित्प्रभृतयस्तेषां च काकाद्युच्छिष्टानां प्रस्थमात्रपरिमाणानामुत्पवनं कस्यचिदंशस्यापनयनं पूर्वभागस्थितस्य । स्मृत्यन्तरे त्वेवाम्नातम् "कुशाग्राभ्यां पवमानः सुवर्जन" इत्यनुवाकेन । अन्ये तु प्लावनमुत्पवनमाहुः—अन्यत्समानजातीयं तावदासिच्यते यावत्पूर्णे भाण्डे काश्चिन्मात्रा अवस्रवन्ति । साक्षादुपघात एतत् । अल्पानां त्याग एव । भाण्डोपघाते तु पात्रान्तरनयनम् । उच्छिष्टसंस्पर्शे तु तैलसर्पिषी उदकेऽवधाय जपेदित्युक्तम् । तत्रार्थात्पात्रोत्क्षेपः । न हि तैलस्य उदके क्षिप्तस्य पात्ररहितस्योपयोगः संभवति । साहचर्यात् घृतस्यापि । एतच्चोत्पवनं द्रवाणां यत्र मद्यामेध्यसंसर्गकृतौ गन्धवर्णौ न दृश्येते । तयोस्तु सत्योस्त्याग एव ।

सर्वं चैतद्बौधायनस्मृतौ परिगृहीतम् । पक्वानां तु द्रव्याणां पुनःपाकोऽपि शङ्खे-
नाम्नातः । सर्वेषां येऽप्यमेध्या मद्यादयस्तेषामप्येषैव शूद्रादीन्प्रति शुद्धिः । अत्र तूत्पवनं
प्लावनमेव । यथा वसिष्ठेनोक्तं “भूमिष्ठानां तूदकवत्” । संहताः कठिनाः । शीतं घृतं
आमिक्षागुडपर्पटकादयस्तेषां यः प्रदेश उपहृतस्तमपनीय शेषस्य शुद्धिः । उक्तं च शङ्खेन
“शुष्काणामुद्धृतदोषाणामिति” । अथवा समुदायादवयविनः संहताः शयनासनसरणादयः
सजातीयविजातीयद्रव्यसंघातात्मकाः । ‘उद्धृतदोषाणामिति’ सर्वत्र द्रष्टव्यम् । शवशुष्का-
मेध्यसंसर्गेषु यः प्रदेशो वृत्तसंसर्गस्तस्य प्रक्षालनमवशिष्टस्य प्रोक्षणम् । दारवाणां केवल-
दारुकृतानां वृसीफलकादीनां काष्ठमयानां च शवचण्डालपुरीषसंसर्गो तक्षणम् । अन्ये तु
पुरीषसंसर्ग एवेच्छन्ति । तक्षणेन गन्धलेपाद्यपनेतव्यम् । अवशिष्टस्य मृद्वारिभ्यां प्रक्षालनं
प्रोक्षणं वा । श्वाद्युपघाते तु प्रक्षालनमेव पुरीषवत् ।

खट्वाशय्यादीनां च दारुचर्मसूत्रघटितानां संहतत्वेन शुद्धिः ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्पवनं वस्त्रेण पावनं कठिने चोपघाते संहतानामेकत्र स्यूताना-
मनेकेषां पटवर्मादीनाम् । दारवाणां तक्षणं मलाद्युपघाते ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रवाणां घृततैलानां काककीटाद्युपहतानां बौधायनादिवचनात्प्रसूति-
मात्रप्रमाणानां प्रादेशप्रमाणकुशपत्रद्वयाभ्यामुत्पवनेन शुद्धिः । संहतानां च शय्यादीना-
मुच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणं । दारवाणां चात्यन्तोपघाते तक्षणेन ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च, द्रवाणां काकाद्युपहतघृतादीनां उत्पवनं ‘प्रस्थमात्रपरि-
माणानां प्रादेशपरिमितकुशपत्रद्वयाग्राभ्यामुत्पवनेन शुद्धिः’ इति बौधायनोक्तेः । संहतानां सूत्रा-
दिसंयुक्तानां उच्छिष्टाद्युपघाते तद्देशं प्रक्षाल्य प्रोक्षणं, उपस्पर्शे तु प्रोक्षणमात्रं दारवाणां दारु-
निर्मितानां तक्षणं छेदनं अवयवस्य ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । संहतानाम् अपृथक् (?द्र) व्यसमवायरूपाणां शयनादीनाम् । तथा
चाङ्गिराः ‘शयनासनयानानि रोमबन्धानि यानि च । वस्त्राणि तानि सर्वाणि संहतानि
प्रचक्षते’ इति ॥ उत्पवनं स्वल्पोपघाते तक्षणमत्यन्तोपघाते ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां द्रवाणां द्रवभूतानां घृतादीनां अस्य प्रमाणाधिकस्य काका-
द्योपहतस्य अमेध्यसंप्लुष्टस्य सर्वद्रव्यस्य उत्प्लवनं सजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्यातिपूरं
यावन्निःसरणं शुद्धिः, संहतानां सूत्रपटचर्मादीनां बहूनां धान्यवासां प्रोक्षणं शुद्धिः ।
दारवाणां काष्ठपान्नाणां अमेध्यलिप्तानां तक्षणं शुद्धिः ॥ ११५ ॥

(७) मणिरामः । द्रवाणां घृततैलादीनां काककीटाद्युपहतानां प्रसृतमात्रप्रमाणानां ।
उत्प्लवनं कुशपत्रद्वयाभ्यां उत्पवनेन शुद्धिः । संहतानां शय्यादीनां उच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणेन
शुद्धिः । दारवाणां अत्यन्तोपघाते तक्षणेन शुद्धिः ॥ ११५ ॥

(८) गोविन्दराजः । द्रवाणामिति । द्रवाणां घृतादीनां बौधायनाद्यभिहितप्रस्थमात्र-
प्रमाणानां श्वकाकाद्युच्छिष्टानां अमेध्यसंसर्गकीटाद्युपहतानां अमेध्यस्पृष्टद्रव्यस्पृष्टानां चोत्प्ल-
वनं ‘कुशाग्राभ्यां पवमानः सुवर्जन’ इत्यनुवाकेनेति स्मृत्यन्तरोक्तो दधिदुग्धप्रक्षेपणपर्यन्तः ।

समानजातीयद्रव्यसेवनं वा स्मृतम् । संहतानां च शयनादीनामुच्छिष्टाद्युपहतानां क्षालितैक-
देशानां अभ्युक्षणं दारुमयानां चोच्छिष्टलेपाद्युपहतानां तक्षणम् ॥ ११५ ॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥

चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । श्लोकद्वयं श्रुतिसिद्धार्थानुवादेन दृष्टान्ततया नेयम् ।

ग्रहचमसादीनां यज्ञपात्राणां प्रयोगान्तरे प्रयुज्यमानानां पूर्वप्रयोगलग्नाज्यहविलेपादि-
संसर्गपरिहारार्थमुष्णेन वारिणा लेपाद्यपकर्षः कर्तव्यः । ततो यथाश्रुतिं क्वचित्पाणिना
क्वचिद्भूर्भुवः क्वचिद्दशापवित्रेण संमार्गः कर्तव्यः ॥ ११५-११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शम्याकृष्णाजिनादियज्ञपात्राणां मललेपोपघाते । यज्ञमध्ये
मार्जनम् । चमसानां ग्रहाणां च ऋत्विगादिभिस्तद्गतशेषपाने क्षालनमात्रम् ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । चमसानां ग्रहाणां चान्येषां यज्ञपात्राणां पूर्वं पाणिना मार्जनं कार्यं,
पश्चात्प्रक्षालनेन यज्ञे कर्तव्ये शुद्धिर्भवति ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । मार्जनं चमसातिरिक्तयज्ञपात्राणां चमसानां ग्रहाणां च यज्ञकर्मणि
कर्तव्ये पूर्वं पाणिना संस्कृत्य प्रक्षालनमन्यदा मार्जनमात्रम् ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । यज्ञकर्मणीति विशेषणात्कार्यान्तरेषु जातिनिमित्तैव शुद्धिर्द्रष्टव्या ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञपात्राणां स्रुक्स्रुवादीनां यज्ञकर्मणि प्रयुज्यमानानां दक्षिणेन
पाणिना कुशसहितेन कर्माङ्गतया मार्जनं प्रक्षालनं कर्तव्यम् । चमसानां जलपात्राणां सोम-
पात्राणां षोडशीप्रभृतीनां जलप्रक्षालनेन शुद्धिः ॥ ११६ ॥

(७) मणिरामः । चमसानां ग्रहाणां च अन्येषां यज्ञपात्राणां च पूर्वं पाणिना मार्जनं
कार्यं, पश्चात्प्रक्षालनेन यज्ञकर्मणि शुद्धिः ॥ ११६ ॥

(८) गोविन्दराजः । मार्जनमिति । यज्ञपात्राणां जुह्वाज्यधानीप्रभृतीनां यज्ञक्रियायां
कर्माङ्गतया हस्तेन परिमार्जनम् । चमसग्रहाणां च यज्ञपात्रविशेषाणां कर्माङ्गतयैव
प्रक्षालनेन शुद्धिः ॥ ११६ ॥

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ॥

स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

(१) मेधातिथिः । इयं प्रायोगिकी शुद्धिः । उच्छिष्टाद्युपघाते तु लौकिकपात्रवत् ।
“न सोमेनोच्छिष्टा भवन्तीति” विशेषश्रुतेरन्यत्रोपघाते सामान्यशुद्धिरस्तीति ज्ञायते ।
ग्रहचमसस्फ्या यज्ञिकेभ्य आकारविशेषेणावसातव्याः ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चरूणामित्यादि सलेपयज्ञभाण्डपरम् । स्फ्यादीनां प्रोक्षणं
मलोपघाते ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । स्नेहाक्तानां चरुस्रुगादीनामुष्णजलेन शुद्धिः, स्नेहाद्युक्तानां तु जलमात्रेणैव शुद्धिर्यज्ञार्थम् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । उष्णेनेति विशेषणादन्यत्र शीतोदं चरुणां चर्वर्थपात्रस्य, स्फ्यः खड्गाकारं काष्ठम् ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । सुक्लुवाणामाज्यसंपृक्तानामुष्णेन वारिणा शुद्धिः । अत्र 'यज्ञकर्मणी'-त्यनुवर्तते ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । चरुणामिति । चरुस्थाली सुक्लुवौ प्रसिद्धौ, सस्नेहानि पात्राणि । एतानि लेपरहितानि उष्णेन वारिणा शुध्यन्ति । स्फ्यः वज्रः यज्ञाङ्गकाष्ठखड्गः प्रसिद्धः, शकटानां रथानां उष्णेन वारिणा मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

(७) मणिरामः । स्नेहाक्तानां चरुस्रुगादीनामुष्णेन जलेन तद्रहितानां केवलजलेनैव यज्ञार्थं शुद्धिः ॥ ११७ ॥

(८) गोविन्दराजः । चरुणामिति । चरुशूपदीनां यज्ञाङ्गभूतानां भाण्डविशेषाणां तदङ्गतयोष्णोदकेन शुद्धिः ॥ ११७ ॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ॥

प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । बहुत्वं धान्यानां द्रोणाधिक्ये स्मर्यते । अन्ये तु पुरुषापेक्षया देशकालापेक्षया च वर्णयन्ति । कस्यचिद्दुर्गतस्य कुडवार्धमपि बहु भवति । तथा कस्यांचिदवस्थायां वर्धितकोशो बहुतामेति । यथाह बौधायनः (धर्म.सू. १।५।४७) "देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां तु ज्ञात्वा शुद्धिं प्रयोजयेत् ॥" एवं वासस्त्वपि केचिदाहुः । "त्रिभ्य ऊर्ध्वं बहूनि" । यद्यपि त्रिप्रभृतिषु बहुत्वम्, यतोऽल्पानामिति बहुवचनं श्रुतमतस्त्रिपर्यन्तान्यल्पानि ।

अद्भिरित्युपलक्षणम् । तेन यस्य वाससो येनैव दोषसंसर्गो व्यपैति तदपि द्रष्टव्यम् । तच्च प्राग्दर्शितम् । प्रोक्षणसंबन्धोऽव्यग्रहणनियमार्थः । उदकेनैव प्रोक्षणं कर्तव्यम् । एतेनैव च भेदेन द्विः पाठः । एतच्च महत्युपघाते शवपुरीषचाण्डालादिस्पर्शे । अन्यथा त्वल्पानामिति प्रोक्षणमेव । यदि प्रक्षालितस्यापि लेपादि वाससो नापैति तदा तन्मात्रच्छेदनं "उत्सर्गो वेति" गौतमेनोक्तम् ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बहूनां द्रोणाधिकधान्यानाम् । तत्समभिव्याहाराच्च वाससामपि तावद्गुरुत्वयोग्ये बहुत्वे प्रोक्षणम् । अल्पानां धान्यवाससामेव । अत्र सर्वत्राद्भिरिति पदं द्रव्यान्तरेण गोमूत्रादिना क्षालनादिनिवृत्त्यर्थम् ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । बहूनां धान्यानां वस्त्राणां च चाण्डालाद्युपघाते जलेन प्रोक्षणाच्छुद्धिः । बहुत्वं च पुरुषभारहार्याधिकत्वमिति व्याचक्षते । तदल्पानां तु प्रक्षालनाच्छुद्धिर्मन्वादिभिरुपदिश्यते ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च पुरुषवाह्यातिरिक्तत्वेन बहुत्वं तद्युक्तानां धान्यानां चाद्भिः प्रोक्षणं उत्तानहस्तेन जलक्षेपः । 'तिरश्चाभ्युक्षणं प्रोक्तं न्यञ्चता बोक्षणं मतम् । उत्तानेन तु हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतमिति गौतमीयतन्त्रवचनात् । तथा वाससां च पुंवाहन्यूनानामल्पानां धान्यवाससामद्भिः प्रक्षालनम् ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । धान्यानां बहुत्वं द्रोणाधिकत्वम् । वाससां बहुत्वं दशाधिकत्वम् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । बहूनां धान्यवाससां द्रोणाधिकधान्यानां राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धिः, चाण्डालादिस्पृष्टत्वात् ॥ ११८ ॥

[त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते । पर्युक्षणाद्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥ १ ॥]

(७) मणिरामः । बहूनां पुरुषभारधार्याधिकानां ॥ ११८ ॥

(८) गोविन्दराजः । अद्भिरिति । 'अनेकोद्धार्यो दारुशिले भूमिसमे' इति बोधायनी-याद्यनेकोद्धार्यस्य द्रव्यान्तरस्थालपशौचत्वदर्शनात्पुरुषाभावादूर्ध्वं धान्यवस्त्राणां चाण्डाला-दिरभ्युक्षणम् । तदल्पानां पुनरद्भिः प्रक्षालनं विधीयते ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ॥

शाकमूलफलानां तु धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । चर्मणां वर्ध्नाणां स्पृश्यानाम् । न तु श्वशृगालादिसमन्वितानां स्वभावाशुचीनाम् । उपानत्कवचादीनामपि तद्विकाराणामेष एव विधिः ।

अत्र हि प्रकरणे प्रकृत्याऽपि विकृतिर्गृह्यते, विकृत्याऽपि प्रकृतिः । तथा च दारवाणा-मित्यत्र दारूणामप्येवैव शुद्धिः । वसिष्ठेन हि दारवाणां शुद्धिमभिधाय "दार्वस्थिभूम्यानि" इत्युक्तम् । यदि च विकृत्या प्रकृतिर्न गृह्येत तदनुक्तशुद्धिविधानेन दारूणां कथमतिदेशः क्रियेत ? प्रकृतेस्तु विकारग्रहणं तद्बुद्ध्यनपायाद्युक्तमेव । वैदलानि वार्क्षत्वगादीनि ।

स्मृत्यन्तरे पक्षपवित्रचर्मचामरतृणवेत्रबालवल्कलानामेवैव शुद्धिर्विहिता । तत्र मयूरा-दिपक्षास्तन्निर्वृत्ताश्च छत्रपिच्छिकादयो गृह्यन्ते । 'पवित्रं' दर्भस्तेषां दर्भमयानां च वाससाम् । 'तृण'शब्देन तालपत्राण्युच्यन्ते । "तृणराजं विदुस्तालं" इति स्मर्यते । तत्रैकदेशात्समु-दायप्रतिपत्तिर्दत्तशब्दादिवद्देवदत्ते । 'बाला' गवाश्वाजानां न मनुष्याणाम्, तेषां च्युतानाम-स्पृश्यत्वात् । सर्वा चेयं द्रव्यान्तरोपघाते शुद्धिरुच्यते न स्वभावोपहतौ, चैलधान्ययोरेकरूपत्वा-च्छुद्धेः । शाकादेर्धान्यवद्वचनम् । यथा धान्यानामवघातादिसंस्कारान्तररहितानां धान्यावस्था-नामेव प्रोक्षणप्रक्षालने शुद्धिहेतुं तद्वच्छाकादीनामपि । तेनापक्वानामयं विधिः, पक्वानां तु सत्यपि शाकादिशब्दवाच्यत्वे शुद्धचन्तरमन्वेषणीयम् । यथोक्तं "सुवर्णवारिणा पावकज्वालया च" इत्यादि । आकरोदाहृतानां तु शाकादीनामुदशिवद्दक्षीरादीनां प्रोक्षणपर्यग्निकरणे विशेषतो हारीतेनाम्नाते । तथा शिम्बीधान्यानामुद्धर्षणदलनपेषणादि । एतच्च पादस्पृशो शङ्कानिवृत्त्यर्थम् । तदुक्तम् "आकराः शुचयः सर्वे" इति ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चैलवद्वहुत्वे प्रोक्षणमल्पत्वे क्षालनम् । वैदलानां वेत्तवंशादिविदलकृतानां शाकादीनामपि । चैलवदित्यनेनान्वयसंभवे धान्यवदिति वचनं धान्यानामत्यल्पानां बहुमलोपघाते त्याग इति स्मृत्यन्तरसिद्धस्यार्थस्य शाकादावपि प्राप्त्यर्थम् ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्पृश्यपशुचर्मणां वंशादिदलनिर्मितानां च वस्त्रवच्छुद्धिर्भवति । शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिः ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च चैलवद्वहुत्वे प्रोक्षणं, अल्पत्वे क्षालनं, वैदलानां वंशदलादिनिर्मितानाम् ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । चैलवत् वासोवत् । वैदलानां वेणुदलनिर्मितानाम् । शाकमूलफलानामपक्वानाम् ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । चर्मणां शुद्धिः चैलवद्वस्त्रवत् 'शुष्के चर्मणि वस्त्रव'दिति वचनात् । चर्म अजादिचर्मविकारश्चत्तचामरादीनामुपलक्षणम् । वैदलानां वेत्तवैणवादीनां धान्यवत्प्रोक्षणेन शुद्धिः ॥ ११९ ॥

(७) मणिरामः । चर्मणां स्पृश्यपशुचर्मणां । वैदलानां वंशादिदलनिर्मितानां च वस्त्रवत् । शाकादीनां धान्यवत् ॥ ११९ ॥

(८) गोविन्दराजः । चैलवदिति । स्पृश्यचर्मणां वैदलानां च तरुत्वगादिनिर्मितानां वस्त्रवच्छुद्धिः । शाकमूलफलानां पुनः पक्वापक्वभेदेनावहतानवहतशुद्धाशुद्धधान्यवच्छुद्धिरिष्यते । चैलवदिति सिद्धे धान्यवदित्यारम्भात् ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूपैः कुतपानामरिष्टकैः ॥

श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । ऊषाः काञ्चनमृदः । अरिष्टकादयः प्रसिद्धाः । स्नेहादिलेपे सत्युदकेन तेषां द्रव्याणां चूर्णसंमिश्रितेन लेपनोच्छेदनादि कर्तव्यम् । कौशेयः पट्टविशेषः । एवमंशुपट्टमाविकमूर्णमयं तस्य हारीतेनोक्तं "आदित्येनोर्णमियानाम्" । तन्नित्यं प्रध्रियमाणानामनेकपुरुषस्य शरीरसंस्पर्शे द्रष्टव्यम्, नान्यस्मिन्नुपघाते । वासस्त्वादेः तेषां केवलयोः प्रोक्षणप्रक्षालनयोः प्राप्तयोः स्नेहादिलेपापकर्षणे अतिदिश्येते । क्षौमग्रहणं शाणादीनामपि प्रदर्शनार्थम् ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऊषैरूपरमृद्भिर्जलेन चेत्यर्थात् । कुतपानां नेपालकम्बलानां अरिष्टकैर्विम्बसदृशैः । अंशूनां नाडीवादिवल्कलजातीनां सूत्राणां । पट्टानां कौशेयविशेषाणां च । क्षौमाणामतसीत्वग्जनितानाम् ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । कृमिकोशोद्भवस्य वस्त्रस्य, मेषादिलोमप्रभवस्य कम्बलादेः, ऊषैः, क्षारमृत्तिकाभिः, कुतपानां नेपालकम्बलानामरिष्टकैररिष्टचूर्णैः, अंशुपट्टानां पट्टशाटकानां बिल्वफलैः, क्षौमाणां दुकूलानां क्षुमावल्कलभवानां वस्त्राणां तु पिष्टश्वेतसर्षपप्रक्षालनाच्छुद्धिः ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । पट्टसूत्रातिरिक्तकृमिजः कौशेयः । आविको मेषलोमजः । ऊषैः क्षारमृत्तिकादिभिः । 'स्यादूषः क्षारमृत्तिके'त्युक्तेः । अरिष्टकैरिष्टफलचूर्णैः । कुतपो नेपाल-देशजः कम्बलः । अंशुपट्टः पट्टशाटी । क्षुमा वल्कलसूत्रं तज्जानाम् ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । कौशेयम् कृमिकोशप्रभवम् । आविकमूर्णमयम् । ऊषो मृत्तिका-विशेषः क्षारवान् । पर्वतसंवन्धिच्छागरोमनिर्मितकम्बलविशेषः कुतपः । अरिष्टः फेनकः । श्रीफलं बिल्वफलम् । अंशुपट्टो वल्कलविशेषः । अतसीसूत्रनिर्मितं क्षौमम् । मलगन्धादिदूषि-तानामियं शुद्धिः, न स्पर्शमात्रोपहतानाम् ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । 'कौशेयं कृमिकोशोत्थ'मित्यमरः । कौशेयं कोशप्रभवं । आविकं ऊर्णमयं । 'ऊषः स्यात्क्षारमृत्तिके'त्यमरः । क्षारमृत्तिकासहितोदकेन प्रक्षालनं शुद्धिः । कुतपं नेपालकम्बलं अरिष्टफलसहितोदकैः । अंशुपट्टं तन्तुकृतं तु श्रीफलैर्बिल्वफलोदकैः । क्षौमाणां अतसीवल्कलजानां अतसीसूत्रनिर्मितं क्षौमं गौरसर्पपसहितोदकैः शुध्यति ॥ १२० ॥

(७) मणिरामः । कौशेयाविकयोः कृमिकोशोद्भवस्य वस्त्रस्य मेषकेशलोमोद्भवस्वकंब-लादेः । ऊषैः क्षारमृत्तिकादिभिः । कुतपानां नेपालकंबलानां । अकंबलादेः । अरिष्टैः फेनिलैः । अंशुपट्टानां पट्टशाटकानां । श्रीफलैः बिल्वफलैः । क्षौमाणां अतसीवल्कलभवानां । गौरसर्पपैः श्वेतसर्पपिष्टैः ॥ १२० ॥

(८) गोविन्दराजः । कौशेयाविकयोरुषैरिति । कोशनिवृत्तस्य पट्टविशेषस्योर्णमयस्य च 'सोषै' (परोद) रुदकगोमूत्रैरिति (आचा. १८६) याज्ञवल्क्यादिदर्शनादुदकसहितैरुषैः मृद्वि-शेषैरेवं कुतपोनां माजलोमनिर्मितानां सोदकेनारिष्टकचूर्णेन । अंशुपट्टानां वल्कलतनुकृतानां पट्टानां सोदकबिल्वचूर्णेन क्षुमादिकृतानां सोदकेन गौरसर्पपचूर्णेन शुद्धिरिष्यते ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छृङ्खलशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ॥

शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । 'अस्थिशृङ्खलान्ताः' स्पृश्यानां गोमेषहस्त्यादीनाम्, न श्वगर्दभा-दीनाम् । गोमूत्रोदकयोर्विकल्पः । गौरसर्पपकल्पस्तु समुच्चीयते ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षौमवद्गौरसर्पपकल्कसहितजलैः शृङ्खलशृङ्गाणां सलेपबहूपघाते । अस्थिमयस्य हस्त्यादिदन्तमयस्य क्षौमवदेव गोमूत्रोदकाभ्यां प्रोक्षणेन ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । शृङ्खलस्य पशुशृङ्गाणां स्पृश्यपश्वस्थिभवस्य गजादिदन्तस्य च क्षौम-वत्पिष्टश्वेतसर्पपकल्केन गोमूत्रजलयोरन्यतरयुक्तेन शास्त्रविदा शुद्धिः कर्तव्या ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षौमवदिति गौरसर्पपातिदेशः । पुनः शृङ्खलग्रहणमत्यन्तोपहत्यर्थम् । शृङ्गं कृष्णसारादेः । अस्थि गोमेषयोः । दन्तो गजवराहयोर्नतु गर्दभादेरिति मेधातिथिः । विजानता अत्यन्तोपहतानुपहतभेदविदा ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । गौरसर्पपाणामतिदेशः । गोमूत्रेणोदकेन वेति शोधयमलविशेषापेक्षोऽयं विकल्पः ॥ १२१ ॥

(७) मणिरामः । क्षौमवत् गौरसर्षपपिष्टैः । गौमूत्रसहितैः उदकसहितैर्वा ॥१२१॥

(८) गोविन्दराजः । क्षौमवदिति । शङ्खशृङ्गास्पृश्यास्थिदन्तमयानां क्षौमवद्गौरसर्षप-
चूर्णेन सोदकेन गोमूत्रेण वा मलोपघातविशेषज्ञेन शुद्धिः कार्या ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ॥

मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥१२२॥

(१) मेधातिथिः । त्रीह्यादिकाण्डं सस्तरादिप्रयोजनं पलालम् । 'तृणानि' कुशशाद्वलादीनि । "ननु च दारवाणामित्यत्र विकृतिः प्रकृतेर्ग्राहिकेत्युक्तम्, किमर्थं काष्ठ-
ग्रहणम्?" । नियमार्थम् । प्रोक्षणमेव । तेन यावन्न महानुपघातस्तावदारुणि न तक्ष्यन्ते ।
चण्डालादिस्पर्शं तु "सोमसूर्याशुमारुतैः" इत्यनेनैव शुद्धिः । तद्विकाराणां तु दर्व्यादीनां
प्रक्षालनतक्षणे स्वल्पोपघातेऽन्नाद्युपयोगिनां कर्तव्ये । मार्जनं शोधनं गृहस्थ धूमांधकाराद्य-
पनयनम् । उपाञ्जनं सुधागोमयादिभिर्भूमिविलेपनम् । एतच्च शवचण्डालोदक्यादिभिर्भित्ति-
संस्पर्शं व्यापिति द्रष्टव्यम् । अव्याप्तौ तु तावन्मात्रस्यैव । ऊर्ध्वं शवोपघाते तु भित्तितक्षणं
सूर्यरश्म्यनुप्रवेशोऽग्निज्वालाभिमर्शनम् । क्वचित्पुनर्नवीकरणमित्यादिपठितं संमार्जनम् ।
मृन्मयानां पुनःपाकः । पर्यग्निकरणमुच्छिष्टपुरुषसंस्पर्शादौ द्रष्टव्यम् । पुनःपाकस्तु
मद्यभाण्डादिसंस्पर्शं द्रष्टव्यः, साक्षात्स्पर्शं तु त्याग एव । यथोक्तं (वासिष्ठे अ. ३. ५९)
"मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम्" ॥
इति ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृणानि काष्ठानि बहूनि पलालस्य तृणत्वेऽपि पृथग्रहणं
तल्लग्नधान्यानामपि तावन्मात्रेण शुद्धिरित्येतदर्थम् । मार्जनम् संमार्जन्या मृद्भागकाष्ठ-
भागयोः । उपाञ्जनं सजातीयेन लेपो भूमिकुड्यभागयोः । पुनःपाकेन चण्डालादि-
मद्यादिस्पर्शव्यतिरिक्तलेपोपघाते मृन्मयं स्थात्यादि ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । तृणकाष्ठपलालं च चाण्डालादिस्पर्शदूषितं प्रोक्षणेन शुध्यति ।
तृणपलालसाहचर्यादिदमिन्धनादिकाष्ठविषयम् । (५।१५) 'दारवाणां च तक्षणम्' इति
निर्मितदारुमयगृहपात्रविषयम् । गृहमुदक्या निवासादिदूषितं मार्जनगोमयाद्युपलेपनेन
मृन्मयभाण्डमुच्छिष्टादिस्पर्शदूषितं पुनःपाकेन शुध्यति ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । तृणं काष्ठानि शुध्यन्तीत्यनुषज्यते । मार्जनं संमार्जन्या ॥१२२॥

(५) नन्दनः । उपाञ्जनमुपलेपनम् ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पलालं सस्यलग्नधान्यं वेश्म मार्जनगोमयादिलिम्पनैः । मृन्मयं
पुनःपाकेन शुध्यति ॥ १२२ ॥

(७) मणिरामः । उपाञ्जनैः लेपनैः ॥ १२२-१२३ ॥

(८) गोविन्दराजः । प्रोक्षणादिति । मार्जनोल्लेखनैर्वेश्मेति । तृणकाष्ठं पलालं
चाण्डालादिस्पर्शनाद्दुष्टमभ्युक्षणाच्छुध्यति । तृणपलालसाहचर्याद्गृहभाण्डव्यतिरिक्तमत्र

काष्ठं विज्ञेयम् । तत्र तूदकं दारवाणां चाभ्युक्षणमित्यादि गृहं च शबोदक्याप्रवेशादिस्पृष्ट-
मित्यादिमलापकर्षणे चण्डालादिप्रवेशाद्दुष्टं शवादिदुष्टं सुधागोमयादिनोपलेपनेन यन्मृन्मयं
चोच्छिष्टाद्युपहतद्रव्यादिस्पृष्टं पुनःपाकेन पाकशब्दान्नवत्वापादनेनात्यंतोपहतस्य पुनस्त्याग
एव । यथा च वसिष्ठः— 'मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुध्येत
पुनःपाकेन मृन्मयं' इति ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ॥

संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । मद्यादिभिस्तु संस्पृष्टं मृन्मयपात्रं पुनःपाकेनापि न शुध्यति ।
ष्ठीवनं श्लेष्मा, पूयं शोणितविकारः ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । मद्यादिषड्भिः स्पृष्टं मृन्मयं पुनःपाकेऽपि न शुध्यतीत्याह
मद्यैरिति ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । मद्याद्यैरुपस्पृष्टं मृन्मयं पुनःपाकेन न शुध्यति ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ॥

गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । सेको गोमूत्रेणोदकेन वा । क्षीरेणापि क्वचिदुक्तः । उल्लेखनं
शस्त्रादिना लेखाकरणं आवापनं च । "आवापनं च भूमेरिति" गौतमनिर्देशादेव (अ. १ सू.
३१) । पञ्चभिरिति पुनर्वचनमभिघातापेक्षया व्यस्तसमस्तप्रयोगदर्शनार्थम् । तत्र
संमार्जनशून्यं शोधनमुपाञ्जनं त्वक्कररहितायाः केवलमपि । मूत्रपुरीषादिलेपे उल्लेखन-
संमार्जने । सेको नदीपुलिनवनादिषु । गवां परिवासः एकाहमात्रं गोष्ठीकरणम् । एतच्च
श्मशानभुवः सर्वं कर्तव्यम् । आवपनं तु यत्र पूर्वमस्थिकपालिकाद्यस्ति तदुद्धृत्य
मृदामन्यासां प्रक्षेपः, यत्र चान्तर्हितमेवमादिकालान्तरेणाशङ्क्यमानसद्भावमित्या-
दिवत्तत्रापि ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सेकेन जलस्य । उल्लेखनेन कुदालादिनोद्भरणेन ।
परिवासेन सर्वतो व्याप्य शयनेन पञ्चभिरुपघातात्पवहुत्वापेक्षया व्यस्तैः समस्तैश्च ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । अवकरशोधनेन गोमयाद्युपलेपनेन गोमूत्रोदकादिसेकेन खात्वा
कतिपयमृदपनयनेन गवामहोरात्रनिवासेन पञ्चभिरेकैकशो भूमिः शुध्यति । एषां चोच्छि-
ष्टमूत्रपुरीषचण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पावगन्तव्यौ ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च संमार्जनेनेति । संमार्जनं संमार्जन्या अञ्जनं गोमयेन
सेको जलेन उल्लेखनं खात्वा पुनर्मृत्पूरणं गवामहोरात्रवासेन पञ्चभिरिति । एषां
चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पो ज्ञेयौ ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । मार्जनेनाञ्जनेन चाशुचित्वतारतम्यवशेन समस्तैर्व्यस्तैर्वा शुद्धिः ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमिशुद्धिमाह संमार्जनेति । संमार्जनादिना पञ्चधा पञ्च-
प्रकारेण भूमिः शुध्यति । पांसुतृणादीनां प्रोत्सारणं मार्जनं उपाञ्जनेन गोमयादिलेपेन ।
सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयवारिभिः । उल्लेखनेन तक्षणेन भूमिः शुध्यति । गृहं मार्जनानु-
लेपनाभ्यां शुध्यति । गृहस्य पृथग्ग्रहणं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसे निमित्तम् ॥ १२४ ॥

(७) मणिरामः । पञ्चधा भूमिशुद्धिमाह सम्मार्जनेति । तथा च अमेध्या दुष्टा-
न्विता च भूमिः संमार्जनादिपञ्चभिः शुद्ध्यति । मलिना तु उल्लेखनसंमार्जनलेपनैस्त्रिभिः
शुद्ध्यति । एतद्व्यतिरिक्ता संमार्जनलेपनाभ्यामिति लाघवगौरवाभ्यां भूमिशुद्धिर्ज्ञेयेत्यर्थः ।
'यत्र प्रसूते नारी म्रियते दह्यतेऽपि वा । चांडालाऽध्युषितं यत्र यत्र विष्टादिसंगतिः । साऽमेध्या'
श्वशूकरखरोष्ट्रादिसंपृष्टा । दुष्टा अंगारतुषकेशाऽस्थिभस्माद्यैर्युक्ता मलिना ॥ १२४ ॥

(८) गोविन्दराजः । संमार्जनेन दाहेनेति । अवकरशोधनगोमधूपलेपनक्षीरो-
दकगोमूत्रादिसेकतक्षणैरहोरात्रमात्रं बहुगोनिवासेन चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचण्डालशमशाना-
द्युपघातविशेषापेक्षया व्यस्तैः समस्तैर्वा पञ्चभिर्भूमिः शुध्यति ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् ॥

दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र जग्धिपदाल्लिङ्गादन्नविषयताऽस्य श्लोकस्य प्रतीयते ।
पक्षिभिस्तु शुकादिभिरन्यैश्च भक्ष्यैर्यदन्नमुच्छिष्टीकृतम्, न तु काककङ्कगृध्रादिभिः ।
तत्र हि महत्प्रायश्चित्तं "पतत्रिणाऽवलीढमिति" तदेतदुक्तं प्रकृत्याशुद्धे भोजनप्रायश्चित्तम् ।
तथा च तत्तुल्यप्रायश्चित्तस्य गवाघ्रातस्य नैव शुद्धिः । भवेदयं न्यायः । तथापि स्मृत्य-
न्तरसमाचारावन्वेष्यौ । एवं हि शिष्टा दशशरावाधिकं काकादिकव्यादोपहतं तावन्मात्र-
मपनीयावशिष्टं शोधयित्वोपयुञ्जते, अर्वाक्तु तत् त्यजन्ति । अत्राप्यवस्थाविशेषोऽपेक्ष्यः ।
स्मृत्यन्तरे तु कृष्णशकुनिनोपहतमपि निषिद्धम् । अवधूतं मुखश्वासेनावकम्पितम् । वाससो
वा यस्योपरि रजोऽपनयनार्थमुत्क्षेपणादि क्रियते आकाशदेशात् । अवक्षुतं यस्योपरि क्षुतं
तदेव । केशा मनुष्याणां च्युताः । कीटाः क्षुद्रजन्तवः कृमयः । ते केचिद्गृहस्वेदान्नाद्यजास्ते
जीवन्तो मक्षिकावन्नोपघ्नन्ति । मृतानां तेषामन्नसंस्पर्शे शुद्धिरियम् । ये त्वमेध्यसंसर्ग-
जास्ते विड्भोजिनश्च, तेषां जीवतामपि । गौतमीयं (अ. १७ सू. ८-९) "नित्यमभोज्यम्,
केशकीटावपन्नमिति" । बहुव्याप्तौ सर्वत्र त्यागः । महाराशावशुचिकीटसंसर्गोऽपि स्वल्पे
तन्मात्रापनयनमवशिष्टस्य शुद्धिः । काञ्चनरजतदर्भमणीनां वारिसहितानां स्पर्शः स्मृत्यन्तरे
केशाद्यवपन्ने विहितः अवज्वलनमपि क्वचित् । ये तु भूमेरिमां शुद्धिमाहुस्तैः स्मृत्यन्तर-
समाचारो वाक्यार्थश्च त्यक्तः ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पक्वान्नफलादिविषये आह पक्षिजग्धमिति । पक्षिस्पर्शोऽत्र
ग्राह्यः । अवधूतं वस्त्राञ्चलपादादिवातेन । अवक्षुतं यदुपरि क्षुतं कृतं । केशैः, कीटैश्च

मृतैश्च तत्क्षणपतितैः । एतादृशमोदनाद्यन्नं मृत्रक्षेपेणाल्पमृत्रक्षेपणानन्तरं च प्रोक्षणेन स्मृत्यन्तरप्रसिद्धेन शुध्यति ॥ १२५ ॥

(३) कुल्लूकः । भक्ष्यपक्षिभिर्नतु काकगृध्रादिभिः कश्चिद्भागो यस्य भक्षितः, गवा यस्याघ्राणं कृतं, पदा चावधूतमुपरि कृतक्षुतं, केशकीटदूषितं जग्धशब्दलिङ्गादन्नमल्पं मृत्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च पक्षीति । अवधूतं पादेन धूतितं । अवक्षुतं यदुपरि क्षुतं कृतं केशकीटोपपन्नं च 'पदा स्पृष्टं च कामत' इत्यादि स्नातकप्रकरणे धूतमनूद्य शुद्धि-विधानादेतदकरण एव प्रायश्चित्तमिति । मृदित्युपलक्षणम्, जलस्य तेनोभाभ्यां शुद्धिः ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । पक्वान्नशुद्धिमाह पक्षिजग्धमिति । अवधूतं मार्जनरजः कुक्कुट-पक्षपादादिदूषितम् । अवाङ्मुखेन यस्योपरि क्षवथुः कृतस्तदवक्षुतम् ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पक्षिभिर्जग्धमन्नं गवाघ्रातं गोनिःश्वासोपहतमन्नं अवधूतं अवधूतान्नं यस्योपरि क्षुतं कृतं केशकीटैर्दूषितं एतादृशमन्नं मृत्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

(७) मणिरामः । जग्धं भक्षितं । अवधूतं पादेन । मृत्रक्षेपेण जग्धादिद्रव्य-समुदायात् तावद् द्रव्यं दूरीकृत्य शेषं मृद्वारिप्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

(८) गोविन्दराजः । पक्षिजग्धमिति । अत्यन्तानुपहतं शुकादिपक्ष्युच्छिष्टं गोघ्रातं अवधूतं कृतवासोपरि अवधूननं ता(तस्यो)परि क्षुवथुकं केशापहतममेध्यसंसर्पिकृम्युपहतं जग्धशब्दादन्नं मृत्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

यावन्नापैत्यमेध्यावताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ॥

तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । अमेध्यमस्पृश्यम् । "तच्च यद्यस्य यदभोज्यं तस्य तदशुद्धिहेतुः, यथा ब्राह्मणस्य सुरामद्ये, न शूद्रस्य" । तदयुक्तम् । प्राग्घोमाद्वीष्यभोज्यानि, न च तान्यस्पृश्यानि । सुरामद्यादीनि तु स्पर्शोपि प्रतिषिद्धानि ब्राह्मणस्य । तस्माद्यस्यैव स्पर्शः प्रतिषिद्धः स एव संसर्गेणाशुचित्वमापादयति । अतो नायं नियमः—यदभोज्यं तदस्पृश्यं यत्त्वस्पृश्यं तदभोज्यमिति । आवतं लिप्तं उपदिग्धम् । तावदित्यावृत्तिविधानम् । मृद्वारि, सति प्रयोजने । प्रयोजनं च गन्धलेपापनयनम् । शुष्कामेध्यसंसर्गं चिरवृत्तसंसर्गं वा कालेनापि तयोर्गन्धलेपयोः सकृदेव मृद्वारिभ्यां मार्जनम् । "ननु मृद्वार्यादीनां शुद्धयर्थमादानं दृष्टार्थं तत्रैव शुद्धयत्यपगते लेप इति किमनेन यावन्नापैतीति" । उच्यते । 'एकालिङ्गे' (५.१३६) इत्यादौ संख्यातिक्रमार्थम् । उक्तया संख्यया अशक्ये पुरीषादिलेपापनये अनादृत्याश्रुतसंख्याऽधिकाऽप्याश्रयणीया । संख्यावचनं तु ततो न्यूनतयाऽप्यपनीते लेपे संख्या पूरयितव्येत्येवमर्थम् । मृद्वारिग्रहणं शुद्धिसाधनोपलक्षणार्थं वर्णयन्ति । अतश्च यद्यप्यशुद्धिहेतुभूतं वारिणा क्षालित-मपि क्षारादिना संमाष्टव्यमन्यथा न दृश्येत । अपैति अपगच्छति निवर्तत इति यावत् । तत्कृतः—तेनामेध्येन कृतः । अतश्च कस्तूरिकादिवस्त्रगन्धो नापैति नैव दुष्येत । कुक्कु-

माद्यनुलिप्तस्य यः प्रदेशोऽमेध्येन संसृज्येतत्र कुंकुमाद्यप्यपमार्जितव्यम् । अमेध्यसंसृष्टं हि तत् । तत्रापि गन्धलेपग्रहणात् । यदि गात्ररूढः कुंकुमवर्णो निघृष्यमाणो न शक्येतापक्रष्टं स्यादेव शुद्धिः ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यावन्नापैतीत्युक्तानुक्तशुद्धिकपक्वान्नद्रव्येतरद्रव्यवद्देहगत-
लेपतदुपघातविषया शुद्धिः ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । विष्ठादिलिप्ताद्द्रव्याद्यावत्तत्संबन्धिनौ गन्धलेपो तिष्ठतस्तावद्-
द्रव्यमुद्धृत्य मृद्वारि प्रक्षिप्य ग्रहीतव्यम् । यत्र वसामज्जादौ मृदा शुद्धिस्तत्र मृत्सहितं जल-
ग्रहणं कर्तव्यम् । यत्र कर्णमलादौ जलेनैव शुद्धिस्तत्र जलमात्रमित्यवगन्तव्यम् ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच, अमेध्याक्ताद्द्रव्यात् । तत्कृतोऽमेध्यकृतः । आदेय-
मासमन्ताद्देयं कर्तव्यासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । तत्कृतोऽमेध्यकृतः । मृद्ग्रहणं गन्धलेपक्षयकारणां द्रव्याणामुप-
लक्षणार्थम् ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमेध्याक्तः अमेध्याः शरीरजा मलाः, वसाशुक्रादयः, एतैर्वसादिभिः
अक्तः लिप्तः सन्कृतो गन्धलेपो यावन्नापैति तावन्मृद्वारि देयं स्यात् मृदा तोयेन शुद्धिः कर्तव्या
सर्वासु द्रव्यजातिषु ॥ १२६ ॥

(७) मणिरामः । तत्कृतः अमेध्यलेपकृतः ॥ १२६ ॥

(८) गोविन्दराजः । यावन्नापैत्यमेध्याक्तगन्धलेपश्च तत्कृतः इति ॥ पुरीषादि-
दग्धाद्यावत्पुरीषादिसंबन्धिनौ गन्धलेपो नापगच्छतः तावत्सर्वद्रव्यशुद्धिषु मृद्वारि प्रग्रहीत-
व्यमित्यमेध्याक्तद्रव्योक्तानुक्तशुद्धिविशेषविषयमिदम् ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ॥

अदृष्टमद्भिर्निर्णयितं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । पवित्राणि शुद्धानि । देवग्रहणं स्तुतिः । ब्राह्मणग्रहणमपि
समाचारात्सर्ववर्णार्थम् । अदृष्टं यदनारक्षप्रदेशस्थं द्रव्यमदृष्टश्वकाकादिसंसर्गम् । न च
सद्भावमात्रेण तदुपघाताशङ्का निष्प्रमाणिका कर्तव्या । एवं महानसादौ सूदादिभिरकृत-
शौचैर्व्यवहरद्भिः पाक्यं द्रव्यमदृष्टं परिभोक्तुं न दुष्यति । न पुनरियमाशङ्का कर्तव्या-
उत्तरकाले तत्प्रागविज्ञातोपघाते न दोषः । तथाहि “अमत्यैतानि च” (५।२०) इत्यादि
विरुध्येत । एवं तावद्यत्र दोषसम्बन्धो न केनचित्प्रमाणेनावगम्येत तच्छुद्धम् । यत्र
पुनरसत्यपि निश्चायके प्रमाणे कुतर्केण सम्भाव्यते तत्राद्भिर्निर्णयितव्यम् । यथा समान-
देशस्थालीपिठरादि श्वकाकादिभिरुपहन्यमानं दृष्टम्, अन्यददृष्टमप्यद्भिर्निर्णयितव्यम् ।
तथैवंविधमेव वाचा प्रशंसनीयम् । ‘शुद्धमेतदस्त्विति’ शिष्टा वाचयितव्याः । ब्राह्मण-
वचनाच्छुद्धिर्भवतीत्याहुः । प्रशस्यत इति लङ्यं विधौ द्रष्टव्यः ।

ये त्वाहुः “दृष्टोपघातं यत्तस्य व्यवहर्त्ता साक्षाच्छुद्धौ क्रियमाणायामदृष्टायां शिष्टा-
श्चेदाहुः ‘कृतमस्य शौचमिति’, तत्र प्रत्येतव्यमिति वाक्प्रशस्तस्यार्थः” तदयुक्तम् । आप्त-
वचनस्य सर्वत्रैवाप्रामाण्यस्यानङ्गीकृतत्वात्पौनस्त्यप्रसङ्गः ।

अन्ये त्वद्भिर्निर्णयितमिति दृष्टान्ततया व्याख्यानयन्ति । ‘अदृष्टवाक्प्रशस्ते’ विधीयते ।
‘यथाऽद्भिर्निर्णयितं शुद्धमेवमदृष्टं वाक्प्रशस्तं विधीयते’ ।

“ननु च यद्यदृष्टदोषं प्रत्यक्षानुमानागमैः शुद्धं तत्कथं ‘संवत्सरस्यैकमपीति’ (५।२१) ।

भक्ष्यविषयं तत् । स्पृश्यविषया शुद्धिरियम् । गुरुलघुतया वा, आपदनापद्धेदेन वा
व्यवस्था ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदृष्टं वस्तु उपघाते सत्यप्यज्ञातोपघातं एतच्च पश्चादप्य-
ज्ञाने, ज्ञाने तु यथोक्तं प्रायश्चित्तं कार्यम् । भक्ष्यादन्यतमभक्षणे तु ‘संवत्सरस्यैकमपीत्युक्त-
त्वात्कुच्छं ब्राह्मणेन कर्तव्यमेव । अद्भिर्निर्णयितं क्षालितमल्पदोषत्वे । वाचा प्रशस्यते
ब्राह्मणैः शुद्धमस्त्वित्युच्यते । वाचेति मनसा तादृशाशंसायामपि दोषानपगम उक्तः एत-
दप्यल्पोपघाते । ब्राह्मणानामित्युक्तत्वादन्वेषां द्रव्यस्य यथोक्तमेव शोधनम् । तदभावे
चाज्ञानेऽपि पूर्ण एव दोषः ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । केनापि प्रकारेणादृष्टोपघातहेतुसंसर्गमदृष्टं संजातोपघातशङ्कायां
जलेन प्रक्षालितम् । तदाह हारीतः ‘यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धं भवति ।’ उपघात-
शङ्कायामेव ‘पवित्रं भवत्विति ब्राह्मणवाचा यत्प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवा
ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च त्रीणीति । ब्राह्मणानामित्यन्येषामपि । अदृष्टं ‘केनापि
मानेनानिर्णीतं संदिग्धं च निर्णयितं क्षालितं यन्मीमांस्यं स्यात्तदद्भिः स्पर्शाच्छुध्यतीति
हारीतोक्तेः । वाचा विप्रस्यैव ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्वद्रव्यसाधारणाच्छुद्धिहेतूनाह त्रीणि देवा इति । ब्राह्मण-
ग्रहणमन्येषामप्युपलक्षणम् । अदृष्टमज्ञातोपघातम् । अल्पदोषशङ्काविषयोऽयं श्लोकः ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्पृष्ट्वा स्पृष्टमदृष्टं यद्वस्तु अद्भिर्यन्निर्णयितं प्रक्षालितं शुद्धि-
सन्देहे यद्वाचा शुद्धं भवतीति ब्राह्मणवचनेन प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

(७) मणिरामः । अदृष्टं यत्राऽशुचिहेतुसंबन्धो न दृश्यते तत् अदृष्टं । अद्भिर्निर्णयितं
यच्चाऽशुचिहेतुसंसर्गसंशये न अद्भिः प्रक्षालितं अशुचिहेतुसंसर्गशंकायामेव ‘पवित्रं भवत्विति
ब्राह्मणवाचा प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवाः ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

(८) गोविन्दराजः । त्रीणीति । यस्य प्रमाणेन केनचिद्रूपपघातसंबन्धो न परिच्छिन्नो
यच्च सङ्घातोपघातशङ्कयं तदद्भिर्निर्णयितं । यथा हारीतः— ‘यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तदद्भिः
संस्पर्शाच्छुचि भवतीति । यच्चोपघातसन्देहे सति प्रक्षालनासहं ‘शुद्धमेतद्भवत्विति ब्राह्मणस्य
वाचा प्रशस्यते । तानि त्रीणि पवित्राणि ब्राह्मणानां देवाः कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ॥

अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । भूमिग्रहणमुपलक्षणार्थम् । तेन प्रणालिकागता अपि शुच्य एव । स्वभावशुचयो ह्यापो भूमिगता आकाशगताश्च । किन्तु भूमेरमेध्यद्रव्यसंसर्गात्किञ्चिदशुचित्वम् । तत्र गतानां सर्गतोऽशुचित्वप्राप्तौ यावतीनां च शुद्धिस्तदर्थमिदं वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेदिति । वैतृष्ण्यं पिपासाविच्छेदः । परिमाणोपलक्षणार्थं चैतत् । तत्र चिरन्तनैर्व्याख्यातं लिङ्गदर्शनेन “यथा वै गोः सास्नाम्भसि प्लाव्येति” । यत्र गोः सास्नादि मज्जति तृष्णा च विच्छिद्यते तावत्यः । यास्तु मेध्यभूमिगतास्ताः स्वल्पा अपि शुद्धाः ।

कथं पुनरमेध्यव्याप्तिरवसेया । गन्धवर्णरसान्विताः । ‘अमेध्येनेति’ तृतीयान्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । अमेध्यसम्बन्धिभिर्गन्धादिभिर्गन्धान्विताः संयुक्ता भवन्ति, ततो व्याप्ता उच्यन्ते । एवं च कृत्वा पानीयं तडागादिषु यद्येकस्मिन्प्रदेशेऽमेध्यं दृश्यते, प्रदेशान्तरे, गन्धादिशून्यं शुद्ध्येदेव ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूमिगताः नतु शिलाकाष्ठादिस्थाः तासां दिनान्तरावस्थानेनाशुद्धत्वात् गोरेकस्याः पाने वैतृष्ण्यं जलेच्छाविगमः । अव्याप्ता अवेष्टिताः सर्वतो बहिर्गन्धादयो यत्र देशे जलस्य यादृशास्तैरन्विताः ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्परिमाणास्वप्सु गोः पिपासाविच्छेदो भवति ता आपो गन्धवर्णरसशालिन्यः सत्यः यद्यमेध्यलिप्ता न भवन्ति तदा विशुद्धभूमिगता विशुद्धाः स्युः । भूमिगता इति विशुद्धभूमिसंबन्धप्रदर्शनाय न त्वन्तरिक्षगतानां निवृत्त्यर्थम् ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । आप इति स्वाभाविकगन्धादियुक्ताः अमेध्यमूत्रादिनाऽनुपहृताः यावत्यो गोर्वैतृष्ण्यकारिण्यं अन्याश्च । उद्धताश्चापि शुध्यन्ति शुद्धैः पात्रैः समुद्धताः । एकरात्रोषिता आपस्त्याज्याः शुद्धा अपि स्वयमित्यतोऽन्तरिक्षगा अपि ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । भूमिगता इति विशेषणान्तु वर्षाधारावस्थानां शुद्धिर्गम्यते । अमेध्येनाशुद्धेन द्रव्येणाव्याप्ता असंबद्धाः । गन्धवर्णरसान्विताः चेदित्यत्रापि संबध्यते ॥ १२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमिस्था आपो यासु गोर्वैतृष्ण्यं भवेत् चाण्डालादिभिरसंस्पृष्टाश्चेत् ॥ १२८ ॥

(८) गोविन्दराजः । आप इति यत्परिमाणास्वप्सु गोस्तृष्णाच्छेदो भवति ता आपो गन्धवर्णरसान्वितत्वेन अमेध्येन यदि व्याप्ता न भवन्ति तदा भूम्यादिगताः शुद्धा अप्रयत-प्रसङ्गासु चित्ताशंकायामिदं भूमिग्रहणं नान्तरिक्षापां शुद्धत्वव्यावृत्त्यर्थम् ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ॥

ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । कारवः शिल्पिनः सूदरञ्जकतन्तुवायादयस्तेषां हस्तो नित्यं शुद्धः । अतश्च जननमरणाशौचयोस्तत्स्पृश्यताऽस्ति । न तु पुरीषादिलेपे दृश्यमाने शुद्धता विज्ञेया ।

यदुक्तं “सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः” इति तदेवेदम् । अत्र चापौनरुक्त्यम् । मनुशास्त्रेऽस्यानु-
पदेशात् । विषयान्तरमप्यस्ति । “अनाचान्तास्तन्तुवाया वयन्ति” तन्तूनां स्तम्भविश्लेषणार्थं
यत्पिष्टमण्डादि दीयते, तद्भाजनं च यत्र तत्र भूमौ निधीयते, तावती याऽशुद्धिः साऽनेन निव-
र्त्यते न तु स्वभावाशुचीनां स्पर्शस्तैस्तस्य शुद्धता विज्ञेया, न हि तेषां तत्कारकमविहितम् ।
एवं चैवैवोपपत्तिरिति म्लेच्छसंसृष्टानामपि नाशुचित्वम्, तत्र शङ्खवचनात्प्रोक्षणाभ्युक्षणे ।
तत्र हि पठितम् “कारुहस्तः शुचिस्तथाऽऽकरद्रव्याणीति” ।

पण्यं व्यवहाराय यद्द्रव्यं रूपकैर्विक्रीयतेऽन्येन वा द्रव्येण मीयते, तत्पण्यं ; तच्च प्रसारित-
मापणभूमौ शुचि । अनेकक्रेतुसंस्पर्शाद्भूमौ च लेपनादिरहितायां स्थापनाद्युपघातस्तेन नाशुचि
पुनःपुनर्दृश्यमानोपघातम् । प्रसारितग्रहणाद्गृहावस्थितस्य बुद्धौ स्थितेऽपि पण्ये न शुद्धिः ।
सिद्धान्तानां तु सक्त्वपूपादीनां सत्यपि शुचित्वेऽभक्ष्यता शङ्खवचनादेव “आपणीयान्यभक्ष्या-
णीति” । ब्रह्मचारिगतमस्मादेव साहचर्यात्पूर्वोक्ता शुद्धिरीदृश उपघाते विज्ञायते । भिक्षमाणस्य
रथ्याक्रमणमशुचिदर्शनं क्षवथुनिष्ठीवनमनेकहस्तसंपातो भिक्षाया इत्याद्युपघातः संभाव्यते ।
‘मेध्यतया’ शुचित्वमाह ॥ १२९ ॥

(२) **सर्वज्ञनारायणः** । शुद्धः संभाव्यमानदोषतया न दुष्टः किं तु निश्चितदोषतयैव ।
पण्यं विक्रेयं प्रसारितमापणे नतु तद् गृहस्थम् । ब्रह्मचारिपदं भिक्षावृत्तिपरं तद्गतं भैक्ष्यं
रथ्याक्रमणकालसंभावितदोषेणादुष्टम् ॥ १२९ ॥

(३) **कुल्लूकः** । कारोर्मालाकारादेर्देवब्राह्मणाद्यर्थेऽपि माल्यादिग्रथने द्रव्यप्रयोजनाद्य-
पेक्षया शुद्धिविशेषाकरणेऽपि स्वभावादेव हस्तः सर्वदा शुद्धः । तथा जननमरणयोरपि स्वव्या-
पारे शुद्धः । ‘नत्वशौचं कारूणां कारुकर्मणी’ति वचनात् । तथा यद्विक्रेतव्यं पण्यवीथिकायां
प्रसारितं ‘नापणनीयमन्नमशनीयादि’ति शङ्खवचनात् सिद्धान्तव्यतिरिक्तं तदनेकक्रेतुकरस्पर्शेऽपि
शुद्धमेव । तथा च ब्रह्मचार्यादिगतभैक्ष्यमनाचान्तस्त्रीदत्तमपि रथ्यादिक्रमणेऽपि सर्वदा
शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

(४) **राघवानन्दः** । कारुहस्त इति । ‘कारुर्मालाकारादिः । तद्वस्तस्थं शुद्धमिति । ‘न
त्वशौचं कारूणां कारुकर्मणी’ति वचनात् । जननाद्याशौचाभावः । प्रसारितं वीथिकायां
विक्रयार्थम् ॥ १२९ ॥

(५) **नन्दनः** । अशुद्ध्यपवादमाह नित्यमिति । नित्यमाशौचेऽपि । कारवो रजकादयः ।
हस्तग्रहणाद्भ्रान्तरसंसृष्टानामशुचित्वम् । पण्ये यत्प्रसारितं तच्चण्डालादिसंसृष्टमपि शुद्धम् ।
अशुद्धदेशाक्रमणादुपघातेऽपि ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं च नित्यमनापद्यपि मेध्यम् ॥ १२९ ॥

(६) **रामचन्द्रः** । कारुहस्तः कारवो रजकचेलधावकसूपकाराद्याः तेषां हस्तः शुचिः
शुचित्वं तत्साध्ये कर्मणि वस्त्रधावनादौ सूतकादिसंभवेऽपि पण्यं पण्यार्हं विक्रेयं वस्त्रादि तत्
शुद्धं । भिक्षाणां समूहो भैक्षं ब्रह्मचारिगतं प्राप्तं रथ्याक्रमणादिनापि न दुष्यति ॥ १२९ ॥

(७) **मणिरामः** । कारुहस्तः मालाकारादिहस्तः । नित्यं शुद्धः जननमरणयोरपि स्वकार्ये
शुद्धः । ‘न त्वशौचं कारूणां कारुकर्मणी’ति वचनात् । पण्यं यच्च प्रसारितं अनेकक्रेतुहस्त-

स्पर्शेऽपि शुद्धमेव । ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यं अनाचांतस्त्रीदत्तमपि रथ्यादिक्रमणेऽपि पवित्रं इति स्थितिः शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

(८) गोविन्दराजः । नित्यमिति । कारोः सूपचारादेर्देवब्राह्मणाद्यर्थेऽपि पाके द्रव्य-प्रयोजनापेक्षशुद्धिविशेषाकरणेऽपि सुशुद्धचैव हस्तः शुद्धः; तथा अशौचेऽपि 'कारुणां कारुर्म'-णी'ति विष्णुस्मरणात् । स्वव्यापारमात्रे हस्तः शुद्धः हस्तप्रधानप्रायत्वाच्च तत्कर्मणां हस्तग्रह-णम् । तथा यद्विक्रेतव्यमापणभूमौ वितत्य स्थापितं तदनेककृतृसामान्यकरपरिघटितमपि 'नापणीयमन्नमशनीयादिति शङ्खस्मरणात् । सिद्धान्नवर्जं शुचिं तथा ब्रह्मचर्यादिगतं भैक्ष्यमना-चान्तस्त्रीप्रदानशुचिं रथ्याक्रमणादिनापि नित्यं शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

नित्यमास्यं शुचिं स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ॥

प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वस्त्रीणामास्यं शुचिं परिचुम्बनादौ । "स्त्रियश्च रतिसंसर्ग" इति स्मृत्यन्तरम् । रतिसम्बन्धिनीष्वेव न मातृभगिन्यादिषु । अत्र उच्छिष्टप्रतिषेधोऽयं न मन्तव्यो योषितः । सत्यपि रतिसम्बन्धित्वे "नाशनीयाद्भार्यया सार्धम्" (४।४३) इति वचनान्न भुज्येतेति सिद्धं चतुर्थाध्याये । नित्यग्रहणान्न संयोगवेलायामेव, किं तर्हि ? तदर्थायामेव प्रवृत्तौ । शकुनिः फलपातने । पक्षिमात्रवचनेऽपि शकुनिशब्दः काककङ्कादीनां विट्भुजां नेष्यते समाचारात् । पातनग्रहणाद्वृक्षस्थस्य फलस्यायं विधिः । प्रस्रवे दुह्यमानाया गोर्वत्सः पयः-प्रक्षरणार्थं स्तनेषु संश्लिष्यते अथवोच्यते "गावो मेध्या मुखादृते" इति वचनादशुचित्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं वचनमतस्तदीयास्यसंस्पर्शस्य । न तु श्वा शुचिः । मृगं तु यदाऽऽखेटकादौ गृह्णाति हन्तुं तदा शुचिः ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आस्यं रतिकाले चुम्बनादौ । फलस्य पातने पातनार्थं चञ्च्वा वृन्ताघाते न तु फलघातेऽपि । प्रस्रवे प्रस्रवार्थं स्तनोच्छिष्टतायां । मृगग्रहणे दन्तैरुच्छिष्टी-कृत्य जीवतो ग्रहणे ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वदा स्त्रीणां मुखं शुचिं, तथा काकादिपक्षिणां चञ्चूपघातपतितं फलं शुचिं, वत्समुखं च दोहसमये क्षीरप्रक्षरणे शुचिं, श्वा च यदा मृगादीन्हन्तुं गृह्णाति तदा तत्र व्यापारे शुचिः स्यात् ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । किं च नित्यमास्यमिति । चुम्बनादौ आस्यमुपलक्षणम् । 'सोमः शौचं ददौ स्त्रीणां गन्धर्वाश्च शुभां गिरम् । पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितः सदेति' (भा० आ० ७१) याज्ञवल्क्योक्तेः । शकुनिः फलपातने चञ्च्वाघातेन काकादीनां पतितं फलं शुचिः । प्रस्रवे दुग्धं क्षरणार्थं चोषणे । श्वा मृगग्रहणे शुचिरिति ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । कार्यविशेषापेक्षया शुचीत्याह नित्यमिति । नित्यग्रहणं सर्ववर्णस्त्रीणां विशेषणार्थम् ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणां आस्यं मुखं संभोगकाले चुम्बनादिविषये शुचि ॥ १३० ॥

(७) मणिरामः । प्रसवे दोहसमये क्षीरप्रक्षरणे ॥ १३० ॥

(८) गोविन्दराजः । नित्यमिति । 'स्त्रियश्चरति संसर्ग' इति गौतमस्मरणात् तत्कालं नित्यं स्त्रीणामास्यं शुचि । तथा काकाद्यत्यन्ताहतपक्षिचञ्चुघातपातिफलं शुचि । वत्समुखं च दोहवेलायां क्षीरप्रस्नावने शुचि । श्वा च यदा मृगादि हन्तुं गृह्णाति तदा तद्व्यापारे शुचिः ॥ १३० ॥

श्वभिर्हृतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ॥

क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

[शुचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तो हि बहिश्चरः ।

जलं शुचि विविक्तस्थं पन्था संचरणे शुचिः ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । पूर्वं "श्वा मृगग्रहण" इति मृगवधे श्वा शुचिर्स्तियेतावदेव विवक्षितम् । इह तु तेन गृहीतोऽन्यैर्वा ण्डादिघातेनेति विशेषः ।

उत्तरार्धश्लोकार्थो विधीयते । क्रव्याद्भिः श्येनजम्बूकप्रभृतिभिः । चण्डालाद्यैः आदिग्रहणे श्वापदादीनामवाधाय । दस्यवो निषादव्याधादयः प्राणिवधजीविनः ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वभिर्हृतस्य दन्ताघातादिना मृतस्य । क्रव्याद्भिर्व्याघ्राद्यैः । चाण्डालाद्यैर्हत्वा स्पृष्टस्य न तत्स्पर्शदोषः ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । कुक्कुरैर्हृतस्य मृगादेर्यन्मांसं तच्छुचि मनुरब्रवीत् । तच्छ्राद्धाद्यतिथिभोजनादावेव द्रष्टव्यम् । अन्यैश्चाममांसादिभिर्व्याघ्रश्येनादिभिश्च व्याधादिभिश्च मृगवधजीविभिर्हृतस्य ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रोपलक्षणं क्रव्यादादीनामित्याह श्वभिरिति । दस्युर्जातिविशेषः वक्ष्यमाणः ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रव्याद्भिः व्याघ्रादिभिः एतैर्हृतं मांसं शुचि ॥ १३१ ॥

[रामचन्द्रः । शुचिरिति । पन्थाः संचरणे सोमसूर्याशुभिः शुचिः । बहिश्चरः वायुः ।]

(७) मणिरामः । श्वभिः कुक्कुरैः हृतस्य पशोः यन्मांसं । अन्यैश्च क्रव्याद्भिः आस- (आम?) मांसभक्षकैः श्येनादिभिः हृतस्य । तथा चाण्डालाद्यैर्दस्युभिः व्याघ्रादिभिर्मृगजीविभिः हृतस्य च पशोर्मांसं शुचि श्राद्धादौ ग्राह्यम् ॥ १३१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अत एवमतः श्वभिरिति । क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चाण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ श्वभिर्हृतस्य मृगादेर्यन्मांसं शुचीत्येवं मनुरभ्यधात्तथान्यैरपि चाममांसभक्ष्यैः श्येनादिभिश्चाण्डालगुल्निदादिभिश्च मृगादिवधजीविभिर्हृतस्येति ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ॥

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । खशब्दोऽयमिन्द्रियवचनः । तेन पादयोर्ग्रहणे कर्मेन्द्रियाणि यान्य-
धस्तान्यमेध्यानि इति बहुवचनम् । एतदयुक्तम्, 'ऊर्ध्वं नाभे'रित्यनेन विरोधात् । तत्र
नाभेरूर्ध्वं मेध्यतरत्वमुक्तम्, प्रकर्षश्च । यद्यधस्तान्मेध्यत्वं भवति तत उपपद्यते । न हि
भवति शुक्लः कृष्णतर इति ।

न चायमिन्द्रियवचनः । किं तर्हि ? छिद्रार्थोऽयम् । तदुक्तं "सप्तशीर्षण्याः प्राणाः" इति ।

अधो द्वे छिद्रे । स्त्रीपुंसोपस्थभेदाद्बहुवचनम् । एवं सत्यन्तरास्यस्पर्शोऽपि हस्तादेः शुद्धता,
यदि तद्गतश्लेष्मसम्बन्धो न भवति । तथा दूषिकादुष्टेन पुनश्चासंस्पर्शनाय ॥ १३२ ॥

(२) सर्वजनारायणः । खानि चक्षुरादिरन्ध्राणि । यान्यधः पायुलिङ्गमिति अतस्त-
त्संस्पर्शं प्रायश्चित्ताधिक्यमित्यर्थः । बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया । देहात् यत्र देहदेशे श्लेष्मा-
दिमलानां नित्यावस्थानं तस्माच्च्युता अत एवामेध्याः । तत्रस्थास्तु तेनैवाङ्गेन स्पृश्यमाना
न दोषाय । अङ्गान्तरेणाकर्षे देहाच्च्युतेरप्यावश्यकत्वात् ॥ १३२ ॥

(३) कुल्लूकः । यानि नाभेरुपरीन्द्रियच्छिद्राणि तानि सर्वाणि पवित्राणि भवन्ति
अतस्तेषां स्पर्शने नाशौचम् । यानि नाभेरधस्तान्यशुचीनि भवन्ति, अधश्छिद्रेषु च बहुवचनं
व्यक्तिबहुत्वापेक्षया । वक्ष्यमाणाश्च वसादयो देहमला देहान्निःसृता अशुद्धा भवन्ति ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च ऊर्ध्वमिति । खानि इन्द्रियाणि देहात् स्वस्वस्थानात् च्युता
भ्रष्टा मला विण्मूत्रदूषिकादयः ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । खानि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि । मलान्वक्ष्यति । मला देहच्युताश्चेदमे-
ध्या न देहस्थाः । अमेध्यानां स्पर्शो न कर्तव्य इति भावः ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । देहच्युता मलाः अमेध्याः ॥ १३२ ॥

(७) मणिरामः । नाभेः ऊर्ध्वं यानि खानि इन्द्रियच्छिद्राणि तेषां स्पर्शं अशुचिता न
भवति । नाभेरधस्तानि तु अमेध्यानि । देहाच्चैव मला गताः । देहनिःसृता मला अपि
अशुचयः ॥ १३२ ॥

(८) गोविन्दराजः । ऊर्ध्वमिति । नाभेरुपरि यानीन्द्रियाणि तानि सर्वाणि शुचीनी-
त्येवं मलशून्यस्पर्शं सति नाशुची (नि भ) न भवन्ति । यानि पुनर्नाभेरधस्तान्यशुद्धानि
तानि नाभ्यपेक्षमधः छिद्राणां यानीति बहुवचनम् । तथा वक्ष्यमाणमलाः शरीरतः
स्वस्थानाच्च्युता अशुद्धाः ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ॥

रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

(१) मेधातिथिः । मक्षिकाग्रहणं स्वेदजानाम् । गौरग्रहणमर्जडकस्य । अश्वग्रहणं
हस्त्यश्वतराणाम् । सूर्यग्रहणं ज्योतिषाम् । विप्रुष उदविन्दवः स्पर्शमात्रानुभवेन या
अदृश्यमानरूपविशेषाः ।

छाया चण्डालादीनाम् । भूश्चण्डालादिस्पृष्टा पद्भ्यामाक्रम्यमाणा शुद्धा । अन्यस्यास्तु
संमार्जनादि विहितम् ।

एते मक्षिकादयः पुरीषादि स्पृशन्तो न दूषयन्ति ।

“अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्या मुखादृते । मार्जारनकुलौ स्पृश्यौ शुभाश्व मृग-
पक्षिणः ॥” इति स्मृत्यन्तरे ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मक्षिका जीवनकालेऽन्नाद्याक्रमणे । विप्रुषोऽल्पजलकणा उच्छि-
ष्टभूता अपि न स्नानपर्यन्तशोध्यदोषहेतवः यद्वा आचामयतो ये तोयविन्दवः पादावुपस्पृशन्ति
तत्परमेतत् । छाया वृक्षादेः । सूर्यरश्मयो गवाश्वौ रजोभूमिर्वायुरग्निश्चाण्डालादिस्पर्शोऽपि
स्वेन स्पर्शने कर्तव्ये मेध्यानीत्यर्थः । अनाकरस्थोऽयं श्लोक इति केचित् ॥ १३३ ॥

(३) कुल्लूकः । मक्षिका अमेध्यस्पर्शिन्योऽपि, विप्रुषो मुखनिःसृता अल्पा जलकणाः,
छाया पतितादेर्हीनस्पर्शस्यापि, गवादीनि चाग्निपर्यन्तानि चण्डालादिस्पृष्टानि स्पर्शं शुचीनि
जानीयात् ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच, एतानि मेध्यानीत्याह मक्षिकेति । विप्रुषो मुखनिःसृता
विन्दवः अनवच्छिन्नजलधारा वा । ‘मक्षिका सन्ततधारा’ इत्युक्तेः । छाया वृक्षादेः । स्पृष्टा
चण्डालादिभिः । एवं गवादिसप्त । अन्यच्च ‘अजाश्वमुखतो मेध्या गावो मेध्या मुखादृते ।
मार्जारनकुलौ स्पृश्यौ शुभाश्व मृगपक्षिण’ इति स्मृत्यन्तरात् । मार्जारनिषेधाचारस्तु
कर्मण्येव ॥ १३३ ॥

(५) नन्दनः । उपहतान्यपि कानि मेध्यानीत्याह मक्षिकेति । विप्रुषो विन्दवः । छाया
वृक्षादिच्छाया । चण्डालादिस्पृष्टानामपि मक्षिकादीनां स्पर्शो नानुपपन्न इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतानि मक्षिकादीनि चाण्डालस्पर्शकृतानि स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत्
विप्रुषः अल्पजलकणा उच्छिष्टभूताः । छाया वृक्षादेः, गोः, अश्वः, भूः भूमिः ॥ १३३ ॥

(७) मणिरामः । मक्षिका अमेध्यस्पर्शोऽपि विप्रुषः मुखनिःसृता अल्पजलकणाः ।
छाया पतितादेः । गवादीन्यग्निपर्यन्तानि चाण्डालस्पृष्टान्यपि स्पर्शशुचीनि जानीयात् ॥ १३३ ॥

(८) गोविन्दराजः । मक्षिका इति । मक्षिका अमेध्यस्पर्शिन्योऽपि तल्लेपरहिताः
जलकणाश्च स्पर्शमात्रानुमेयाः छाया चाण्डालादिसंबन्धिनी गोश्च मुखवर्जम् । यथा बौधायनः
‘अजाश्वा मुखतो मेध्या गावो मेध्या मुखादृते । मार्जारनकुलौ स्पर्शौ शुभाश्व मृगपक्षिणः’
इत्यश्व आदित्यरश्मयो रजो वायुनेरितं भूरध्यादौ चाण्डालादि स्पृष्ट्वा गमनमात्रेण
वाय्वग्नि चेत्यादिस्पर्शं शुचीनीति जानीयात् ॥ १३३ ॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्धयर्थं मृद्वार्यादियमर्थवत् ॥

दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । “दैहाच्चैव मलाश्च्युताः” (१३२) इत्यशुद्धतायामिदमुच्यते ।
विण्मूत्रे उत्सृज्येते येन स विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादस्तस्य शुद्धयर्थं मृद्वार्यादियमर्थवत्
अनादृत्य संख्यां यावतीभिर्गन्धलेपावपसर्पतस्तावतीरपो मृदश्च गृह्णीयात् ।

देहे भवा दैहिका मला अशुचित्वापादकाः । तदर्थस्वपि शुद्धिषु मृद्वारिणो उभे अप्यर्थवती आदेये । स्मृत्यन्तरे पठ्यते—

“आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु तु षट्स्वद्विः केवलाभिस्तु शुध्यति” ॥

विशुद्धेषु श्लेष्मादिषु स्मृत्यन्तरे पठितं स्नेहविसंजनं नासिक्यं श्लेष्माऽऽक्षते । तेषां मते सत्यप्युत्तरषट्कतया न मृद आदातव्या एव ॥ १३४ ॥

(२) सर्वजनारायणः । उत्सर्ग उत्सृष्टशेषः । मृद्वारीत्यविवक्षितः शब्दक्रमो वारिणः प्रथममादेयत्वात् । अर्थवत् प्रयोजनवत्तया यावता गन्धलेपक्षयोः दैहिकानां वसाशुकमित्यादिना (१३५) वक्ष्यमाणानां द्वादशानां तद्भेदा द्वादशसु शुद्धिषु तत्र पूर्वमलषट्के मृद्वारिणी, उत्तरषट्केन वारिमात्रं बौधायनवचनात् । अत्रोत्तरषट्केऽपि मृद्विधानं लेपबाहुल्यापेक्षयेति ग्राह्यम् ॥ १३४ ॥

(३) कुल्लूकः । विण्मूत्रमुत्सृज्यते येन स विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादिस्तस्य शुद्धचर्थं मृद्वारि ग्रहीतव्यमर्थवत्प्रयोजनवच्चावता गन्धलेपक्षयो भवति । तथा शारीराणां वत्सादिमलानां संबन्धिषु द्वादशस्वपि गन्धलेपक्षयार्थं मृद्वारि ग्राह्यम् । तत्र स्मृत्यन्तरात्पूर्वषट्के मृज्जलग्रहणम् । उत्तरषट्के जलमात्रग्रहणम् । तदाह बौधायनः— ‘आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु च षट्स्वद्विः केवलाभिर्विशुध्यति ।’ ततश्च ‘द्वादशस्वपी’ति मानवं मृद्वारिग्रहणवचनं व्यवस्थया मृद्वारिणोर्ग्रहणे सति न विरुध्यते । गोविन्दराजस्तु मनुबौधायनवचनसंदर्शनादुत्तरषट्केऽपि विकल्पमाह । स च व्यवस्थितो दैवपित्राद्यदृष्टकर्मप्रवृत्ते उत्तरेष्वपि मृदमादद्यान्नान्यदा ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च विण्मूत्रेति । अर्थवत् । यावता गन्धलेपक्षयो भवेत्तावदुपादेयमित्यर्थः । गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादिति याज्ञवल्क्योक्तेः । शुद्धिषु शोधेन कर्तव्यासु तदुक्तम्— ‘आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु तु षट्स्वद्विः केवलाभिर्विशुध्यतीति बौधायनोक्तेर्व्यवस्था । अतो गोविन्दराजोक्तविकल्पोऽनवसरः ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । विण्मूत्रयोस्तुत्सर्गे तल्लेपाद्यभावेऽपि शुद्धये मृद्वार्यादेयम् । अथवत्प्रयोजनवत् गन्धलेपक्षयकरमिति यावत् । दैहिकानां मलानां द्वादशसु शुद्धिषु द्वादशमलानां शुद्धिषु । अत्रापि मृद्वार्यादेयमित्यनुषङ्गः ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विण्मूत्रोत्सर्गे तयोः शुद्ध्यर्थं मृद्वारि अर्थवत् प्रयोजनवत् । गन्धादिद्वारीकरमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

(७) मणिरामः । विण्मूत्रोत्सर्गशुद्धचर्थं विण्मूत्रं उत्सृज्यते यत्न स विण्मूत्रोत्सर्गः गुदादि तस्य शुद्धचर्थं । मृद्वारि आदेयं ग्रहीतव्यं । अर्थवत् प्रयोजनवत् यावता गन्धलेपक्षयो भवतीत्यर्थः । तथा दैहिकानां मलानां वक्ष्यमाणवसादीनां संबन्धिद्वादशस्वपि शुद्धिषु गन्धलेपक्षयार्थं मृद्वारि ग्राह्यं । तत्र पूर्वषट्के मृज्जलाभ्यां शुद्धिः, उत्तरषट्के जलेनैवेति तज्ज्ञेयं । ‘आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु च षट्स्वद्विः केवलाभिर्विशुद्धयतीति बौधायनोक्तेः ॥ १३४ ॥

(८) गोविन्दराजः । विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थमिति । विण्मूत्रमुत्सृजते येन तस्य पाद्यादेः शुद्ध्यर्थं गन्धलेपनिर्हरणप्रयोजनपर्यन्तं मृदारि ग्राह्यं ग्रहीतव्यं, तथा कायिकानां च वक्ष्यमाणमलानां संबन्धिनी शुद्धा दशस्वपि शुद्धिषु लेपाद्यपासनपर्यन्तं मृदारि ग्राह्यम् । अत्र कश्चित् 'आद-दीत मृदोऽपश्च पट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु तु पट्सु द्विः केवलाभिर्विशुध्यती'ति स्मृत्यन्तरदर्शनादुत्तरेषु कर्णमलादिषु न कदाचिदपि मृदातव्येति मन्यते-तदसत् । 'द्वादशस्वपी'त्येवमिह चोदनात्तस्मादुत्तरेषु विकल्पः । स च देशकालाद्यपेक्षया व्यवस्थितविकल्पः, यथाह बौधायनः- 'देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनं । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं समाचरेत्' इति ॥ अतो देवपित्ताद्यदृष्टार्थकर्मप्रवृत्त उत्तरेष्वप्याददीत, अन्यत्र तु नेति । आत्मा श्रोत्रियत्वाचाराद्यतिशयोपेतोऽन्यथा वा द्रव्यमल्पमया वा वल्ल्या चाशौचक्रियया प्रायश्चित्तार्हं द्रव्यप्रयोजनं दृष्टादृष्टाद्युपयोगित्वेनोपपत्तिः संशोधकद्रव्यसंपत्तिरवस्थाशरीरात् ॥ १३४ ॥

वसाशुक्रमसृग्मज्जमूत्रविड्घ्राणकर्णविट् ॥

श्लेष्माश्रुद्वेषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतानि द्वादशमलानि दर्शितानि । नृग्रहणं पञ्चनखानां प्रदर्शनार्थम् । श्वशृगालादीनां त्वस्पृश्यत्वादेव सिद्धम् । विण्मूत्रे तु सर्वस्याजाविकगवा-श्वेभ्योऽन्यत्र ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुक्रपदं रजसोऽप्युपलक्षणम् । असृक्पदं पूयस्नायुमांसादेः । विट् विष्ठा, कर्णविट् कर्णमलं, तदास्यमलस्यापि ण्ठीवनादेरुपलक्षणम् । नखपदं केशलोमा-देरपि । श्लेष्म नासामलं । द्वेषिका नेत्रमलं । स्वेदपदेन गात्रमलानामपि ग्रहणम् ॥ १३५ ॥

(३) कुल्लूकः । वसा कायस्नेहः, शुक्रं रेतः, असृक्पदं, मज्जा शिरोमध्ये पिण्डितस्नेहः । द्वेषिकाऽक्षिमलः, स्वेदः श्रमादिना देहनिःसृतं जलं, वसादयो द्वादश नराणां दैहिका मला भवन्ति ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । तन्मलानाह वसेति । वसा कायस्नेहः । मज्जा अस्थिगतस्नेहः । अश्रु नेत्रमलं । द्वेषिका तदुद्भवः पूयविशेषः ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । द्वादशमलानाह वसेति । कर्णविट् कर्णमलम् । मलग्रहणमन्येषामपि तत्तुल्यानामुपलक्षणार्थम् । अर्थान्तरितेन येन कार्यं पादावनेजनं मृत्पूर्वकं यथा तोयमशुचि-क्षालनाय च ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वसादयो द्वादश नृणां मला मज्जा पूयस्नायुमांसत्वगादेरुपलक्षणम् । कर्णविट् स्वेदेहमात्रमलानामुपलक्षणम् । द्वेषिका नेत्रमलम् ॥ १३५ ॥

(७) मणिरामः । द्वादशमलानाह वसेति । वसा शरीरस्नेहः । मज्जा शिरो-मध्ये पिण्डितस्नेहः । द्वेषिका अक्षिमलः ॥ १३५ ॥

(८) गोविन्दराजः । वसेति । वसा कायस्नेहः । शुक्रं रेतः । असृक् रुधिरं, मज्जा-शिरस्थमेदोमूत्रपुरीषकर्णमलश्लेष्मास्त्वक्षिमलस्वेदा इत्येते नृणां मलाः । नरादीनां अभक्ष्यप्राणीनां मलाः मूत्रपुरीषोत्सर्गे सति ॥ १३५ ॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ॥

उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । विण्मूत्रोत्सर्गान्तरं मेदूस्थ शुद्धयर्थमेका मृदातव्या वामेन ।

स्मृत्यन्तरे शुद्धिविधानाद्यावती तस्मिन्हस्ते याति तावती सोदका ग्रहीतव्या । अहं तु ब्रुवे, अर्थवदिति वचनेनोक्तमेव परिमाणम् । केचित् पठन्ति “प्रथमा प्रसृतिर्ज्ञेया द्वितीया तु तदर्धिका । तृतीया मृत्तिका ज्ञेया त्रिभागकरपूरणैः ।” एतच्च परिमाणं पायावेव । अन्यत्र त्वर्थवदिति । एकोत्सर्गोऽपीयत्येव संख्या । आवृत्तिविधानं चेदम् । मृदां भेदो गवां दिवत् । तथा चात्रोच्यते “वल्मीकाद्दूरतरादश्वस्थानाच्चान्येत्यादि ।” एवमिह सिता कृष्णा लोहितेत्याद्यपि नादरणीयम् । अभीप्सता इच्छतेति ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र विण्ठोत्सर्गे शौचप्रकारमाह एका लिङ्गे इति । एका मृत् त्रिपर्वपुरिका । गुदाल्लोष्टेन मलमपकृष्य तिस्रः प्रसृतितदर्धतदर्धमानाः स्मृत्यन्तरात् । ‘करादौ त्वामलकमात्रास्त्वयुपक्रमे’ ‘शौचार्यं चैव मृत्तिका’ इति स्मृत्यन्तरेऽभिधानात्तावत्प्रमाणतो मृदः । एकत्र वामे । उभयोर्वामदक्षिणयोः ॥ १३६ ॥

(३) कुल्लूकः । मूत्रपुरीषोत्सर्गे सति शुद्धिमभीप्सता मृदायादियमर्थवत् (५।१३४) इत्युक्तत्वाज्जलसहिता मृदेका लिङ्गे दातव्या । गुदे तिस्रो मृदः । तथैकस्मिन् करे वामे । ‘शौचविद्वक्षिणं हस्तं नाधःशौचे नियोजयेत् । तथैव वामहस्तेन नाभेरुर्ध्वं न शोधयेदिति देवलवचनात्तस्यैवाधःशौचसाधनत्वात्तत्रैव दश मृदो दातव्याः । तत उभयोः करयोः सप्त दातव्याः । यदा तूक्तशौचेनापि गन्धलेपक्षयो न भवति तदा ‘यावदपैत्यमेध्याक्तादि’ति वचनादधिकसंख्याऽपि मृदातव्या । एतद्विषयाण्येव मुनीनामधिकमृत्संख्यावचनानि । मृत्परिमाणमाह दक्षः (द. स्मृ. ५।८) ‘लिङ्गेऽपि मृत्समाख्याता त्रिपर्वी पूर्यते यया । द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता’ इति यदा तूक्तसंख्याया अल्पेनापि गन्धलेपक्षयो भवति तदा संख्यावाक्यारम्भसामर्थ्यात्संख्या पूरयितव्यैव ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चैकेति । एकत्र करे वामकरे उभयोरिति शुद्धाधिकरण-द्वित्वोपलक्षणं, तेन पाणिपादद्वयशौचसिद्धिरत आह ॥— ‘शौचविद्वक्षिणं हस्तं नाधःशौचे नियोजयेत् । तथैव वामहस्तेन नाभेरुर्ध्वं न शोधयेदिति देवलोक्तेः । दक्षिणकरशौचं संसर्गजलेपक्षयार्थम् । अत्र सङ्ख्याऽदृष्टार्था अधिकेन न्यूनेन वा गन्धलेपक्षयस्यावश्यं-भावित्वात् । गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादितन्द्रित’ (आचा. १७) इति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । एका लिङ्गे विभक्तिविपरिणामः । एकस्मिन्वामे करे । उभयोः करयोः संहतयोः ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मूत्रपुरीषशौचाय मृत्परिमाणमाह एकैति । शुद्धिमभीप्सता पुंसा मृदो दातव्याः । उभयोर्हस्तयोः ॥ १३६ ॥

(७) मणिरामः । एककरे वामे । उभयोः चरणहस्तयोः । तथा च यदा संख्यया शौचे कृते गंधादिकयो न जातस्तदा संख्ययैव पुनः कर्तव्यः । यदा तु स्वल्पेनैव गंधादिकयो-स्तदाऽपि संख्या पूरणीयैव न तु गंधादिकयोः संख्यायाः अदृष्टत्वादित्यर्थः ॥ १३६ ॥

(८) गोविन्दराजः । एकेति । शुद्धिमिच्छतैका मृन्मृदायादियमर्थवदित्युदकसहिता लिङ्गे दातव्या । गुदे च तिस्रः । तथा एकस्मिन्हस्ते वामे । 'धर्मविद्वक्षिणं हस्तमधः शौचेन योजयेत् । तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत् ॥' इति देवलदर्शनेन तेनैव शौच-विधिना दश दातव्यास्तत्र उभयोर्हस्तयोः सप्त दातव्याः । यत्तूक्तसङ्ख्याया गन्धलेपक्षयो 'न भवति तदा यावन्नापैत्यमेध्याक्तो'दिति वचनात् उक्तसङ्ख्यानातिक्रमेणापि तत्क्षयपर्यन्तं शौचं कार्यमर्वाक् सङ्ख्यापूरणाल्लेपादिकयोऽपि सङ्ख्यावाक्यारंभसामर्थ्यात्सङ्ख्या पूरयित-व्यैव ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ॥

त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । शौचविधिराश्रमविशेषेण । अनाश्रमिणस्तु मृदायादियमर्थवदित्ये-तदेव । शूद्रस्यापि गार्हस्थ्येऽधिकारोऽस्त्येवेत्येषा संख्या ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विगुणमित्यादिसंख्यातो न स्मृत्यन्तरसिद्धपरिमाणतः अत्र तस्या एव प्रक्रमात् प्रकृतार्थत्वाच्च सर्वनाम्नां वारत्रयगृहीताधिकानां तु मानापेक्षाया-मन्त्यमानस्य प्रसृत्यर्धास्य ग्रहणम् ॥ १३७ ॥

(३) कुल्लूकः । 'एका लिङ्ग' (१३६) इत्यादियच्छौचमुक्तं तद्गृहस्थानामेव, ब्रह्मचारिणां द्विगुणं, वानप्रस्थानां त्रिगुणं, यतीनां पुनश्चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र व्यवस्थितिमाह एतदिति । यतीनां त्रिदण्डिनां आश्रम-समभिव्याहारान्नकदण्डिनां नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् अन्याश्रमस्थ इत्यादिश्रुतेः । तत्र च यच्छौचं दिवसे प्रोक्तं तदर्धं निशिसन्ध्ययोः । तदर्धमातुरे काले पथि शूद्रवदाचरे'दिति पठन्ति । तेन शूद्रे सङ्ख्या नेष्टा किं तु गन्धलेपक्षयमात्रम् ॥ १३७ ॥

(७) मणिरामः । वनस्थानां वानप्रस्थानां ॥ १३७ ॥

(८) गोविन्दराजः । एतदिति । यदेतदेका लिङ्ग इत्यादि शौचमेतदुक्तं गृहस्था-नामेव ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षूणां एतदेव द्वित्रिचतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ॥

वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमशनश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

(१) मेधातिथिः । मूत्रोत्सर्गदेशान्मूत्रादिसम्बन्धान् कृत्वा शोधयित्वा यथोक्तेन विधिना । आचान्तः खानि इन्द्रियाणि उपस्पृशेत् । वेदमध्येष्यमाणश्च द्वितीये स्वाध्याय-विधौ । प्राथमिकार्थत्वात्करोतेः 'कृत्वा' उत्सृज्येति प्रतीयते । उन्मृज्य मूत्रं पुरीषं च पायू-

पस्थं क्षालयित्वा आचामेत् । 'वेदमध्येष्यमाणश्च', स्वाध्यायविधेर्धर्मतयोक्तं 'अध्येष्यमाण-
स्त्वाचान्त' इति । इदं त्वध्यापयतोऽध्येष्यतो वा । अन्यथा 'वेदमुदाहरन्त' उच्यन्ते ।
लौकिकानि क्रियान्तराणि कृत्वा नानाचान्तो वेदाक्षराण्युच्चारयेत् । अन्नमशनश्च ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचान्त इति । त्रिजलं पीत्वा द्विः प्रमृज्यादिति वक्ष्यमाण-
माचमनं कृत्वेत्यर्थः । खानि आस्यघ्राणचक्षुःश्रोत्रनाभिहृदयब्रह्मरन्ध्राणि स्पृशेदिति साङ्ग-
माचमनं दर्शितम् । वेदमध्येष्यमाणोऽध्यापयिष्यन्नध्येष्यमाणो वा । अशनन्नशनादौ । अन्न
'कृत्वा मूत्रं पुरीषं वे'त्यप्रायत्यातिशयमात्रोपलक्षणम् । अध्येष्यमाणोऽन्नमशनन्नित्यत्यन्त-
प्रयत्नसाध्यकर्मरिम्भोपलक्षणम् । तेनाप्रायत्यनिवृत्त्यर्थं प्रयत्नसाध्यकर्मरिम्भयोग्यतायै
वाचमने कार्ये । गृहस्थानामिन्द्रियादिस्पर्शनसहितमाचमनमिति दर्शितम् ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । मूत्रपुरीषं कृत्वा कृतयथोक्तशौचस्त्रिराचान्त इन्द्रियच्छिद्राणि
शीर्षाण्यन्यानि च स्पृशेद्वेदाध्ययनं चिकीर्षन्नन्नं वाऽश्नन् । यत्तु द्वितीयाध्याये 'अध्येष्यमाण-
स्त्वाचान्तो' 'निवेद्य (२।७०) गुरवेऽशनीयादाचाम्ये (२।५१) त्र्युभयमुक्तं तद्व्रताङ्गत्वार्थम् ।
इदं तु पुरुषार्थशौचायेत्यपुनरुक्तिः ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च कृत्वेति । वेदमध्येष्यमाण इति । द्वितीयाध्यायोक्ताचमन-
धर्मप्राप्त्यर्थम् ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । आचान्तः पीतजलः । खानि चक्षुर्नासिकाश्रोत्राणि । अन्नं च
भोक्ष्यमाणः । सर्वदा शुचिरपि ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । मूत्रपुरीषं कृत्वा हस्तपादौ प्रक्षाल्य आचान्तः सन् खानि छिद्राणि
मुखादीनि उपस्पृशेत् । तदाह कूर्मपुराणे— 'अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च स्पृशन्नेत्रद्वयं ततः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नासापुटद्वयं ॥ कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन श्रवणे च समं स्पृशेत् । सर्वा-
सामथ योगेन हृदयं सुतलेन च ॥ संस्पृशेद्वै शिरस्तद्वदङ्गुष्ठेनाथ वा द्वयमिति । वेदमध्ये-
ष्यमाणः वेदाध्ययनं कुर्वाणः अध्ययनादौ आचान्तः त्रिराचम्य खानि छिद्राणि स्पृशेत् । च
पुनः स्नानभोजने कुर्वन् आदावेवाचामेत् ॥ १३८ ॥

(७) मणिरामः । आचांतः आचमनानंतरं खानि इन्द्रियाणि । अध्येष्यमाणः अध्ययनं
कर्तुमिच्छन् ॥ १३८ ॥

(८) गोविन्दराजः । कृत्वेति । मूत्रपुरीषं कृत्वा कृतपूर्वोक्तशौचः कृतान्नभक्षः
सन् शीर्षण्यानीन्द्रियच्छिद्राणि उपस्पृशेत् । आचमनमेव वृत्तानुरोधात् । एवमुक्तं तथा
चोत्तरश्लोके विशेषयिष्यति । वेदं चाध्येतुमिच्छन्नन्नं चाशनन्यावज्जीवं आचामेदिति । तच्च
द्वितीयाध्याय उभयमपि 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो' 'निवेद्य गुरवेऽशनीयादाचामे'दित्युक्तं
व्रताङ्गत्वार्थम्, इह तु शौचाङ्गतयोच्यते ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ॥

शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमनुवादः स्त्रीशूद्रार्थः । उक्तमप्येतत्स्त्रीशूद्रार्थमुच्यते ।

केचिद्व्याचक्षते 'शूद्रः स्पृष्टाभिरद्भिरिति' स्पर्शमात्रमपां शूद्रेण कर्तव्यम् । अतः परिमार्जनं श्रोत्रादिस्पर्शनं वा प्राप्तं सच्छूद्रविषयतया विधीयते । स्त्रीणां तु "हृद्गाभिः पूयते विप्रः" (२।६९) इति जातिनिर्देशात्पुंवत्प्राप्ताविदमुच्यते ।

शारीरं शौचमन्विच्छन् इति वचनसामर्थ्याद्यद्ययनभोजनयोः शुद्धः प्रवर्तते तदा नावश्यं त्रिरावृत्तिः स्यात्, नापि प्रमार्जनम् । किं तर्हि ? आचमनम् यावतीनां तावतीनामपामिन्द्रियस्पर्शनं च । नान्यो ब्रह्मचारिधर्मोक्त आचमनविधिः ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यत्र यथा कर्तव्यं तदाह त्रिराचामेदिति । आचामेत् पिवेत् 'हृद्गाभिः पूयत' इत्याद्युक्तविधिना । प्रमृज्यादङ्गुष्ठतलेन । शारीरशरीरस्य शौचमिच्छन् । एतेन प्राणस्पर्शनशून्यमप्यल्पप्रायत्यविषये गृहस्थस्याचमनान्तरमस्तीति दर्शितम् । ब्रह्मचारिणस्त्विन्द्रियादिस्पर्शवदेवाचमनमिति द्वितीये दर्शितम् । अतएव न पौनरुक्त्यम् । यतिवनस्थयोश्च शौचवदाचमनेऽप्याधिक्यस्य युक्तत्वात् आधिक्यान्तराश्रवणाच्च ब्रह्मचारिवदेवाचमनम् । स्त्रीशूद्रमिति स्त्री च शूद्रश्च सर्वत्र विषये सकृत्सकृत् एकवारं पिवेत्सकृच्च मार्जयेदित्यर्थः । एतच्चानुपनीतस्यापि शूद्रतुल्यत्वान्नास्याचमनकल्प इति तु त्रिराचामेदित्यादिकल्पनिषेधपरम् ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । आचान्त इति यदुक्तं तत्र विशेषमाह त्रिराचामेदिति । देहस्य शुद्धिमिच्छन्प्रथमं वारत्रयमपो भक्षयेत् । ततो द्विमुखं परिमृज्यात् । स्त्रीशूद्रश्चैकवारमाचमनार्थमुदकं भक्षयेत् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च त्रिराचामेदित्यादि सकृदिति तत्राप्यन्तः 'सकृत्स्पृष्टाभिरन्तत' इत्युक्तेः । अत्र विडित्यादिसकृदन्ताः षट्श्लोका ज्ञानेन शुध्यतीत्यत्र स्थानभ्रष्टाः शारीरं शौचमिति लिङ्गात् ज्ञेयाः ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । 'आचान्त उपस्पृशे'दित्युक्तं तत्कतिकृत्व आचान्त इत्यपेक्षायामाह त्रिराचामेदिति । मुखमोष्ठौ । स्त्रीशूद्रौ सकृत्सकृदाचामेतां सकृत्प्रमृज्याताम् । उक्तस्याचमनकल्पस्य पुनरुपन्यासस्तस्य शरीरशुद्धौ प्राधान्यज्ञापनार्थः ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिः त्रीन्वारान् आचामेत् । ततो मुखं द्विः प्रमृज्यात् स्त्रीशूद्रयोः सकृत् सकृत् ॥ १३९ ॥

(७) मणिरामः । पूर्वं प्रथमतः अपः त्रिः आचामेत् प्राजापत्येन तीर्थेन । ततः मुखं ओष्ठद्वयमेकीभूतं । द्विः द्विवारं प्रमृज्यात् अङ्गुष्ठमूलेन प्रोष्ठेत् । स्त्रीशूद्रस्तु सकृत्सकृत् एकवारमपः आचामेदित्यर्थः ॥ १३९ ॥

(८) गोविन्दराजः । तथा चाह त्रिरिति । शरीरशुद्धिमिच्छन् त्रीन्वारान्प्रथममप आचामेत्ततो द्वौ वारौ ओष्ठदेशे मुखं परिमृज्यात् । स्त्रीशूद्रं पुनरेकवारं आचमनार्थमपो भक्षयेत् ॥ १३९ ॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ॥

वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । सामान्योक्तः सच्छूद्राणां प्रसंगेनायं धर्म उच्यते । न्यायवर्तिनो द्विजशुश्रूषवो महायज्ञानुष्ठायिनश्च । तैर्वपनं मुण्डनं मासिकं कर्तव्यम् । तृतीयार्थे षष्ठी । अथवा ब्राह्मणाश्रितास्तत्परतन्त्राः । ब्राह्मणैः 'कार्यम्' । अनेकार्थत्वात्करोते-रूपदेष्टव्यमिति प्रतिपत्तिः । वैश्यवत् शौचकल्पविशेषः, सूतकादावाचमने च । द्विजोच्छिष्टं च भोजनं एतत्प्राग्व्याख्यातम् ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न्यायवर्तिना स्ववर्णधर्माच्च्युतानां शूद्राणां मासिकं मासि मासि मुण्डनं कार्यम् । भोजनं च द्विजोच्छिष्टं द्विजपाकभाण्डावशिष्टं एवंविधवृत्तवतां शूद्राणां वैश्यवच्छौचकल्पमाशौचादिशुद्धिः; तेन पञ्चदशाहान्ते सूतकमृतकशुद्धिः । आचमनं च वैश्यवदेव । तत्र अद्भिः प्रायश्चित्ताभिरित्यादि ग्राह्यम् ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्राणां कार्यमिति 'कृत्यानां कर्तरि' (पा. २।३।७१) वेति कर्तरि षष्ठी । यथाशास्त्रव्यवहारिभिर्द्विजशुश्रूषकैः शूद्रैर्मासि मासि मुण्डनं कार्यं, वैश्यवच्च मृतसूतकादौ शौचकल्पोऽनुष्ठितव्यः 'द्विजोच्छिष्टं च भोजनं' भुज्यत इति भोजनं कार्यमिति ॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । किं च शूद्राणामिति । 'कृत्यानां कर्तरी'ति तृतीयार्थे षष्ठी । वपनं मुण्डनरूपं मासिकमिति प्रासंगिकं । 'नोच्छिष्टं न हविष्कृतमिति' सेवकेतराणां प्रतिषेधः ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । न्यायवर्तिनां शूद्राणामितरेभ्यो विशेषं प्रसङ्गादाह शूद्राणामिति । मासिकं मासिश्राद्धं कार्यं प्रतिमासं वपनं कार्यमिति वा । शौचाचमनादिकल्पः ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रधर्ममाह शूद्राणामिति । न्यायवर्तिनां शूद्राणां मासिकं माससंबन्धि श्राद्धं कार्यम् । न्यायवर्तिनां शूद्राणां वपनं क्षौरं कार्यम् । वैश्यवच्छौचकल्पः पञ्चदशदिनपर्यन्तः । द्विजपाकभाण्डावशिष्टं द्विजोच्छिष्टं भोजनं द्विजैर्दत्तं कार्यम् । 'शूद्रस्तु द्विजसेवये'ति वाक्येन ॥ १४० ॥

(७) मणिरामः । न्यायवर्तिनां द्विजातिशुश्रूषकानां मासिकं प्रतिमासि चयनं मुण्डनं कार्यं शौचं तु शूद्रो वैश्यवत् कुर्यात् ॥ १४० ॥

(८) गोविन्दराजः । शूद्राणामिति । शास्त्रमर्यादानुवर्तिनां द्विजात्याश्रितानां शूद्राणामाश्रयभूतद्विजातीनां मासि मासि मुण्डनं वैश्यवच्च 'एका लिङ्गे' इत्याद्याचमन-पर्यन्तशौचविधिः कार्यः, द्विजोच्छिष्टभोजनप्रकृतत्वादात्मसंबन्धे दातव्यम् ॥ १४० ॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गं पतन्ति याः ॥

न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥

[अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।

ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥ १ ॥

गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता ।

गोः पुरीषं च सूत्रं च मेध्यमित्यन्नवीन्मनुः ॥ २ ॥]

(१) मेधातिथिः । 'निष्ठीव्योक्तवानृतानि चेति' (५.१४५) निष्ठीवने आचमनविधानादनाचान्तस्याशुद्धता ज्ञापिता । विप्रुषामपि मुखान्निष्क्रमणं निष्ठीवनमेव । अतो विप्रुषां श्लेष्मनिरसनरूपनिष्ठीवनादाचमनप्राप्ताविदमाह । मुखे भवा मुखनिर्गता वा मुख्याः विप्रुषः इत्युच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे निपतन्तीति । ननु च विप्रुषः शुद्धा इत्युक्तं "मक्षिका विप्रुष" (५.१३३) इत्यत्र ।" दैहिकमलव्यतिरेकेणान्यत्र । इदमेव ज्ञापकम् । न सर्वो विषयः संदर्शितः । श्मश्रूणि दाडिकालोमानि । आस्यगतानि प्रविष्टानि । नोच्छिष्टं कुर्वन्तीत्यनुषङ्गः । अतश्चान्यत्पूगफलादि जनयत्येव । तथा दन्तान्तरधिष्ठितं लग्नम् ।

स्मृत्यन्तरे विशेषः । "दन्तश्लिष्टे तु दन्तवदन्यत्र जिह्वाविमर्शनात्—प्राक्च्युतेरित्येके ।—च्युतेष्वास्त्राववद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिरिति" । च्युतेष्वजिह्वयेति विद्यात्, जिह्वासंस्पर्शो शुचित्वनिषेधात् ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुख्याः मुखजाः विप्रुषो द्रप्सविन्दवोऽतिक्षुद्रा बाह्यद्रव्येषु पतिता अपि नोच्छिष्टतां जनयन्ति यद्यङ्गं नयन्ति न गच्छन्ति अङ्गगमने त्वङ्गस्य क्षालनादिनैव शुद्धिरिति तात्पर्यम् । गतान्यास्यमास्यमध्यप्रविष्टाग्राणि । दन्तयोरेतरे मध्येऽधिष्ठितं प्रविष्टमन्नकल्कादि नोच्छिष्टं पुरुषं करोति एतच्चोद्धरणसंभवे रसाद्यनुपलब्धौ चेति स्मृत्यन्तरात् ॥ १४१ ॥

(३) कुल्लूकः । 'निष्ठीव्योक्तवानृतानि चेति' । (५.१४५) निष्ठीवतामाचमनविधानाद्विप्रुषामपि मुखान्निःसरणं निष्ठीवनमेवेति प्रसक्तौ शुद्धचर्थमपवादमाह । मुखभवा विप्रुषो या अङ्गे निपतन्ति ता उच्छिष्टं न कुर्वन्ति तथा श्मश्रुलोमानि मुखप्रविष्टानि नोच्छिष्टतां जनयन्ति । दन्तावकाशस्थितं चान्नावयवादि नोच्छिष्टं कुरुते । अत्र गौतमीये (गौ. स्मृ. १.५) विशेषः । 'दन्ताश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र' जिह्वाभिर्मर्षणात्प्राक्च्युतेरिति । एके 'च्युतेष्वाहारविद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः' ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । नोच्छिष्टं कुर्वते नोच्छिष्टदोषमावहन्ति । आस्यं गतान्यपि सन्ति । दन्तान्तरधिष्ठितं दन्तासक्तमन्नादि 'दन्तासक्तं तु दन्तवदित्युक्तेः ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । अथ क्वचिदनुष्ठितादाचमनादपवादमाह नोच्छिष्टमिति । मुख्याः मुखोद्भवाः, मुखाद्गलिता इति यावत् । या विप्रुषोऽङ्गं न यन्ति । ता नोच्छिष्टं पुरुषं कुर्वन्ति । तथा आस्यं गतानि श्मश्रूणि च नोच्छिष्टं कुर्वन्ति । यद्दन्तान्तरधिष्ठितं स्थितमन्नादिकं चोच्छिष्टं न करोति । 'दन्तवदन्तलग्नेषु शुचिस्थानाच्च्युतेषु तु ।' दन्तलग्नेष्वन्नादिषु दन्तेष्विव शुचित्वम् । स्थानाद्दन्तस्थानाद्यन्तलग्नेषु परिच्युतेषु तन्निगिरञ्छुचिः स्यात् ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । या विप्रुषः अङ्गं न यन्ति न प्राप्नुवन्ति ता मुख्या मुखोद्भवा उच्छिष्टं न कुर्वन्ते । यद्यङ्गं गच्छन्ति तर्ह्यङ्गस्य क्षालनाच्छुद्धिः । आस्यं मुखं गतानि प्रविष्टानि श्मश्रूणि नोच्छिष्टं कुर्वन्ति । दन्तान्तरधिष्ठितं दन्तसक्तं चान्नादिकं नोच्छिष्टं करोति । अच्युतं दन्तसमं ज्ञेयं ॥ 'दन्तवद्दन्तसक्तेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्भवेदि'ति वाक्येन ॥ १४१ ॥

(७) मणिरामः । मुख्याः विप्रुषः ष्ठीवनादौ मुखनिःसृता जलविन्दवः याः अंगे पतन्ति ताः उच्छिष्टं न कुर्वन्ति । तथा अस्यां गतानि श्मश्रूणि च श्मश्रुलोमानि दन्ताधिष्ठितं अन्नं च नोच्छिष्टं कुर्वतीत्यर्थः ॥ १४१ ॥

(८) गोविन्दराजः । नोच्छिष्टमिति । मुखनिःसृता विप्रुषो व्यङ्गत्वेन निपतन्ति तदोच्छिष्टं न जनयन्ति । तस्मात् श्मश्रूण्यास्यप्रतिष्ठानि दन्तान्तरलग्नं वान्नावयवादि, दन्तश्लिष्टं तु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात्प्राक् च्युतेरित्येके । 'च्युतेष्वाश्राववद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचि'रित्येवं गौतमप्रक्रिया नोच्छिष्टं करोति ॥ १४१ ॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ॥

भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

[दन्तवद्दन्तलग्नेषु दन्तास्पर्शेषु चैव हि ॥

च्युतेष्वाश्राववद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचि ॥ १ ॥

दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्न तु ।

परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचि ॥ २ ॥]

(१) मेधातिथिः । परानाचामयतः परेभ्य आचमनं ददत इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । यः परस्मा आचमनं ददाति तस्याचमयितृहस्तादधोऽङ्गुलिविवरेभ्यः पतद्भिरुदबिन्दुभिर्भूम्यभिघातोत्थैर्यथाचमनस्य दातुः पादौ स्पृश्येते तदा न तैरशुचिर्भवति । 'भौमिकै'र्यथाऽनुपहृतायां भूमौ स्थिताः काश्चिदुदकमात्राः शुद्धा एवं तेऽप्युच्छिष्टा हस्तात्पतन्त उदबिन्दवः । न तैः स्पृष्टः अप्रयतः अशुचिः । परग्रहणाच्च आचामयति तेन तत्संसर्गो रक्षितव्यः, अन्येन च समीपस्थेन । पादग्रहणाच्च जङ्घाद्यन्तस्पर्शो दुष्ट एव ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बिन्दवो वक्त्रान्निर्गता जलबिन्दवो न तु बहुजलम् । पादाविति प्रायिकत्वादुक्तमङ्गान्तराण्यपि । आचामयत आचमनार्थं जलमपवर्जयतः । भौमिकैर्भूमिस्थैः शुद्धैर्बिन्द्वन्तरैः ॥ १४२ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्येषामाचमनार्थं जलं ददतां ये बिन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जङ्घादि विशुद्धभूमिष्ठोदकैस्तुल्यास्तेन नाचमनार्हो भवति । तदा तत्र च्यवनावस्थैरकृताचमनः शुध्यति द्रव्यं च शुध्यति ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चान्यत् परानाचामयतो जनस्य ये जलबिन्दवः पादौ स्पृशन्ति तेनोच्छिष्टा इत्याह स्पृशन्तीति । भौमिकैर्विशुद्धिभूमिगैः । सप्ताः सदृशाः ।

तैर्जलविन्दुभिरप्रयतोऽशुद्धो न भवेत् । पादग्रहणात्ततोऽन्यत्र स्पृष्टाभिरशुद्ध इति मेधातिथिः ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । परानाचामयतो जलमावर्जयतः पादौ स्पृशन्त्याचामयतो मुखगलिता ये विन्दवस्ते भूगतजलवन्नोच्छिष्टकरा इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये विन्दवः आचामयतः परान्समीपवर्तिनः द्विजान् तैर्विन्दुभिः अप्रयतः अशुचिः न भवेत् । भौमिकैः भूमिसंवन्धिकैः समा ज्ञेयाः ॥ १४२ ॥

(७) मणिरामः । परान् आचामयतः अन्येषामाचमनार्थं जलं ददतां ये जलविन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जंघादि ते भौमिकैः समाः विशुद्धभूमिष्ठोदकतुल्याः । तैः जलविन्दुभिः अप्रयतो न भवेत् ॥ १४२ ॥

(८) गोविन्दराजः । स्पृशन्तीति । भूमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् । अन्येषामाचमनं ददतो ये विन्दवः पादावेव स्पृशन्ति न जङ्घादि ते त्वपहतभूम्यवस्थैः शुद्धैरुदकविन्दुभिः तुल्या ज्ञेयास्ततस्तैर्नाचमनार्हो भवति ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन ॥

अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । आचमनार्हेण प्रायश्चित्तेन युक्तः पुरुष उच्छिष्ट उच्यते । तद्यथा—कृतमूत्राद्युत्सर्गश्चाकृतशौचाचमनादिश्च यश्चामेध्यादिसंस्पर्शदूषितो यदि पुरुषो 'द्रव्यहस्तः' हस्तेन च गृहीतं भक्ष्यभोज्यादि द्रव्यवस्त्रादि वा येन स उच्यते द्रव्यहस्तः । वज्रहस्तादिवत्प्रयोगव्यवस्था । स चेत्स्पृष्टो भवति । तदा अनिधायैव तद्द्रव्यम् अनपनीय, हस्तगृहीतद्रव्य एवाचामेत् ।

“कथं पुनर्हस्तस्थे द्रव्य आचमनसंभवः । आ मणिवन्धनात्पाणी प्रक्षालयेदिति तत्र विधिः” ।

केचिदाहुः । शरीरसंस्पर्शमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितम्, न हस्तस्यैव, एवमशुद्धावपि स्कन्धाद्यारोपितेऽपि द्रव्ये उच्छिष्टस्याशुद्धतैव, तथैवाचान्ते शुद्धिः । अतो हस्तात्प्रदेशान्तरे प्रकोष्ठोत्सङ्गादिके तु द्रव्यं गृहीत्वाऽऽचामेत् । अभिप्रायो यथैव पुरुषाशौचसम्बन्धादशुच्येवं तच्छौचाच्छुद्धिः ।

गौतमेन (अ. १ सू. २८) तु “द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायैवाचामेत्” इत्युक्तम् । अत्र व्याख्यानयन्ति । सत्यपि तुल्यसहितत्वेऽत्र निधानमेवाभिप्रेतम् । इतरथा द्रव्यहस्तस्योभयोः शुद्धौ कर्तव्यायां कः प्रसंगो द्रव्यनिधानस्य । अतोऽन्तरेण वचनं निधानाप्राप्तैर्वचनं निधानार्थमेव । “कथं तर्हि द्रव्यस्य शुद्धिः?” । प्रयतेन पुरुषेण ग्रहणात् । स्मृत्यन्तरविहितेन वा प्रोक्षणेन ॥ “प्रचरन्नपानेषु उच्छिष्टं संस्पृशेद्यदि । आचामेद्द्रव्यमभ्युक्ष्य एवं चैव न दुष्यति ॥” इति । यद्यन्तरेण वचनमत्र निधानं लभ्यते, अग्यनिधायैवेति वचनमनर्थकम् । एकवाक्यत्वात् स्मृतीनामिह निश्चितेन विधानेन तथाऽप्येवं विज्ञायते । अद्य पुनर्मतभेदो

गम्यते । ततश्च विकल्पः । तस्य च व्यवस्था । गरीयो द्रव्यं निधीयते, अन्यदङ्गस्थं कृत्वाऽवगम्यते । यदाऽपि स्वयमन्नमश्नाति, भूयिष्ठं वा उच्छिष्टं स्पृशति, आचमनाह्नेन वाऽकृताचमनेन स्पृश्यते, सर्वोऽपि द्रव्यस्योच्छिष्टं संस्पर्शः ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्रव्यहस्तः अग्निपक्वद्रव्यहस्तः । भूमावनिधायोत्सङ्गे कृत्वा आचान्त आचमनेन शुचितामियात् स्वयं तद्द्रव्यं च ॥ १४३ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रव्यहस्तपदेन शरीरसंबन्धमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितम् । आमणि-
बन्धात्पाणिं प्रक्षाल्येति द्रव्यहस्तस्याचमनासंभवात् स्कंधादिस्थितद्रव्यो यद्युच्छिष्टेन संस्पृष्टो
भवति तदा द्रव्यमनवस्थाप्यैव कृताचमनः शुध्यति । द्रव्यं च शुद्धं भवति ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च उच्छिष्टेनेति । उच्छिष्टेन जलेन तादृगन्नादिना वा
द्रव्यहस्तः अन्नं हविर्द्रव्यादि वा हस्ते यस्य स तद्द्रव्यमनिधाय हस्ते कृत्वैवाचान्तः शुचिता-
मियात् । द्रव्यं सोऽपीति भावः ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । उच्छिष्टेन स्पृष्टो द्रव्यहस्तो द्विजस्तद्द्रव्यं हस्तगतं भूम्यादौ निधायै-
वाचान्तः सह द्रव्येण शुद्धः स्यात् । द्रव्यं भूम्यादौ निधायामेत्स उच्छिष्टस्पर्शदोषो द्रव्यं
संक्रामतीत्यभिप्रायः ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रव्यहस्तः अग्निपक्वद्रव्यहस्तः उच्छिष्टेन पुरुषेण संस्पृष्टः
तद्द्रव्यं तद्वस्तु भूमावनिधाय आचान्तः सन् शुचितां इयात्, प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ १४३ ॥

(७) मणिरामः । द्रव्यहस्तपदेन शरीरसंबन्धमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितं; द्रव्यहस्तस्य
आचमनासंभवात् । आचमनमेव कुर्यात् न स्नानं ॥ १४३ ॥

(८) गोविन्दराजः । उच्छिष्टेनेति । गृहीतद्रव्यः सन्यद्युच्छिष्टेन स्पृष्टो भवति
तदा द्रव्यमनवस्थाप्यैतत्कृताचमनः शुद्धित्वं प्राप्नोति ॥ १४३ ॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ॥

आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥

[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ।

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । वमनविरेचने प्रसिद्धे । अशितमन्नं येन मुखेनोद्गीर्णं स वान्तः
पुरुषः । यस्योच्चारवेगा अष्टसंख्याया ऊर्ध्वं जाताः, हरीतक्यादिभक्षणेन व्याधिना वा,
स विरिक्तः । तौ स्नानं प्रथमं कुर्याताम् । ततोऽन्ते घृतप्राशनं कृत्वैतदन्यदन्नमद्याताम् ।
न चानेन घृतप्राशनेन भोजनान्तरनिवृत्तिः । प्रायश्चित्तेषु द्रव्यशुद्धिरियं भस्मोदकमार्जन-
वद्घृतप्राशनम् । आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नम् । अन्नं भुक्त्वा तदहरेव यदि वमनविरेचने स्यातां
तदाऽऽचमनमेव केवलम्, न स्नानघृतप्राशने । अपरैस्तु स्वतन्त्रं व्याख्यायते । भुक्त्वा-
ऽऽचामेदेव । भोजनान्तरमाचमनं विहितं तस्यैवायमपवादः । मैथुनिनः । स्त्रियां
कृतशुक्रोत्सर्गः स्नानेन शुध्यति ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वान्तो वमनं कृत्वा विरिक्तः कोष्ठमलमतिसार्य स्नानं घृत-
प्राशनं च कामतः अकामतः स्नानमात्रम् । आचामेदेव न तु तदुच्छिष्टतापगमेऽपि स्नायात् ।
मैथुनिनः ऋतुकाले मैथुनकरणे, अनृतौ तु मैथुने आचमनमात्रं स्मृत्यन्तरे उक्तम् ॥ १४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कृतवमनः संजातविरिकः स्नात्वा घृतप्राशनं कुर्यात् । दशविरिकान्
विरिक्त इति गोविन्दराजः । यदि भुक्त्वा अनन्तरमेव वमति तदाऽऽचमनमेव कुर्यान्न स्नान-
घृतप्राशने । मैथुनं च कृत्वा स्नायात् । इदं त्वृतुमतीविषयम् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च वान्त इति । वान्तः कृतवमनः विरिक्तः संजातविरिकः ।
भुक्त्वान्नं सद्यो वमने त्वाचमनमित्याचामेदिति गोविन्दराजः । मैथुनिनः ऋतुमत्या सह अन्यत्र
मूत्रवदित्युक्तम् । सन्निधेर्भोजनाव्यवहितमैथुनिनो वा ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । वमनविरिकेनयोः समुच्चितयोः स्नात्वा घृतं प्राशनीयात् । अन्नं भुक्त्वा
तदानीमेव वान्तो विरिक्तश्चेदाचामेदेव, न तु स्नानघृतप्राशने कुर्यात् ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विरिक्तः कृतविरिकः कृतपुरीषः मैथुनिनः मैथुनकर्तुः ऋतावपि
गमनेन शुध्यति यज्ञादिकार्यार्थम् ॥ १४४ ॥

(७) मणिरामः । भोजनानंतरं कृताचमनश्चेद्वमनं विरेचनं वा करोति तदा स्नात्वा
घृतप्राशनेन शुद्धो भवति यदि भोजनोत्तरमेव वमनं करोति तदा आचमनमेव कुर्यान्न स्नान-
घृतप्राशने । मैथुनं च कृत्वा स्नायादित्यर्थः ॥ १४४ ॥

(८) गोविन्दराजः । वान्त इति । कृतवमनो दशैव तु द्विगुणाविरिक्त इत्यायुर्वेद-
दर्शनाद्दशविरिकान्विरिक्तः स्नात्वा घृतप्राशनमाचरेत् । भुक्त्वान्नं पुनर्यदि समनन्तरमेव वमति
तदाचामेदेव, न स्नानघृतप्राशने कुर्यात् । मैथुनं च कृतवतः स्नानं स्मृतम् ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च ॥

पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षुत्वा अनिच्छतो वायुप्रेर्यमाणस्य यो नासिकाच्छिद्रादुपजायते
शब्दः स क्ष्वेथुस्तं कृत्वा । प्रयतोऽपि सन् । एतदध्येष्यमाणपदेनैव सम्बध्यते ।
प्रयतोऽप्यध्येष्यमाण आचम्याधीयीत, अध्ययनविध्यङ्गतयाऽऽचमनं कुर्यादित्यर्थः । स्नाना-
दिभ्यस्त्वनन्तरं सकृदेव । यत्पुनरुक्तम्—“सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च पीत्वाऽपो वै
मुनिस्तथा । आचान्तः पुनराचामेन्निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतं वचः ॥” इति । एवमभिसम्बन्धोऽत्र
कर्तव्यः, ‘आचान्तो भुक्त्वा पुनराचामेत्’ । यत्र पुनर्द्विराचामेदिति पठ्यते तत्रानन्तर्य-
णैकक्रियावृत्तिः ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षुत्वा क्षुतं कृत्वा निष्ठीव्य सश्लेष्मवक्त्ररसं निरस्य प्रयतो-
ऽपि सन्नेकेनाचमनेनापरमप्याचामेदिति द्विराचमनमुक्तम् । अध्येष्यमाण इत्यध्ययनार्थप्रायत्य-
हेतुतया द्विराचमनं विहितम् ॥ १४५ ॥

(३) कुल्लूकः । निद्राभुङ्क्षोजनश्लेष्मनिरसनमृषावादजलपानादि कृत्वाऽध्ययनं चिकीर्षुः शुचिरप्याचामेत् । यत्तु 'भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगिति' (२।५३) तथा 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्त' (२।७०) इति द्वितीयाध्यायोक्तं तद्व्रताङ्गत्वेन । इह तु भुक्त्वाचमनविधानं पुरुषार्थम्, अध्ययनाङ्गतयाचमनविधानं गृहस्थादीनामपीति ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चैते षट्सु पुनराचामेदित्याह सुप्तेति । आचमनं द्विविधं-प्रायश्चित्तार्थं कर्माङ्गं च । 'आचान्तेन कर्तव्य'मिति गोभिलस्मरणात् प्रयतोऽपीत्यनेन कर्माद्यर्थमाचान्त एतेषु जातेष्वाचामेदित्यर्थः । 'च' त्रयमनुक्तरथ्योपसर्पणाद्यर्थम् । प्रयतोऽप्यध्येष्यमाण आचम्याधीयीतेति मेधातिथिः । तत्राप्यध्येष्यमाणश्चाचामेदित्यनेन प्रत्याचमनस्य पूर्वाङ्गत्वप्राप्तेरेतेनाचान्तः पुनराचामेदित्यपि व्याख्या ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । पुनरध्येष्यमाणग्रहणमादरातिशयार्थम् ॥ १४५ ॥

(७) मणिरामः । सुप्त्वा निद्रोत्तरं अनृतानि तानि उक्त्वा मिथ्याभाषणं कृत्वा ॥ १४४ - १४५ ॥

(८) गोविन्दराजः । सुप्तेति । स्वप्नक्षुतभोजनश्लेष्मनिरसनासत्याभिधानोदकपानानि कृत्वाध्ययनं च प्रारिप्सन् शुचिरपि सन्नाचामेत् । तत्र 'भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगिति' द्वितीयाध्याये भुक्त्वाचमनमुक्तं व्रताङ्गत्वार्थमिह तु शौचार्थमुच्यते । तथा वेदाध्ययनं कालेऽप्यध्येषमाणस्त्वाचान्तो वेदमध्येष्यमाणश्चेति द्विभक्तमपीहेतरविधिवत्सार्थं निरूप्यते ॥ १४५ ॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ॥

उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येन पादत्रयेण शुद्धिप्रकरणोपसंहारश्चतुर्थेन वक्ष्यमाणसंक्षेपवचनम् । शौचविधिशब्दः सामान्यशब्दोऽपि द्रव्यशुद्धिसन्निधानाद्गोबलीवर्दवदितरविशेषपरः संपद्यते । स्त्रीणां धर्मा असाधारणस्त्रीकर्तृका एव । यस्तु साधारणो यागादिः स इह नोच्यते ॥ १४६ ॥

(२) सर्वजनारायणः । शौचविधिः देहस्य सर्ववर्णानां याः स्त्रियस्तासां धर्मम् ॥ १४६ ॥

(३) कुल्लूकः । एष वर्णानां जननमरणादौ दशरात्रादिरशौचविधिः समग्नो द्रव्याणां तैजसादीनां चेलादीनां च जलादीनां शुद्धिविधिर्युष्माकमुक्तः । इदानीं स्त्रीणामनुष्ठेयं धर्मं शृणुत ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिज्ञान्तरमेव इति त्रयोदशभिः । स्त्रीणां स्त्रीकर्तृकं धर्मम् ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । शौचविधिः शरीरमलशोधनविधिः ॥ १४६ ॥

(८) गोविन्दराजः । एष इति । एष जननादिशौचविधिः समग्नो द्रव्याणां च तैजसानां शुद्धिः सकला सर्ववर्णानां ब्राह्मणादीनां सम्बन्धिनी युष्माकमुक्ता, अधुना तु स्त्रीणां येऽनुष्ठेया धर्मास्ताञ्छृणुत ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ॥

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वातन्त्र्यं स्त्रीषु कस्यांचिदवस्थायां नास्तीत्युपदेशार्थः । वयोविभागवचनं तु यत्रास्याः पारतन्त्र्यं तत्प्रदर्शनार्थमविवक्षितस्वरूपम् ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योषिता स्वातन्त्र्येण भर्ताद्यननुज्ञया किञ्चिदणुमात्रमपि न कार्यं कार्यम् ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । बाल्ये यौवने वार्धके च वर्तमानया किञ्चित्सूक्ष्ममपि कार्यं भर्ताद्यननुमतं न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यमिति ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । 'गृहेष्वपी'त्यर्थप्राप्तस्यानुवादो न विशेषणं, सर्वेषु कृत्येष्वस्वातन्त्र्य-
स्पष्टत्वात् । किञ्चिदपीत्यन्वयः ॥ १४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीधर्मानाह बालयेति । न स्वातन्त्र्यं स्त्रियाः क्वचिदित्यर्थः
॥ १४७ ॥

(७) मणिरामः । स्वातन्त्र्येण भर्ताद्याज्ञां विना ॥ १४७ ॥

(८) गोविन्दराजः । बालयेति । बालयौवनवार्धक्यावस्थयापि स्त्रिया सूक्ष्ममपि
गृहकार्यं स्वेच्छया न किञ्चिदपि कर्तव्यम् ॥ १४७ ॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ॥

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । तथा चोक्तम्—“तत्सपिण्डेषु वा सत्सु पितृपक्षे प्रभुः स्त्रियाः ।
पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः ॥”

तत्सपिण्डेष्वित्यादिना चासति स्वामिनि कर्तव्यम् ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बाल्य इत्यादि पित्रादिगृहवासकालोपलक्षणम् ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । किंतु बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् । यौवने भर्तुः, भर्तरि मृते पुत्राणां ।
तदभावे 'तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियः । पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता
स्त्रिया मतः ॥' इति नारदवचनात् ज्ञातिराजादीनामायत्ता स्यात् कदाचिन्न स्वतन्त्रा
भवेत् ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वातन्त्र्याभावं व्यनक्ति बाल्य इति । पाणिग्राहस्य भर्तुः
पुत्राणामिति बहुवचनं सपिण्डादिग्रहणार्थं । सर्वत्र 'तिष्ठेद्वशे' इत्यनुषज्यते; 'पिता रक्षती'-
त्युक्तपोषकाभावविषयम् ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । पाणिग्राहस्य भर्तुः ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणिग्राहस्य भर्तुर्वशे यौवने तिष्ठेत् । भर्तरि प्रेते पुत्राणां वशे तिष्ठेत् ॥ १४८ ॥

(७) मणिरामः । किं कर्तव्यं तदाह बाल्ये इति । पाणिग्राहस्य भर्तुः एतेषामभावे पितृभर्तृपक्षीयाणां एतदभावे राज्ञो वशे तिष्ठेन्न स्वतंत्रां कुर्यादित्यर्थः ॥ १४८ ॥

(८) गोविन्दराजः । किं तर्हि बाल्ये इति । पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत स्वतंत्रताम् ॥ बाल्ययौवनभर्तृप्रमीतेषु पितृभर्तृपुत्राणामायत्ता भवेत्तदभावेऽपि ज्ञातिराजायत्ता स्यात् । न तु कदाचित् स्वातन्त्र्यमाश्रयेत् ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाऽपि नेच्छेद्विरहमात्मनः ॥

एषां हि विरहेण स्त्री गृह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । अव्यवस्थानं वचनीयताहेतुः कथितो गृह्ये कुर्यादिति । एषां हि विरहेण निवसन्ती गच्छन्ती वा ग्रामान्तरमित्यध्याहार्यम् ॥ १४९ ॥

(२) सर्वजनारायणः । गृह्ये कुर्यात् व्यभिचारेण उभे कुले पितृभर्तृश्च ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । पित्रा पत्या पुत्रैर्वा नात्मनो विरहं कुर्यात् यस्मादेषां वियोगेन स्त्री बन्धकीभावं गतापि पतिपितृकुले निन्दिते करोति ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चान्यत् पित्रेति । विरहं वियोगं विरहे दण्डमाह तेषामिति । गृह्ये गृह्ययोग्ये ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । उभे कुले पितृभर्तृकुले ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पित्रादीनामेषां विरहेण स्त्री उभे कुले गृह्ये कुर्यात् ॥ १४९ ॥

(७) मणिरामः । उभे कुले पितृपतिकुले ॥ १४८ ॥

(८) गोविन्दराजः । पित्रेति । पितृभर्तृपुत्रैः सर्वदा सर्वैर्यथासंभवं आत्मना विरहिता न स्याद्यस्मादेतद्वियोगेनासती भर्तृपितृकुले निन्दिते करोति ॥ १४९ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्ये च दक्षया ॥

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । अभीक्ष्णवचनः सदाशब्दो नित्यशब्दवत् । नित्यप्रहसितया इति । सत्यप्यन्यत्र क्रोधशोकवेगे भर्तुर्दर्शने मुखप्रसादस्मितनर्मवचनादिना प्रहर्षो दर्शनीयः । कुमार्या भर्तृमत्याश्चायमुपदेशः ।

गृहकार्ये च दक्षया । अर्थसंग्रहव्यययोः धर्मकार्ये स्नानादौ च । “अर्थस्य संग्रहे चैताम्” (९। ११) इत्यादिना गृहकार्यमुक्तम् । तत्र दक्षया चतुरया भवितव्यम् । अन्नसंस्कारादि शीघ्रं निष्पाद्यम् । सुसंस्कृतोपस्करया । ‘उपस्करं’ गृहोपयोगि भाण्डं कुण्डघटिकादि, तत्सुसंस्कृतं सुसंमृष्टं शोभावत्कर्तव्यम् । व्यये च मित्रज्ञात्यतिथ्यभोजनार्थो

धने अमुक्तहस्तया उदारया न भवितव्यम्, न बहु व्ययितव्यमित्यर्थः । सुसंस्कृता-
न्युपस्कराणि यस्या इति बहुव्रीहिः । एवं मुक्तो हस्तो यस्या इति विग्रहः । पञ्चान्नञ्ज-
मासः । रुद्ध्या उदारवचनो 'मुक्तहस्त'शब्दः ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपस्करो गृहोपकरणं तत्सुसंस्कृतं निर्णिकृतं कार्यम् । अमुक्त-
हस्तया संयतहस्तया ॥ १५० ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनया गृहकर्मणि चतुरया सुशोधित-
कुण्डकटाहादिगृहभाण्डया व्यये चाबहुप्रदया स्त्रिया भवितव्यम् ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । तस्याः कृत्यमाह सदेति । प्रहृष्टया प्रहृष्टवदनया
सुसंस्कृतोपस्करया सुष्ठु संस्कृतानि कुण्डकटाहपात्राणि यया तथा तथा अमुक्तौ हस्तौ
बहुव्यये कर्तव्ये यस्याः साऽमुक्तहस्ता तथा ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । उपस्करो गृहोपकरणवर्गो घटपिठरशरावपानभोजनभाजनमुसलोलू-
खलादि ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । व्यये द्रव्यस्य आयव्यये अमुक्तहस्तया संयतहस्तया व्ययपराङ्मुखया
भाव्यमित्यर्थः ॥ १५० ॥

(७) मणिरामः । सुसंस्कृतोपस्करया सुशोधितस्थालीकटाहादिगृहभाण्डया । अमुक्त-
हस्तया बहुदानरहितया ॥ १५० ॥

(८) गोविन्दराजः । सदेति । सर्वदा भर्तरि क्रुद्धेऽपि प्रसन्नवदनया गृहकर्मणि चतुरया
सुसंस्कृतकुण्डकटाहादिभाण्डया व्यये चानुदारया भवितव्यम् ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः ॥

तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । भ्राता वाऽनुमते पितुः । यथैव पित्राऽनुज्ञातस्य भ्रातुर्दातृत्वमेवं
पितुर्निरपेक्षस्यापि दातृत्वश्रुतौ भार्याया अनुमते सति दानं बोद्धव्यम् । सर्वत्र सहा-
धिकारादुभयोश्च दुहितरि स्वाम्यात् । असति पितरि मात्राऽपि देयेति नवमे दर्शितम् ।
मात्रा (ता) पित्रोरपत्यं तन्निमित्तं च स्वाम्यमिति युक्ता इतरेतरापेक्षा । शुश्रूषेत आराधयेत् ।

संस्थितं च मृतं च, न लङ्घयेत् । लङ्घनमतिक्रमणम् । न स्वातन्त्र्येणासीतेत्यर्थः ।
यथा जीवति भर्तरि तत्परवती एवं मृतेऽपि तदैव तत्परतन्त्रया भवितव्यम् । यत आह-
“प्रदानं स्वाम्यकारकम्” । यदैव पित्रा दत्ता तदैव पितुः स्वाम्यं निवर्तते यस्मै दीयते तस्यो-
त्पद्यते । अतश्च न विवाहकाल एव दानं प्रागपि विवाहाद्वरणकाले अस्ति
दानम् ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्राता वेति दानाधिकार्यन्तरोपलक्षणम् । अनुमते पितुरिति
प्रायिकत्वात् । तं संस्थितं मृतं च न लङ्घयेत् व्यभिचरेत् ॥ १५१ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मै पितॄणां दद्यात्पितुरनुमत्या भ्राता वा तं जीवन्तं परिचरेन्मृतं च नातिक्रमेद् व्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहितया पारलौकिककृत्यखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च यस्मै इति । न लङ्घयेत् मृतं च नातिक्रमेत् व्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहितपारलौकिकखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । संस्थितं च न लङ्घयेत् । मृते पत्यौ पुरुषान्तरं न भुञ्जेदित्यर्थः ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । संस्थितं मृतं तत्कर्म न लङ्घयेत् न व्यभिचरेत् ॥ १५१ ॥

(७) मणिरामः । संस्थितं च न लङ्घयेत् मृतभर्तारं श्राद्धतर्पणादिविरहितया तत्पारलौकिकं न खण्डयेत् ॥ १५१ ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मै दद्यादिति । यस्मै पिता पितृनुमते भ्राता एनां दद्यात्तं जीवन्तं परिचरेत्, मृतं च नातिक्रमेत् व्यभिचारेण ॥ १५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ॥

प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिलषितार्थनिष्पत्तिः “मङ्गलं” तत्साधनं तदर्थं प्रयुज्यते । तत्र “प्रजापतेर्यज्ञ” इति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकम् ।

स्वस्ति ईयते प्राप्यते येन तत्स्वस्त्ययनम् । यदस्य प्रियं वस्तु विद्यते तन्न नश्यतीत्यर्थः । आसां स्त्रीणाम् । तेषु विवाहेषु । यज्ञः प्रजापतेर्देवतायाः क्रियते “प्रजापते न त्वदेतान्य” इति विवाहे आज्यहोमाः केषांचिदाम्नाताः ।

उपलक्षणं चैतदन्यासामपि देवतानां पूषवरुणार्थम्याम् । तथाहि तत्र मन्त्रवर्णाः — “पूषणं नु देवं वरुणं नु देवम्” इत्यादयो देवतान्तरप्रकाशनपराः ।

प्रदानादेवासत्यपि विवाहे स्वाम्यमुत्पद्यत इत्येतदत्र ज्ञाप्यते । विवाहयज्ञस्तु मङ्गलार्थं इत्याद्यविवक्षितम् । दारकरणं विवाह इति स्मर्यते । सत्यपि स्वाम्ये नैवान्तरेण विवाहं भार्या भवतीति ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र केनाप्यधिकारिणा यदि न दत्ता बलाद्धोमादिना ब्राह्मणेन स्त्री संस्क्रियते तदापि विप्रस्य तत्र स्वाम्यमस्तीति प्रसंगाद्दर्शयति मङ्गलार्थमिति । यत्पुण्या-हवाचनादि स्वस्त्ययनं तत्र स्वाम्यकारकं; मङ्गलार्थत्वेनान्यार्थत्वात् ‘मनवे तल्प’मिति श्रुतेः कन्यायामन्वक्षितत्वे प्रजापतिदेवतत्वात् कन्याविवाहे यो होमरूपो यज्ञः स प्रजापतेर्यज्ञो भवति, सोऽपि मङ्गलार्थं संपत्त्यर्थं प्रयुज्यते न तु ततः स्वत्वं किं तु सत्स्वधिकारिषु तैर्दानमसत्सु स्वयं वा स्वस्य दानं विप्रस्य स्वाम्यकारकमतो यस्मै दत्ता तमेव न व्यभिचरेदित्यर्थः ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदासां स्वस्त्ययनशान्त्यनुमन्त्रवचनादिरूपं, यश्चासां प्रजापतियागः प्रजापत्युद्देशेनाज्यहोमात्मको विवाहेषु क्रियते तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्त्यर्थं कर्म । यत्पुनः

प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं, तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकं, ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा । तस्मात्तं श्रयेतेति पूर्वोक्तशेषः । यत्तु अष्टमे वक्ष्यते 'तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (८।२२७) इति तद्भार्यात्वसंस्कारार्थमित्यविरोधः ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च मङ्गलेति । 'पूषणं नु देवं वरुणं नु देव'मित्यादिमन्त्रवाचनादि-पुरःसरं प्रजापत्युद्देशेनाज्यहोमात्मको विवाहेषु क्रियते यो यज्ञः तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्त्यर्थं स्वस्ति मङ्गलमीयतेऽनेनेति स्वस्त्ययनं यथा स्यात्प्रदानं वाग्दानं तद्भर्तुः स्वाम्यकारणं विवाहं विना न स्वाम्यमात्रेण भार्यात्वमिति भावः ॥ १५२ ॥

(५) नन्दनः । कदायं भर्ता भवतीति चेत्प्रदानात्प्रभृत्येवेत्याह मङ्गलार्थमिति । स्वस्त्ययनं वैवाहिकं मन्त्रक्रियारूपम् । प्रजापतेर्यज्ञः प्राजापत्यो होमश्च यद् द्वयमासां स्त्रीणां विवाहेषु मङ्गलार्थं प्रयुज्यते, न स्वामित्वार्थम् । स्वाम्यकारणं स्वामित्वकारकं प्रदानमेव प्रदानात्प्रभृति स्वामिपारतन्त्र्यं युक्तमिति भावः ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वस्त्ययनं स्वस्तिवाचनं आसां यज्ञः विवाहहोमः प्रजायते, कन्याया अधिदेवतायाः स्वाम्यकारकं स्वामित्वकारकम् ॥ १५२ ॥

(७) मणिरामः । आसां स्त्रीणां । स्वस्त्ययनं शांत्यनुमन्त्रवाचनादिरूपं । प्रजापतियागः प्रजापत्युद्देशेन विवाहेषु होमः । एतत्सर्वं मंगलार्थं । प्रदानं वाग्दानं तु स्वाम्यकारणं भर्तुः स्वाम्यजनकं तस्माद्वाग्दानानंतरं स्त्री भर्तृपरतन्त्रा सती तं अयेतेति पूर्वोक्तशेषः ॥ १५२ ॥

(८) गोविन्दराजः । मङ्गलार्थमिति । यदासां स्वस्त्ययनं शान्त्यादिमन्त्रवाचनं हि प्रजापतियागश्च विवाहेषु क्रियते तन्मङ्गलार्थमभीष्टार्थं संपत्त्यर्थं न तु भर्तुः स्वत्वापादनार्थं यत्प्राप्तिविवाहात् यद्वाग्दानं तद्भर्तुः स्वाम्यजनकं; एवं च वाग्दानतः प्रभृत्यासां भर्तृपारतन्त्र्यं न विवाहात् ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ॥

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वत्रैव प्रतिषिद्धवर्जमिति अनृतावपि सुखस्य दाता । मन्त्रसंस्कारो विवाहविधिस्तस्य कर्ता मन्त्रसंस्कारकृत् । परलोके च पत्या सह धर्मोऽधिकाराच्च तत्फलावाप्तेः परलोकसुखस्य दातेत्युच्यते ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यो दानानन्तरं मन्त्रतः पाणिग्रहणादिसंस्कारकृत्पतिः सोऽनृता मैथुनेनेह सुखस्य ऋतौ च प्रजोत्पादनद्वारा परलोके सुखस्य दाता । उपपत्तिस्त्वैव सुखस्य दातेति न भर्तारं व्यभिचरेदित्यर्थः ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यतः मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तत्कर्ता भर्ता 'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्ज'मिति गौतम (श्री. स्मृ. ५।१) वचनादृतुकालेऽज्यदा च नित्यमिह लोके च सुखस्य दाता तदाराधनेन च स्वर्गादिप्राप्तेः परलोकेऽपि सुखस्य दातेति ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनृतौ मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तस्य कर्ता ऋतावपि 'गर्भं धेहि सिनीवाली'त्यादिमन्त्रेण यः संस्कारस्तस्यापि कर्ता अतः ऋतावुपगच्छेदिति शेषः । उभयत्र-गच्छेद्वा । 'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्ज'मिति गौतमवचनात् । अत्रापि तद्व्रतो रतिकाम्ययेत्युक्तं पतिं विनोभयत्र सुखाहतिरित्याह सुखस्येति ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । अनृतावृतुकाले च सर्वदेत्यर्थः ॥ १५३ ॥

(७) मणिरामः । मन्त्रसंस्कारकृत्यतिः विवाहकर्ता पतिः । यस्मात्सर्वदा सुखदाता तस्माद्विशालादिदोषयुक्तोऽपि साध्व्या स्त्रिया सततं सर्वदा देववत् पतिः उपचर्यः आराधनीय इत्यग्निमेणान्वयः । विशालः सदाचारशून्यः ॥ १५२-१५३ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनृताविति । यो विवाहकृद्भूता 'सर्वत्र वा प्रीतिविवर्जित' इति गौतमदर्शनादृतुकाले अन्यदा च स्त्रिया नित्यमिह लोके च सुखस्य दाता तदाराधनेनैव च स्वर्गादिलोकप्राप्तेः परलोके च सुखस्य दाता ॥ १५३ ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ॥

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

[दानप्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता ।

भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । द्यूतातिसक्तो विशालः । कामप्रधानं वृत्तमस्येति कामवृत्तः । गुणैर्वा परिवर्जितः श्रुतधनादिगुणविहीनः । उपचर्यः आराधनीयः ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विशालो निष्ठुरः । कामवृत्तः अप्रतिनियतः स्व्यन्तरसक्तः । गुणैर्विद्यादिभिः ॥ १५४ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मात् विशाल इति । सदाचारशून्यः स्व्यन्तरानुरक्तो वा विद्यादिगुणहीनो वा तथापि साध्व्या स्त्रिया देववत्पतिराराधनीयः ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च विशाल इति । कामवृत्तः निवृत्तकामः परदाररतो वा । उपचर्यः सेव्यः ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । देववदेवतेव । दानात्प्रभृति सततमापद्यपि समाहिता भर्तृलोकानाप्नोतीत्युत्तरत्र संबन्धः ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विशालः शीलरहितः, निष्ठुर इत्यर्थः । कामवृत्तः अन्यस्त्रीसक्तः गुणैः विद्यादिभिः परिवर्जितः ॥ १५४ ॥

(८) गोविन्दराजः । विशाल इति । दुराचारो भार्यान्तरासक्तो वा विद्यानुष्ठानादिवर्जितो वा तथापि साध्व्या स्त्रिया सर्वदा देव इव पतिराराधनीयः ॥ १५४ ॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ॥

पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गं महीयते ॥ १५५ ॥

[पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ॥

आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । भर्ता विना कृतानां यज्ञाधिकारो नास्तीत्येतदसकृत्प्रतिपादितम् । तेन व्रतोपवासावपि कुर्वती तदनुज्ञां गृह्णीयात् । व्रतं मद्यमांसादिनिवृत्तिसंकल्पः, न तु कृच्छ्राणि । तत्र जपहोमयोरङ्गत्वात्तदभावाच्च स्त्रियाः । न च वक्तुं युक्तं “जपहोमविकलं कृच्छ्रानुष्ठानमस्या भविष्यति” । न हि स्वेच्छयाऽङ्गत्यागो युक्ताः; सर्वाङ्गकल्पयुक्तस्य कर्मणोऽभ्युदयसाधनत्वेनावगतत्वात् । न हि पुरुषशक्तिभेदापेक्षयाऽङ्गानामुपचयापचयौ भवतः । सन्ति च सर्वाङ्गोपसंहारेण सवर्णास्त्रैवर्णिगाः प्रयोगमनुष्ठातुम् । अतो न स्त्रीशूद्रस्याभ्युदयकामस्य कृच्छ्रेष्वधिकारः । प्रायश्चित्तेषु विशेषं वक्ष्यामः । उपोषितं उपवासः आहारविच्छेद एकरात्रद्विरात्रादिषु । शुश्रूषते परिचरति ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृथक् भर्ता विना न यज्ञः, तथा व्रतं चान्द्रायणादि । उपोषणं देवताप्रीत्यर्थमुपवासः । पृथक् स्वातन्त्र्येण पत्यौ जीवति नास्ति । येन कर्मणा पतिं शुश्रूषते सेवते तेन कर्मणा ॥ १५५ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माच्च नास्ति स्त्रीणामिति । यथा भर्तुः कस्याश्चित्पत्न्या रजोयोगादिना अनुपस्थितावपि पत्यन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः, तथा न स्त्रीणां भर्ता विना यज्ञसिद्धिः । नापि भर्तुर्नुमतिमन्तरेण व्रतोपवासौ किं तु भर्तृपरिचर्ययैव स्त्री स्वर्गलोके पूज्यते ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च नास्तीति । न व्रतमुपोषितमुपवासः भर्तुराज्ञां विना व्रतोपवासौ न स्तः येन विनयादिना ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । पतिशुश्रूषां विना स्त्रीणां यज्ञो नास्ति, शुश्रूषैव यज्ञः स्त्रीणामित्यर्थः । तेन शुश्रूषणेन यज्ञप्रतिनिधिनेत्यभिप्रायः ॥ १५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा भर्तुः कस्याश्चित्पत्न्या रजोयोगादिनाऽसंनिधावपि पत्यन्तरेण यज्ञादिनिष्पत्तिस्तथा न स्त्रीणां भर्ता विना तदाज्ञया च विना यज्ञादिसिद्धिः, किंतु भर्तृशुश्रूषयैव स्त्री स्वर्गे पूज्यते इत्यर्थः ॥ १५४-१५५ ॥

(७) गोविन्दराजः । यथा भर्तुर्भार्यान्तरमवलम्बनेन यज्ञकरणमस्ति, नैवं भर्तारं विना स्त्रीणां यज्ञोऽस्ति, न च तदनुज्ञातानां कृच्छ्रादिरुपवासो विद्यते । किं तर्हि ? भर्तृपरिचरणेन स्वर्गे महिमानं प्राप्नोमि । तस्मात्परलोकोपायान्तरं यस्माच्च भावात् ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ॥

पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । पत्युर्लोकः पत्या सह धर्मानुष्ठानेन योर्जितः स्वर्गादिः स पतिलोकः तमभीप्सन्ती प्राप्नुकामा । नाचरेत्किंचिदप्रियं परपुरुषसंसर्गादिशास्त्रप्रतिषिद्धम् । न हि मृतस्य किं प्रियमप्रियं वा शक्यमवसातुम् । न च जीवतो यत्प्रियं तदेव मृतस्य;

भवान्तरोपपन्नानां तु प्रीतिभेदात् । तस्माद्यत्प्रतिषिद्धं स्वातन्त्र्यं तदेवाप्रियम्, तन्ना-
चरेत् ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृतस्यापि तदप्रियं यज्जीवनकाले न प्रियम् ॥ १५६ ॥

(३) कुल्लूकः । पत्या सह धर्माचरणेन योज्जितः स्वर्गादिलोकस्तमिच्छन्ती साध्वी स्त्री
जीवतो वा मृतस्य वा भर्तुर्न किञ्चिदप्रियमर्जयेत् । मृतस्याप्रियं व्यभिचारेण विहितश्राद्ध-
खण्डनेन च ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह नाचरेत् किञ्चिदप्रियमिति । अविनयं श्राद्धा-
द्यभावम् ॥ १५६ ॥

(८) गोविन्दराजः । पाणिग्राह्येति । भर्ता सह धर्माचरणेन योज्यते स्वर्गादिलोकत्व-
माप्तुकामा साध्वी स्त्री भर्तुर्जीवतो मृतस्य वा अप्रियं व्यभिचारादि न किञ्चिदाचरेत्, वृत्त्य-
संभवेऽपि च ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥

न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । पुंवत्स्त्रीणामपि प्रतिषिद्ध आत्मत्यागः । यदप्याङ्गिरसे
“पतिमनुम्रियेरन्” इत्युक्तं तदपि नित्यवदवश्यं कर्तव्यम् । फलस्तुतिस्तत्रास्ति ।
फलकामायाश्चाधिकारे श्येनतुल्यता । तथैव “श्येनेन हिंस्याद् भूतानि” इत्यधि-
कारस्यातिप्रवृद्धतरद्वेषान्धतया सत्यामपि प्रवृत्तौ न धर्मत्वम्, एवमिहाप्यतिप्रवृद्ध-
फलाभिलाषायाः सत्यपि प्रतिषेधे तदतिक्रमेण मरणे प्रवृत्त्युपपत्तेर्न शास्त्रीयत्वम् ।
अतोऽस्त्येव पतिमनुमरणेऽपि स्त्रियाः प्रतिषेधः । किञ्च “तस्माद् दुःखं न पुरायुषः
प्रयादिति” प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे स्मृतिरप्येषा अन्यार्था शक्यते कल्पयितुम् । यथा
“वेदमधीत्य स्नायात्” इत्यध्ययनानन्तरमकृतार्थावबोधस्य स्नानस्मरणम् ।

अतो मृतपतिकाया अनपत्याया असति भर्तृधनादौ दायिके च कर्तनादिना च केनचिदुपा-
येन जीवन्त्या जीवितस्यातिप्रियत्वात्तदुपेक्षणस्याशास्त्रत्वात्प्रतिषिद्धत्वादापि सर्वव्यभि-
चाराणां “विश्वामित्रजाघनीम्” इत्यादिनाऽनुज्ञातत्वाद् व्यभिचारोपजीविताप्राप्ताविदमुच्यते ।
कामस्यामवस्थायां शरीरं क्षपयेत् क्षयं नयेत् पुष्पमूलफलैर्यथोपपादं वृत्तिं विदधीत ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पतिर्मे त्वमेवाद्येत्यन्यस्य ।

यत्तु— “नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबेऽथ पतिते पतौ । पञ्चस्वापत्सु नारीणां
पतिरन्यो विधीयते ॥” इति— तत्र पालनात्पतिमन्यमाश्रयेत्, सैरन्ध्रकर्मादिनाऽऽत्म-
वृत्त्यर्थम् । नवमे च निपुणं निर्णेष्यते । प्रोषितभर्तृकायाश्च स विधिः । कामशब्द-
प्रयोगोऽरुचिसंसूचनार्थम् । देहक्षपणमप्यकार्यमिदं त्वन्यदकार्यतरं यदन्येन पुरुषेण
संप्रयोगः ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्यस्याजीवनोपायमविधायैव भर्ता मृतस्तदापि जीवनोचित-
धनाद्यर्थं न व्यभिचरेदित्यर्थः । न नामापि गृह्णीयात् वचसापि तवाहमिति न ब्रूयात् ॥ १५७ ॥

(३) कुल्लूकः । वृत्तिसंभवेऽपि पुष्पमूलफलैः पवित्रैश्च देहं क्षपयेदल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात् । न च भर्तरि मृते व्यभिचारधिया परपुरुषस्य नामाप्युच्चारयेत् ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च काममिति । तद्देहं क्षपयेदित्यन्वयः । नामापीति व्यभिचारधिया 'श्रवणं कीर्तनं केलि'रित्यत्र नामग्रहणस्यापि मैथुनाङ्गत्वोक्तेः ॥ १५७ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यपि नान्यं भजेदित्याह काममिति । शुभैरनिषिद्धैः कदल्यादिपुष्पमूलफलैर्देहं क्षपयेद्यापयेत् ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । परस्य अन्यस्य नामापि न गृह्णीयात्, किं पुनः अत्यल्पशीलाचरणादि ॥ १५७ ॥

(७) मणिरामः । देहं क्षपयेत् अल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात् ॥ १५७ ॥

(८) गोविन्दराजः । कामं त्विति । पुष्पमूलफलैः पवित्रैर्वरं देहं क्षपयेत् न वृत्त्यर्थं व्यभिचारबुद्ध्या परस्य नामापि उच्चरेत् ॥ १५७ ॥

आसीता मरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ॥

यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थो विस्पष्टीक्रियते । आ मरणाद्ब्रह्मचारिण्यासीत । अस्यामापदि न व्यभिचारेणात्मानं जीवयेत् ।

क्षान्ता तत्कृतं दुःखमवधीरयन्ती । न ब्रह्मचर्यं क्षुद्रतृकृत्यं येन चित्तं कल्लोलेन खण्डयेत् । एकः पतिर्यासां ताः, एकस्य वा पत्न्यः 'एकपत्न्यः' तासां सावित्रीप्रभृतीनां यो धर्मः, यस्य फलं वरदानाभिशापादिषु शक्ता, तं कांक्षन्ती कामयमाना ब्रह्मचर्यं न जह्यात् । अस्यामवस्थायां मूलफलाशिन्या यदि भवति मरणं ततो न दोषः ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आ मरणात् स्वस्य । क्षान्ता क्लेशसहा । नियता भोजनादिसंयमवती । ब्रह्मचारिणी अनुत्पन्नापत्यवत्यपि त्यक्तमैथुना, न तु पत्युरात्मनैवोपकारबुद्ध्या पुत्रोत्पत्त्यर्थं पुरुषान्तरं गच्छेदित्यर्थः । यो धर्म एकपत्नीनामेकपत्तिनियमे यो लभ्यः । अनुत्तमं प्रजोत्पादनलभ्याद्वर्माच्छ्रेष्ठं धर्मम् ॥ १५८ ॥

(३) कुल्लूकः । एवं च सति आसीतेति । क्षमायुक्ता नियमवत्येकभर्तृकानां यो धर्मः प्रकृष्टतमस्तमिच्छन्ती मधुमांसमैथुनवर्जनात्मकब्रह्मचर्यशालिनी मरणपर्यन्तं तिष्ठेत् । अपुत्रापि पुत्रार्थं न परपुरुषं सेवेत् ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षान्ता उद्विक्तकामापि क्षमाशीला । नियता नियमवती पुंवार्ताविरहिता ब्रह्मचारिणी । 'ताम्बूलं विधवास्त्रीणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम् । प्रत्येकं मांसतुल्यं स्यात् मिलितं तु सुरासमम्' इत्युक्तमधुमांसताम्बूलादिनिषेधपरा । एकपत्नीनामेकभर्तृकाणां यो धर्मस्तं अनुत्तमं न विद्यते उत्तमो धर्मो यस्मात् सोऽनुत्तमस्तम् ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । क्षान्ता दुःखसहिष्णुः ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकपत्नीनां पतिव्रतानां पतिधर्मपरायणानां यो धर्मः तं धर्मं अनुत्तमं कांक्षन्ती ॥ १५८ ॥

(७) मणिरामः । एकपत्नीनां एकभर्तृकानां यो धर्मः तं कांक्षन्ती आ मरणं आसीत्; न तु अपुत्रा पुत्रार्थं परपुरुषं सेवेत् ॥ १५८ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवं च आसीतेति । एकभर्तृकाणां यो धर्मस्तं सर्वधर्मोत्कृष्ट-मभिलषन्ती आ मरणात्क्षुब्धः सहमानाऽनन्यमनस्का पुंसः प्रयोगं वर्जयेत् । न चापत्यार्थ-मपि प्रीतिमयेनान्तरेण तिष्ठेत् ॥ १५८ ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ॥

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोणापदि जीविकार्थः परपुरुषसंसर्गो निषिद्धोऽनेन पुत्रार्था प्रवृत्तिर्निषिध्यते । एवं किल श्रूयते “नापुत्रस्य लोकोऽस्ति” इति । लिङ्गं च तत्रा-विश्रितमतः पुत्रार्थे प्रसङ्ग इदमुच्यते । बहूनि सहस्राणि ‘कुमारा एव ब्रह्मचारिणोऽकृत-दारा नैष्ठिकास्तेषामनेकानि सहस्राणि दिवंगतानि स्वर्गं प्राप्नुवन्ति । नियोगस्तु नवमे (श्लो. ५९) गुर्विच्छया विहितः, नात्मतन्त्रतया पुत्रार्थिन्याः । अकृत्वा कुलसन्ततिं कुलवृद्धयर्थं संततिस्तामकृत्वा’ पुत्रानजनयित्वेत्यर्थः । अनेकानीति नवसमासस्योत्तर-पदार्थप्राधान्येन बहुवचनं चिन्त्यम् । सत्यप्येकत्वप्रतिषेधे द्वयादिसंख्यावचनं दुर्लभम् । तथा ह्ययं स्वधर्मविशेषेण परित्यक्तस्वगतिकत्वेनाच्छादितद्रूपोऽप्यतिदीर्घसंख्याविशेषा-नाचष्टे— यथा मोदो ग्राम इति । उक्तं च चूर्णिकाकारेण “अनेकस्मादिति सिध्यतीति” । एकवचनप्रयोगशिष्टिसिद्धिं दर्शितवान् । असहायवचनो वाऽयमनेकशब्दः । असहायानि गतानि, भार्या सहायभूता एषां नासीदित्यर्थः ॥ १५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेव प्रपंचयति बहूनि हीति । कौमारादारभ्य ब्रह्म-चारिणाम् । कुलस्य स्वकुलजस्य संहतिं परंपराम् ॥ १५९ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् अनेकानीति । बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदाराणां सनकबालखिल्यादीनां ब्राह्मणानां बहूनि सहस्राणि कुलवृद्धयर्थं संततिमनुत्पाद्यापि स्वर्गं गतानि ॥ १५९ ॥

(४) राघवानन्दः । ऊर्ध्वरेतसां ये लोकास्ते लोका अस्या इत्याह अनेकेति द्वाभ्याम् । अकृत्वा कुलसन्ततिं विरक्तनैष्ठिकानां दाराकरणे न दोष इति ध्वनितं । तान् फलवादेनावर्ज-यति ते यथा स्वर्गलोकं गच्छन्ति ब्रह्मचर्येण विन्दत इति श्रुतेः । तथेयमपीत्यन्वयः ॥ १५९ ॥

(५) नन्दनः । मृतभर्तृका पुत्रहीनापि ब्रह्मचर्येण स्वर्गं गच्छतीति निदर्शनं श्लोक-द्वयेनाह अनेकानीति । कुमारब्रह्मचारिणां कौमारात्प्रभृत्यामरणं ब्रह्मचारिणाम् ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह अनेकेति । कौमारब्रह्मचारिणां विप्राणामनेकानि सहस्राणि अकृत्वा कुलसन्ततिं दिवं गतानि ॥ १५९ ॥

(७) मणिरामः । ननु पुत्रं विना स्वर्गं कथं भविष्यतीत्याह अनेकेति । कुमार-
ब्रह्मचारिणां सनकवालखिल्यादीनां ॥ १५८-१६० ॥

(८) गोविन्दराजः । अनेकानीति । बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदारणां बाल-
खिल्यानां ब्राह्मणानां पुराणोपवर्णितानां बहुसहस्राण्यष्टाशीतिकुलवृद्धचर्यमपत्यान्य-
नुत्पाद्यैव स्वर्गं गतानि ॥ १५९ ॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ॥

स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थो भूय उच्यते प्रतिपत्तिदाढ्यार्थम् ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साध्वी मनसाप्यव्यभिचारिणी । अतः पुत्रेण विनाप्युत्तम-
लोकलाभान्न प्रजार्थमपि व्यभिचरेदित्यर्थः ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । साध्वाचारा स्त्री मृते भर्तर्यकृतपुरुषान्तरमैथुना पुत्ररहिताऽपि
स्वर्गं गच्छति, यथा ते सनकवालखिल्यादयः पुत्रशून्याः स्वर्गं गताः ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । एतादृश्याः पुत्रेणालमित्याह अपुत्रापीति ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । साध्वी स्त्री मृते भर्तरि ब्रह्मचर्येऽवस्थिता अपुत्रापि स्वर्गं गच्छति.
यथा ते ब्रह्मचारिणः स्वर्गं गताः ॥ १६० ॥

(८) गोविन्दराजः । मृत इति । साध्वी स्त्री मृते भर्तरि अकृतपुंसं प्रयोगा अपुत्रापि
सती स्वर्गं प्राप्नोति । यथा ते बालखिल्याद्या ब्रह्मचारिणः प्राप्ताः, दृष्टोपकारापेक्षयापि च
॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ॥

सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । 'पुत्रो मे जायता'मित्यभिलाषः सोऽपत्यलोभस्ततो हेतोर्था
भर्तारमतिक्रम्य वर्ततेऽन्येन सम्प्रयुज्यते । सा इह लोके निन्दां गृही प्राप्नोति, स्वर्गं न
प्राप्नोति ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिवर्तते व्यभिचरति । पतिलोकात् पतिशुश्रूषालभ्य-
लोकात् ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । 'पुत्रो मे जायतां तेन स्वर्गं प्राप्स्यामि' इति लोभेन या स्त्री भर्तारमति-
क्रम्य वर्तते, व्यभिचरतीत्यर्थः । सेह लोके गृही प्राप्नोति, परलोकं च स्वर्गं तेन पुत्रेण न लभते
॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । विपरीते दण्डमाह अपत्येति । गुर्वनुज्ञां, विनेति शेषः, स्वर्ग-
लोकवत् प्रापयति लोकात् ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । अपत्यहेतोः स्त्रीणामन्यपरिग्रहे दोषमाह अपत्येति ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुत्रस्य लोभाद्या स्त्री भर्तारमतिवर्तते अतिक्रम्यान्वत्त गच्छति सा निन्दामाप्नोति ॥ १६१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अपत्यलोभादिति । या स्त्री अपत्यलोभातिशया भर्तारमतिक्रि-
(क्र) म्य वर्तते व्यभिचरति सा इह लोके गृही प्राप्नोति, भर्ता सहाजितं स्वर्गादिलोकं न प्राप्नोति । किं चापत्यमपि तत्तस्या न भवति ॥ १६१ ॥

नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चान्यस्य परिग्रहे ॥

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भूतोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्येन भर्ता या उत्पादिता प्रजा सा नैव तस्याः प्रजा । अन्यदारेषु च या पुंसोत्पादिता साऽपि तस्य न भवति ॥ १६२ ॥

(२) सर्वजनारायणः । अन्येन भर्तुरन्येनोत्पन्नोत्पादिता न प्रजास्ति स्त्रियाः । नचान्यस्य परिग्रहे भार्यायामुत्पन्ना प्रजा पुरुषस्यास्तीति प्रसंगादुक्तम् । नचैकस्मादन्योऽपि भर्ता भवति, येन तदुत्पन्ना प्रजापि नान्योत्पन्नेत्याह न द्वितीय इति ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रैव हेतुमाह नान्योत्पन्नेति । यस्माद्भर्तृव्यतिरिक्तेन पुरुषेणो-
त्पन्ना सा प्रजा तस्याः शास्त्रीया न भवति । न चान्यपत्यामुत्पादितोत्पादकस्य प्रजा भवति । एतच्चानियोगोत्पादितविषयम्; बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धेः । द्वितीयोऽपि भर्तैव तस्माद-
न्योत्पादित्वमसिद्धमित्याशङ्क्याह नेति । लोके गृहीप्रसिद्धावपि साधवाचाराणां न क्वचि-
च्छास्त्रे, द्वितीयोपभर्तोपदिश्यते । एवं च सति पुनर्भूत्वमपि प्रतिषिद्धम् ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । साध्वीति विशेषणान्नस्यानियुक्तता, कुतोऽस्याः साध्वीत्वं तत्र हेतुर्नान्येति । नाप्यन्यस्य परिग्रहे अन्यस्य परिग्रहे न वर्तते । अन्योऽस्याः परिग्रहीता न भवतीति भर्ता गर्भस्येति शेषः ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । अपत्यहेतोः स्त्रीणामन्यपरिग्रहवर्जने हेतुमाह नान्योत्पन्नेति । अन्योत्पन्ना प्रजेह स्त्रीषु नास्ति, स्त्रीणामन्योत्पन्ना प्रजा कार्याय न कल्पत इत्यर्थः । अन्य-
परिग्रहेऽन्यस्यां भार्यायामन्योत्पन्ना प्रजा नास्त्युत्पादकस्य, प्रजाकार्याय न कल्पत इत्यर्थः । अस्योन्यासो दृष्टान्तार्थः । क्वचिच्छास्त्रे साध्वीनां द्वितीयो भर्ता नोपदिश्यते । आभ्या-
मपि हेतुभ्यामप्रजासापि स्त्रियाजन्यपरिग्रहो न कर्तव्य इति ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्योत्पन्ना परपुरुषोत्पन्ना स्त्रीणां प्रजा न भवेत्, युक्ता न भवे-
दित्यर्थः । च पुनः अन्यपरिग्रहेऽपि न प्रजा युक्ता भवेत् ॥ १६२ ॥

(७) मणिरामः । यस्मात् इह लोके अशास्त्रीया परपुरुषोत्पन्ना प्रजा सा तस्या न भवति, तथा परस्त्रियामुत्पन्ना प्रजा उत्पादकस्य न भवति; तस्मादपत्यलोभात् भर्तुरतिक्रमो न भवति कर्तव्यः । कृते तु निन्दामवाप्नोति, पतिलोकाच्च हीयत इति पूर्वोणा-
न्वेति । ननु बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धेः परपुरुषोऽपि भर्तैव । तस्मान्नान्योत्पादितत्वं सिद्धं इत्याशङ्क्याह न द्वितीय इति । क्वचित् शास्त्रे ॥ १६२ ॥

(८) गोविन्दराजः । नान्योत्पन्ना इति । भर्तृव्यतिरिक्ततया उत्पादिता प्रजा सेह शास्त्रे, तस्मात्पौनर्भवसंस्कारादियोगेनापि न भर्तृन्तरमाश्रयणीयम् ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ॥

निन्द्यैव सा भवेत्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । न केवलं निन्दामेव येन— ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न च यस्मै दत्ता तस्यापकृष्टकुलत्वे उत्कृष्टकुलभर्ताश्रयणं कार्यमित्याह पतिमिति । वर्तमानभर्तुः परोऽन्यः पूर्वो भर्ता यस्याः सा परपूर्वा ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । अपकृष्टं क्षत्रियादिकं स्वकीयं पतिं त्यक्त्वोत्कृष्टं ब्राह्मणादिकं याऽऽश्रयति सा लोके गर्हणीयैव भवति । परोऽन्यः पूर्वो भर्ताऽस्या अभूदिति च लोकैरुच्यते ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च पतिमिति । स्वपतिं धनादिहीनतया निकृष्टमपि परपूर्वा परं भर्तृन्तरं पूर्वस्मिन्काले यस्याः सा ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । अपकृष्टोऽपि साध्व्या पतिर्न हातव्य इत्याह पतिमिति ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । या स्त्री स्वपतिमवकृष्टं पुंस्त्वरहितं हित्वा उत्कृष्टमन्यं निषेवते सा परपूर्वेत्युच्यते ॥ १६३ ॥

(७) मणिरामः । परपूर्वालक्षणमाह पतिमिति । अपकृष्टं क्षत्रियादिकं, उत्कृष्टं ब्राह्मणादिकं ॥ १६३ ॥

(८) गोविन्दराजः । पतिमिति । या क्षत्रियादिका स्वं पतिं परित्यज्य उत्कृष्टं ब्राह्मणादिकमाश्रयति सा उत्कृष्टसेवनेनापि गर्हणीयैव लोके भवति । परोऽन्यो भर्ता पूर्वो यस्याः सा परपूर्वेत्येवं च लोके उच्यते ॥ १६३ ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ॥

शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । अतो नातिचरेद्भर्तारं दृष्टादृष्टफललोभेन ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र परपूर्वात्वे दोषमाह व्यभिचारादिति । लोके परलोके ॥ १६४ ॥

(३) कुल्लूकः । व्यभिचारफलमाह व्यभिचारेति । परपुरुषोपभोगेन स्त्रीह लोके गर्हणीयतां लभते, मृता च शृगाली भवति, कुष्ठादिरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च भर्तुर्व्यभिचारादुल्लङ्घनात् पापरोगैः कुष्ठशिवत्रादिभिः ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भर्तुः सकाशात् ॥ १६४ ॥

(७) मणिरामः । भर्तुः व्यभिचारात् परपुरुषोपभोगेन । पापरोगैः कुष्ठादिभिः संपीडयते ॥ १६४ ॥

(८) गोविन्दराजः । व्यभिचारात्त्विति । नरान्तरसंपर्कात्तु स्त्री इह लोके गर्हतां जन्मान्तरे च सृ(शृ)गालयोनिं प्राप्नोति । अत्यन्तकूरैश्च कुष्ठादिरोगैः संपीडयते ॥ १६४ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ॥

सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नाभिचरति न व्यभिचरति । मनःसंयमो मनसः पर-
पुरुषस्यास्मरणम् । वाक्संयमः तस्य स्वभर्तृतो गुणातिशयानभिधानम् । देहसंयमः तद-
संस्पर्शः ॥ १६५ ॥

(३) कुल्लूकः । मनोवाग्देहसंयतेति विशेषणोपादानाद्या मनोवाग्देहैरेव भर्तारं न
व्यभिचरति सा भर्तृमात्रनिष्ठमनोवाग्देहव्यापारत्वाद्भर्ता सहाजिताल्लोकान्प्राप्नोति, इह च
शिष्टैः साध्वीत्युच्यते । वाङ्मनसाभ्यामपि पतिं न व्यभिचरेदिति विधानार्थो दैहिकव्यभि-
चारनिवृत्तेरुक्ताया अप्यनुवादः ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च यथोक्तं विधाना स्यात्तस्या उभयत्र सुखमित्याह पति-
मिति ॥ १६५ ॥

(७) मणिरामः । मनोवाग्देहसंयता मनोवाग्देहैः या न व्यभिचरति ॥ १६५ ॥

(८) गोविन्दराजः । मतिमिति । या मनोवाग्देहसंयुता सती तैर्वाङ्मनोदेहैः पतिं
न व्यभिचरति सा भर्ता सह अर्जितान् स्वर्गादिलोकान् प्राप्नोतीह विशिष्टैः साध्वीत्युच्यते ।
इति वाङ्मनसतिरासार्थमुक्तं पुनर्वचनम् ॥ १६५ ॥

अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ॥

इहाग्न्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रीधर्मोपसंहारश्लोका ऋजवश्च स्त्रीधर्मा इत्यतो मयाऽत्र
व्याख्यानान्तरः कृतः ।

एतावत्तत्रोपदेशार्थः । यथा पुंसोऽन्यया सह पुनःप्रवृत्तिकर्म नेह “संस्थितं च न
लङ्घयेत्” इत्यनेन न्यायेन पुनः सहप्रवृत्तिरिति, तथा “स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि” इत्यनेनापत्य-
जननमापदि प्रतिषिध्यते—नियोगस्मृत्या तु तत्पुनरभ्यनुज्ञास्यते—तदेतदपत्योत्पादन-
मुक्तप्रतिषिद्धत्वादिकल्प्यते । अनयोस्तु स्मृत्योः कतमा स्मृतिर्ज्यायसीति न शक्यं कर्तुमिति-
शयावधारणं येनैकतापत्यमन्यत्रास्याः संयमः । उभयोरपि वस्तु निर्वहति ॥ १६४ — १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पतिलोकं परत्र चेति परत्र यः पतिलोकः पतिपरिचर्याभ्यो
लोकस्तं प्राप्नोति ॥ १६६ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन स्त्रीधर्मप्रकारेणोक्तेनाचारेण पतिशुश्रूषाभर्तव्यभिचारादिना मनोवाक्कायसंयता स्त्रीह लोके प्रकृष्टां कीर्तिं परत्र पत्या सहाजितं च स्वर्गादिलोकं प्राप्नोतीति प्रकरणार्थोपसंहारः ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च अनेनेति । नारीवृत्तेन नार्युक्तशीलेन । अग्रां श्रेष्ठां परत्र मृतौ पतिलोकमाप्नोतीत्यन्वयः ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनेन वृत्तेन भर्तृशुश्रूषणेन ॥ १६६ ॥

(७) मणिरामः । परलोके पतिलोकं प्राप्नोति ॥ १६६ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनेनेति । मनोवाक्कायसंयतया नार्यानेन पूर्वोक्तेनाचारेणेह लोके श्रेष्ठां कीर्तिं पतिलोकं च परलोके प्राप्नोतीत्युपसंहारार्थम् ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ॥

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । न्यायप्राप्तानुवादः श्लोकः ।

एवं तस्याः साध्वीत्वाद्युक्त एवात्राग्निहोत्रिणः संस्कारः । “न वाऽग्नयो ह वा एते पत्न्यां प्रमीतायां धार्यन्ते” इति ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंवृत्तां साध्वीं सवर्णां पूर्वमारिणीं स्वस्मात्पूर्वमृतां दाहयेत्तस्याः पुत्रेण कर्त्ता । अग्निहोत्रेण स्वीयेन यज्ञपात्रैस्तद्गात्रोचितैः ॥ १६७ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातिः समानवर्णा यथोक्ताचारयुक्तां पूर्वमृतां श्रौतस्मार्ताग्निभिर्यज्ञपात्रैश्च दाहधर्मज्ञो दाहयेत् ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वमारिणीं पूर्व मृताम् ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वमारिणीं स्त्रीं अग्न्युत्थापनपात्रसंबन्धिनीं मृतां यज्ञपात्रैः सह अग्निहोत्रस्याग्निना दाहयेत् ॥ १६७ ॥

(७) मणिरामः । पूर्वमारिणीं स्वस्मात्पूर्वं मृतां ॥ १६७ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवमिति । धर्मज्ञो द्विजातिरुक्ताचारां समानजातीयां पूर्वमृतस्त्रियं श्रौतस्मार्ताग्निभिः यज्ञपात्रैश्च सुक्खुवादिभिर्दाहयेत् ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि ॥

पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । तदेतत्पुनरधिकारार्थमुदाह्रियते । इदमप्यन्यथा सहाधिकारप्रतिप्रसवः । यदा त्वर्थे प्रयोजने धर्मकर्मानुष्ठाने वा तदाऽप्यसहायभावाद्वातनप्रस्थे गौरिवाज्ये वाऽधिकारस्यापि प्रतिषेधः । तथा च श्रुतिः “जरसा ह वा एतस्माद्विमुच्यत” इति, अर्थलोपेन वा ।

अपरे त्वाहुः—अत्र यदेति कल्पयिष्यते । एतेन यावज्जीवहोमीयश्रुतेरविरोधः सिद्धो भविष्यति ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्त्यकर्मण्यौर्ध्वदेहिके कर्मणि । पुनराधानमेव चेत्याहिताग्निर्नानिग्निस्तिष्ठेदित्यर्थः ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वमृताया अन्त्यकर्मणि दाहनिमित्तमग्नीन्समर्प्य गृहस्थाश्रममिच्छन्नुत्पन्नपुत्रोऽनुत्पन्नपुत्रो वा पुनर्विवाहं कुर्यात् । स्मार्ताग्नीञ्छौताग्नीन्वा दध्यात् ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । 'अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमेकमपि द्विजः' इति स्मृतिमाश्रित्याह पुनर्दारक्रियामिति । स्वरसाद्यन्तरसत्वे आधानमात्रम्, श्रेष्ठायां विद्यमानायां नाग्नित्यागः ॥ १६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वमारिण्यै अरणिपात्रसंबन्धिन्यै भार्यायै अन्त्यकर्मणि अग्नीन् यज्ञादीन् दत्वा पुनः दारक्रियां कुर्यात् । च पुनः आधानं अग्न्याधानमपि कुर्यात् ॥ १६८ ॥

(७) मणिरामः । पूर्वमारिण्यै स्वस्मात्प्रथममृतायै ॥ १६७-१६८ ॥

(८) गोविन्दराजः । भार्याया इति । पूर्वमृतायै भार्यायै अन्त्येष्टिदाहावग्नीन् दत्वा गार्हस्थ्येकाश्रमनिर्वाहेच्छया पुत्राभावाद्वा प्राप्तपर्यन्तत्वादिना वा केनचित्कारणेन वानप्रस्थाद्याश्रमान्तराश्रयेण पुनर्विवाहाग्निपरिग्रहौ कुर्यात् ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहारश्लोकः । पञ्चयज्ञग्रहणं च सर्वप्रसिद्धचर्थमिति ॥ १६९ ॥

इति श्रीमद्वीरस्वामिसूनोर्भद्रमेधातिथिस्वामिनः कृतौ

मनुभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनेन विधिना स्नातकव्रतादिनियमेन सहितः न हापयेन्न त्यजेत् । द्वितीयमिति । द्वितीयभागे पुनराधानपुत्रोत्पत्तियज्ञानां च संभवे, असंभवे त्वधिकमपि कालं गृहे वसेत् गार्हस्थ्यश्रमे वर्तेत । ब्राह्मण इति प्राधान्यादुक्तम् ॥ १६९ ॥

इति सर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ भक्ष्याभक्ष्यप्रेतशुद्धिद्रव्यशुद्धिस्त्रीधर्मो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीनारायणसर्वज्ञनिर्मितां वीक्ष्य भारतीम् ।

धर्मस्य निर्णयं ब्रूत पदवाक्यमुनिश्चितम् ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन तृतीयाध्यायाद्युक्तविधिना प्रत्यहं पञ्चयज्ञान्न त्यजेत्; द्वितीयमायुर्भागं कृतदारपरिग्रहोऽनेनैव यथोक्तविधिना गृहस्थविहितान्धर्माननुतिष्ठेत् । गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानां प्रकृष्टधर्मज्ञापनार्थं पृथङ्निर्देशः ॥ १६९ ॥

इति कुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । गार्हस्थ्यश्रमकृत्यमुपसंहरति अनेनेति ॥ १६९ ॥

राघवानन्दविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रपञ्चितं गृहस्थाश्रमाचारविधिमुपसंहरति अनेनेति । अत्र पुनः पञ्चयज्ञग्रहणं तेषां प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थमिति ॥ १६९ ॥

इति श्रीनन्दनविरचिते मानवव्याख्याने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनेनेति ।

इति श्रीरामचन्द्रविरचितायां चन्द्रिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(७) मणिरामः । इति श्रीमिश्रगंगारामात्मज दीक्षितमणिरामकृतायां सुखबोधिन्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनेनेति । तृतीयाध्यायोक्तविधानेन पञ्चयज्ञाद्यजहन् द्वितीयमायुर्भागं कृतभार्यो गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १६९ ॥

इति श्रीभट्टमाधवात्मजगोविन्दराजविरचितायां मनुटीकायां मन्वाशयानुसारिण्यां भक्ष्याभक्ष्यसूतकद्रव्यशुद्धिस्त्रीधर्मनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ६

⊙

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ॥

वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

[अतः परं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् । वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । गृहोपलक्षित आश्रमो गृहाश्रमः । 'गृहाः' दाराः । तत्र स्थित्वा तमनुष्ठाय वने वसेदिति विधिः । स्थित्वेति क्त्वाप्रत्ययेन पौर्वकाल्यं गार्हस्थ्यस्य वनवासोद्दर्शयति । क्रमेणाश्रमः कर्तव्यः । कृतगार्हस्थ्यो वनवासेऽधिक्रियते । समुच्चयपक्षमाश्रित्यैतदुक्तम् । अन्यथाऽविप्लुतब्रह्मचर्यादपि वनवासो विद्यत इत्येतदपि वक्ष्यते । विजितेन्द्रियः पक्वकषायः, क्षीणराग इत्यर्थः । एवं विधिवत्-यथावदिति पदानि वृत्तपूरणानि । तानि प्राक्तनं तत्र व्याख्यातानि एतावद्विधीयते । गार्हस्थ्यं कृत्वा वनवास आश्रयितव्यः ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रमप्राप्तौ वनस्थयतिधर्मो वक्तव्यो । तत्र वनस्थधर्मं तावत्प्रक्रमते एवं गृहाश्रम इति । यथावद्वक्ष्यमाणविधिना वने वसेत् नियतस्तपःस्वाध्यायादिनियमाख्ययोगाङ्गयुक्तः । विजितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यरूपयमवान् । तेनैकदेशेन हिंसाऽस्तेयापरिग्रहस्त्यान्यपि यमान्तराणि गृह्यन्ते ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । आश्रमसमुच्चयपक्षाश्रितो द्विजातिः कृतसमावर्तन उक्तप्रकारेण यथाशास्त्रं गृहाश्रममनुष्ठाय नियतः कृतनिश्चयो यथाविधानं वक्ष्यमाणधर्मेण यथार्हं विशेषेण जितेन्द्रियः, परिपक्वकषाय इत्यर्थः । वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमिति । 'गृही भूत्वा वनी भवेदिति' (जाबाल० ४) श्रुतिसंगतिः । स्नातक उक्तस्नातकधर्मवान् । 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ॥ गृहं च गृहिणीशून्यमरण्यसदृशं विदुः ॥' तयोपलक्षितमाश्रमं स्थित्वा तदुचितधर्मं संपाद्य ॥ १ ॥

(५) रामचन्द्रः । ब्रह्मचारिगृहस्थयोः धर्माः प्रतिपादिताः, अतः अधुना वानप्रस्थधर्मानाह अत इति । वैखानसाश्रमे वैखानसकृषिप्रयुक्त आश्रमे । च पुनः वन्यमूलफलादीनां विधिम् ॥ १ ॥

(६) मणिरामः । वानप्रस्थधर्मान् वक्तुं वानप्रस्थसमयमाह एवमिति । एवं उक्तप्रकारेण द्विजः विधिवत् गृहाश्रमे स्थित्वा गृहस्थाश्रमं कृत्वा नियतः कृतनिश्चयः यथावत् वक्ष्यमाणधर्मेण यथाऽर्हति तथा विजितेन्द्रियः सन् वने वसेत् वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवमिति । कृतसमावर्तनो द्विज उक्तप्रक्रियो यथाशास्त्रं गृहाश्रममनुष्ठाय ततो नियतः कृतनिश्चयो विशेषेण यतेन्द्रियः सन् यथा वक्ष्यमाणप्रकारेण यथार्हति तथा वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

(९) भारुचिः । अनुष्ठानसाधनः ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ॥

अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं 'त्यक्तविषयोपभोगधर्मोऽधिक्रियते' इति तदेव दर्शयति । वली त्वक्शैथिल्यम् । पलितं केशपाण्डुर्यम् । अपत्यस्यापत्यं पुत्रस्य पुत्र इत्याहुः । सत्यपि दुहितुरपत्ये दौहित्रे पुत्रस्यापि कन्यायां जातायां नैवं विधिमिच्छन्ति शिष्टाः । अन्ये तु शिरः-पालित्यं पौत्रोत्पत्तिं च वयोविशेषलक्षणार्थमाहुः । यस्य कथंचित्पालित्यं न भवेत्सोऽपि वार्धक्ये वनं समाश्रयेत् । यथैव 'जातपुत्रः कृष्णकेशस्तु' आधानेऽधिक्रियते, एवं जातपौत्रः पलितशिराः । तदापि पुत्रजन्म कृष्णकेशता च वयोविशेषोपलक्षणार्थमेव । 'नातिशीघ्रं नातिचिरम्' इत्यर्थस्योपलक्षणत्वे तु प्रमाणं वक्तव्यम् ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृतीयायुर्भागे वनगमनं दर्शयित्वा कालान्तरमप्याह गृहस्थ इति । वलीपलितं मिलितं यदा पश्येदिति द्वितीयः कालः । अपत्यस्यापत्यं पौत्रं यदा पश्येदिति तृतीयः प्रकारः ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहस्थो यदात्मदेहस्य त्वक्शैथिल्यं केशधावल्यं पुत्रस्य पुत्रं च पश्यति तथाविधवयोवस्थया विगतविषयरागतया वनमाश्रयेत् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मनो देहस्य वली चर्मशैथिल्यं पलितं केशधावल्यं, एत द्रागक्षयोपलक्षकम् । अपत्यस्येत्यादिकं संभवद्विषयम् ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदा आत्मनः वलीपलितं पश्येत् जराजर्जरत्वं पश्येत् ॥ २ ॥

(७) मणिरामः । वलीपलितं त्वक्शैथिल्यं केशश्वैत्यं । अपत्यस्यैव चापत्यं पुत्रस्य पुत्रम् ॥ २ ॥

(८) गोविन्दराजः । गृहस्थ इति । गृहस्थो यदात्मनस्त्वक्शैथिल्यं शिरःपाण्डुर्यं पौत्रांश्च पश्येत्तदा वानप्रस्थस्यार्थे अरण्यमाश्रयेत् ॥ २ ॥

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ॥

पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रीहियवमयमन्नं ततः प्रभृति नाशनीयादित्येतत् 'सन्त्यज्येति' उच्यते । तदुक्तं 'मूलाशीत्यादि' । परिच्छदः गवाश्ववस्त्रासनशय्यादिः । यदि भार्याया इच्छा तदा सहगमनम्, अन्यथा एकाकिनः । अन्ये तु 'तरुणीं निक्षिप्य वृद्धया सहे'ति वर्णयन्ति । सत्यां भार्यायामयं विधिः, पुत्रेषु निक्षेपः वनगमनं वा । असत्यामपि मृतायां वनवास आपस्तम्बादिभिः स्मर्यते "पुनराधान" इत्यत्र । यस्येन्द्रियचापत्यं नास्ति, स वानप्रस्थः । इतरः पुनर्दारान्परिगृह्णीयादिति व्यवस्था ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्राम्यं सर्वं परिच्छदं गोभूहिरण्यादि । भार्या निक्षिप्येति भार्यासंभवे ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्राम्यं व्रीहियवादिकं भक्ष्यं सर्वं च गवाश्वशय्यादिपरिच्छदं परित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासमनिच्छन्तीं भार्या पुत्रेषु समर्प्येच्छन्त्या सहैव वनं गच्छेत् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च, संत्यज्येति । ग्राम्यं कृष्यादियत्नोत्पाद्यं परिच्छदं गवादिकं । 'सहैव वा वनवासमिच्छन्त्या भार्यया ऋतुमत्या मृतायां वनवास' इत्यापस्तंबोक्तेः सति रागे विवाहः, असति वनं गच्छेदिति ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्राम्यमाहारं गोधूमतिलकादिकम् । च पुनः सर्वं परिच्छदमपि गोभूतिलहिरण्यादि । पक्षान्तरं प्रति परिचर्याऽभिलाषेण स्वयमपि वनं गंतुमिच्छति तर्हि तथा पत्न्यैव सह वनं गच्छेत् ॥ ३ ॥

(७) मणिरामः । ग्राम्यमाहारं व्रीहियवादिभक्ष्यं परिच्छदं गवाश्वशय्यादि । भार्या वनवासमनिच्छन्तीं । सहैव वा वनवासमिच्छन्त्या सहैव ॥ ३ ॥

(८) गोविन्दराजः । संत्यज्येति । ग्रामोद्भूतान्नभक्षणं गवाश्ववादि च सर्वं त्यक्त्वा भार्यापुत्रेषु समर्प्य सह वा तथा वनं गच्छेत् ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ॥

ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नय एवाग्निहोत्रशब्देनोक्ताः । श्रौतानग्नीन्समादाय गृहीत्वा गृह्यं च अग्निहोत्रपरिच्छदं सुक्लुवादि । ग्राम्यस्य परिच्छदस्य त्यागविधानादग्निसंबद्धस्य प्रतिप्रसवोऽयम् ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहगमनपक्षेऽग्निहोत्रसंभवेऽग्निहोत्रमादाय गृह्यमौपासन-मादायैकाकिगमनेऽपि । एवं तत्तदग्निपरिच्छदं सुगादिकं तत्तदग्निनयने नयेदित्यर्थसिद्ध-मपि स्पष्टार्थमुक्तम् ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रौताग्निमावसथ्याग्निमग्न्युपकरणं च सुक्लुवादि गृहीत्वा ग्रामा-दरण्यं निःसृत्य गत्वा संयतेन्द्रियः सन्निवसेत् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्निहोत्रं श्रौतं गृह्यं आवसथ्याख्यं च । परिच्छदमग्नेः सुवादिकं निःसृत्य अरण्यं निषेवेत् ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । [वैखानसाश्रमं वानप्रस्थाश्रमविषयम् । वन्यानां मूलफलानामु-पादाने परित्यागे च कालविधिः ।] द्विविधो वानप्रस्थः—गृहस्थसमः, भिक्षुसमश्चेति । तयोर्गृहस्थसमस्य धर्मास्तावदाह अग्निहोत्रमिति । गृह्यं गृहे विद्यमानम् । अग्निपरिच्छद-मरणिपात्रशकटादिकम् । निःसृत्य प्रविश्य ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्निहोत्रं वैतानाग्निं गृह्यं आवसथ्याग्निं च पुनः अग्निपरिच्छदं कृष्णाजिनादि । ग्रामाग्निःसृत्यारण्यं निवसेज्जितेन्द्रियः सन् ॥ ४ ॥

(७) मणिरामः । अग्निहोत्रं श्रौताग्निं । गृह्यं आवसथ्याग्निं अग्निपरिच्छदं स्तृक्स्तुवादि ॥ ४ ॥

(८) गोविन्दराजः । अग्निहोत्रमिति । श्रौताग्नीन् गृह्यं चाग्निमग्न्युपकरणं च स्तृक्स्तुवादि समादाय ग्रामाद्बहिः निःसृत्य जितेन्द्रियः सन्निवसेत् ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मैधैः शाकमूलफलेन वा ॥

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतानेव ये गृहस्थस्य विहिताः । निर्वपेदनुतिष्ठेत् । विधिपूर्वकमित्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुन्यन्नैरकृष्टपच्यैः । विविधैस्तत्कालोपपन्नैः मैधो यज्ञस्तदहर्मेध्यैर्यज्ञियैः शाकादिनापि मेध्येनैव । एतानेव गृहस्थकार्यान् चतुरो महायज्ञान्, ब्रह्मयज्ञस्तु नान्नसाध्यः ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्नानाप्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वारण्योद्भवैरेतानेवेति गृहस्थस्य पूर्वोक्तान्महायज्ञान्यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च, मुन्यन्नैरिति । मुन्यन्नैर्नीवाराद्यैः 'यदन्नः पुरुषो राजंस्तदन्नस्तस्य देवता' (रामा. अयोध्या. ११७।१५) इति स्मृतिमाश्रित्याह एतानेवेति । महायज्ञान् वैश्वदेवादीन् निर्वपेत् कुर्यात् ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अन्नैर्नीवारादिभिः । एतान्पूर्वाध्यायोक्तान् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मुन्यन्नैः अकृष्टक्षेत्रोद्भवैर्नीवारवेणुश्यामाकशाकादिभिः एतान्पञ्च महायज्ञान्विधिपूर्वकं निर्वपेत् ॥ ५ ॥

(७) मणिरामः । मुन्यन्नैः नीवारादिभिः । विविधैः नानाप्रकारैः । मैधैः पवित्रैः । एतानेव गृहस्थपूर्वोक्तानेव महायज्ञान् । विधिपूर्वकं निर्वपेत् अनुतिष्ठेत् ॥ ५ ॥

(८) गोविन्दराजः । मुन्यन्नैरिति । मुन्यन्नैरपरैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वा एतानेव पूर्वोक्तान्महायज्ञान्यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् ॥ ५ ॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ॥

जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । चर्म गोमृगादीनाम् । चीरं वस्त्रखण्डम् । सायं दिवसावसान-समयः । प्रगे चान्नः प्रथमोदये । एवं सायं स्नानविधानाद्रात्रौ भोजनमस्याहुः, भुक्ते स्नान-प्रतिषेधात् । तदयुक्तमित्यन्ये । यतः स्नातकव्रतमतः स्नानमाचरेत् भुक्त्वेति । महाभारते तु पुरुषमात्रधर्मतया स्मर्यते । त्रैकालिकमप्यस्य स्नानं भविष्यति वैकल्पिकम् । जटाश्मश्रु-लोमनखानि न कर्तयेत् ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चीरं तृणवल्कलादिकृतं वासः । प्रगे प्रातः । बिभृयात् न छिन्द्यात् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । मृगादिचर्म वृक्षवल्कलं वा आच्छादयेत् । हारीतेन तु 'वल्कलशाण-चर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासाः' इति विदधता वल्कलादिकमप्यनुज्ञातम् । सायंप्रातः स्नायात् जटाश्मश्रुलोमनखानि नित्यं धारयेत् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । चीरं खण्डितवस्त्रं एतदुपलक्षकं वल्कलादेः । तदुक्तं हारीतेन 'वल्कलशाणचीरचर्मकुशमुञ्जफलवासाः' इति । प्रगे प्रातः जटाश्च कृत्तिमा अकृत्तिमा वा ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । चीरं कुशमयतन्तुस्यूतं वस्त्रम् । प्रगे उपसि ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । चर्म कृष्णाजिनादि । चीरं वल्कलकृतं । प्रगे प्रातःसमये ॥ ६ ॥

(७) मणिरामः । चर्म मृगादिचर्म । चीरं वृक्षादिवल्कलं । प्रगे प्रातः ॥ ६ ॥

(८) गोविन्दराजः । 'वसीत चर्म चीरं वा मार्गं वा चार्धमेव वे'ति । मृगादिचर्म वस्त्रखण्डं वा वृक्षवल्कलं वा आच्छादयेत् । सायं प्रातश्च स्नायात् । श्मश्रुलोमनखांश्च नित्यं धारयेत् ॥ ६ ॥

यद्भूक्षः स्यात्ततो दद्याद्बालिं भिक्षां च शक्तितः ॥

अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतम् ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । मुन्यत्रैरित्युक्तम् । तानि च नीवारादीनि वन्यानि धान्यानि तथा शाकादीनि वन्यान्येव । अन्नशब्दो बाहुल्येन धान्यविकारे भक्तसक्तुपिण्डादौ प्रयुज्यते । ततः शाकादीनां सत्यपि मुन्यन्नत्वे पृथगुपादानम् । मुनयस्तापसास्तेषामन्नानि मुन्यन्नानि । अग्नौ पाकधर्मान्महायज्ञान्निर्वपेत् । यदा कालपक्वफलाशी तदा न निर्वपेदित्याशङ्कामाह यद्भूक्षः स्यात् । यदेव भक्षयेत्तदेव पिण्डादि यथासामर्थ्यं दद्यात् । बालिं अनग्निहोत्रं 'इन्द्रायेन्द्र-पुरुषे'त्यादि यद्विहितम् । अग्नौ त्वस्मिन्पक्षे होमो नास्ति । तदयुक्तम्; बलिशब्दस्य चेज्यामात्रवचनत्वादग्नानग्नौ च तुल्यमेतत् । अथाप्ययं पक्षः स्याद्यदेव भक्षयेत्तदेव, अग्नावेव, पक्वेनाग्नौ होमः कर्तव्यस्तथापि तावन्मात्रप्रयोजनं शाकादि पक्षयति, स्वयं कालपक्वं भोक्ष्यते । सर्वथा कालपक्वाशिनोऽप्यस्ति वैश्वदेवोऽग्नावेव । अवादिभिर्द्वन्द्वोऽयम् । अङ्गिर्मूलफलैः भिक्षया च नीवारादिनाऽर्चयेदाश्रमागतं पान्थम् ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलिपदं महायज्ञोपलक्षणम् । भिक्षां भिक्षमाणेभ्यः । अन्नाभावेऽम्मन्त्रादिरूपाभिः भिक्षाभिः भैक्षभूताभिः ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्भुञ्जीत ततो यथाशक्ति बालिं भिक्षां च दद्यात् । बलिमिति तु वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणम्, एतानेव महायज्ञानिति विहितत्वात् । आश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत् ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च यदिति । भक्ष्यं स्वनियमंप्राप्तं शाकादि । बलिं वैश्वदेवम् । आश्रमायत्तार्चनमावश्यकमित्याह अद्भिरिति । अद्भिर्जलैः अतो न नीवारादिभिर्भिक्षितैः ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । बलिं वैश्वदेवाञ्छिष्टभूतबलिं वा । आश्रमागतान् तिथीनिर्तिशेषः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततो भक्ष्याद्बलिं दद्यात् बलिपदं महायज्ञोपलक्षणम्, च पुनः शक्तितो भिक्षां दद्यात् ॥ ७ ॥

(७) मणिरामः । बलिमिति वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणं । 'एतानेव महायज्ञानि'-(६५)त्युक्तत्वात् ॥ ७ ॥

(८) गोविन्दराजः । यद्भक्ष इति । यद्भक्षं भुञ्जीत ततस्तस्मात् पूर्वोक्तवत् बलिं भिक्षां च दद्यात् । आश्रमागतांश्च उदकमूलफलभिक्षादानेन पूजयेत् ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ॥

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । आश्रमबुद्ध्या स्वाध्यायादीनां निवृत्तिमाशङ्कमान आश्रमान्तरत्वादस्यानिवृत्त्यर्थमाह नित्ययुक्तः । न यथा गार्हस्थ्ये । तत्र हि गृहचेष्टार्था अपि व्यापाराः सन्ति, तेष्वनुष्ठीयमानेषु नास्ति स्वाध्यायः । दान्तो दमयुक्तः मदवर्जितः । मैत्रः मित्रकर्मप्रधानः प्रियहितभाषी । सन्निहितस्य चित्तानुकूलनपरः स समाहितः । नासम्बद्धं नाप्राकरणिकं बहु पराधीनोऽपि ब्रूयात् । दाता अपां मूलभिक्षाणां च । अनादाता पथ्यौषधाद्यर्थमाश्रमान्तरादागतं न याचेत । सर्वभूतानुकम्पकः । अनुकम्पा कारण्यम् । सत्यपि कारणिकत्वे न परार्थमन्यं याचेत ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वाध्याये जपादौ । दान्तो जितमनाः । मैत्रो मैत्रीपरः । सर्वत्र समाहितः । आत्मविषयनिहितचित्तः । दाता नित्यं सततं दानशीलः । अनादाता अप्रत्युपलब्धिशीलः आदातृत्वशून्यः । सर्वभूतानुकम्पकः सर्वभूतदुःखप्रहरणेच्छावान् ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात् शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिग्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु कृपावान्भवेत् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्वाध्याय इति । तद्विस्मरणे ब्रह्मोज्झतेति चतुर्णामाश्रमाणां प्रत्यवायसाधारण्यात् । अनादाता अप्रतिग्रहः । सर्वभूतानुकम्पकः सर्वोपकारकः ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । मित्रभावो मैत्री, तद्वान्मैत्रः ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दान्तः जितेन्द्रियः स्यादिति सर्वत्र संबन्धः । मैत्रः मैत्रीपरः । समाहितः नियतचित्तः । नित्यं दाता दानपरः ॥ ८ ॥

(७) मणिरामः । दाता शीतातपादिसहिष्णुः । मैत्रः सर्वोपकारकः । समाहितः संयतमनाः । अनादाता प्रतिग्रहरहितः ॥ ८ ॥

(८) गोविन्दराजः । 'स्वाध्यायशीलो नित्यं स्यादांतो मैत्रसमाहितः । त्यक्तद्वंद्वो-
निशं दाता सर्वभूतानुकंपनः' ॥ वेदाभ्यासरतः शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारशीलसंयत-
मनाः स्यात् ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ॥

दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । 'वितानो' विहारस्तत्र भवं वैतानिकम् । त्रेताग्निविषयं कर्म
श्रौतम् । तज्जुहुयात्कुर्यात् । 'अग्निहोत्र'शब्दो यवाग्वादौ होमसाधने द्रव्ये वर्तते, न कर्मनाम-
धेयम् । ततश्च तज्जुहुयादाहवनीयेऽग्निहोत्रादिभिर्जुहोतीत्यर्थं उपपन्नः, प्रथमपक्षेऽग्निहोत्र-
शब्दो जुहोतिनाऽभिन्नार्थः । "ननु च 'पुत्रेषु भार्या निक्षिप्येति' पक्षान्तरमुक्तम् । तत्र कथं
तथा विना श्रौतेष्वधिकारः ?" 'प्रोषितस्य यथेति चेत् । यथा प्रोषिता वा यजमानः संविधाना-
दूरस्थोऽप्यधिक्रियते संविधाने, एवं भवति कर्ता; तद्वत्पत्न्यपि वनं प्रतिष्ठमानमनुज्ञास्यति,
न सहाधिकारो विरोत्स्यत' इति । तदपि वार्तम् । दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबलात्कथञ्चित्प्रवासो-
पपत्तेः युक्तमीदृशमनुष्ठानं, न स्वेच्छया । सत्यां शक्तौ बहूनि चाङ्गानि परिलुप्येरन् । दर्श-
पौर्णमासयोः "वेदोऽसि वित्तिरसि" इत्यादि पत्नीं वाचयेदित्युक्तम् तद्धीयेत । अथोच्येत-
'सहप्रस्थानपक्षे विधिरयं भविष्यतीति' एतदपि न; विशेषस्याश्रुतत्वात् । निक्षेपपक्षे चाग्नीनां
प्रतिपत्त्यन्तरमनाम्नातम् । किञ्च सहत्वपक्षेऽपीदं विरुध्यते । "वासन्तशारदैर्मध्यैर्मुन्यन्नैः
स्वयमाहृतैः । पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥" इति (श्लो० ११) । आर-
ण्यानि मुन्यन्नानि नीवारादीन्यभिप्रेतानि । ग्राम्यस्य परिच्छदस्य त्यागविधानात् । ब्रीह्यादि-
भिश्च वेदे पुरोडाशा विहितास्ते च ग्राम्याः । न च स्मृतिश्रुतिषु उत्पन्नन्यायेन ब्रीह्यादि-
विधिन्यायेन वा केनचिन्मध्येतारण्येनान्नेन प्रयोगः परिसमाप्येत निक्षेपे । ते च भार्यया
दुरुपपादाः । कथं यावज्जीवश्रुतौ सत्यामग्नीनां त्यागो भार्याया वा ? तस्मादाश्रमान्तर-
विधानं वैतानिकानां च कर्मणामनुष्ठानं न संवदेत् । कर्तव्योऽत्र यत्नः । केचिदाहुः-वैतानिक-
शब्दः स्मार्तैष्वेव कर्मसु स्तुत्या प्रयुक्तः । न च स्मार्तैषु ब्रीह्यादिनियमशास्त्रमस्ति । तत्र
ह्याम्नायते (रामायण. अयोध्या. ११७-१५)---"यदन्नः पुरुषो राजस्तदन्नास्तस्य
देवताः" इति । अतश्च मुन्यन्नैरनुष्ठानमविरुद्धं भवेत् ब्रीह्यादिशास्त्रविरोधः परिहृतः
स्यात् । 'सहा'धिकारस्तत्रापि विद्यते । तस्य कः परिहारः ? उभयोः स्मार्तत्वादस्या-
मवस्थायां बाधिष्यते । यत्तु श्रौतवचनं "पत्न्या सह यष्टव्यमिति" तच्छ्रौतेष्वेव । अथवा
नैवायं विधिर्गृहस्थाग्नेः । किं तर्हि ? 'श्रावणिकेनाग्निमाध्यायेति' गौतमेन पठितम्, इहापि
वक्ष्यति "वैखानसमते स्थित" इति (६।२१) । तस्माच्छास्त्रविहितानि कर्मान्तराण्ये-
वैतानि । दर्शपूर्णमासादयस्तु शब्दा भक्त्या तत्र प्रयुक्ताः । अतस्तत्र तदाधानमभार्यस्यैव ।

गार्हस्थ्योपात्तानां प्रतिपत्तिरुक्ता "अग्नीनात्मनि वैतानानिति" (६।२५) ।
यत्तु यावज्जीवश्रुतौ सत्यां कथमग्नीनां त्याग इति-एतच्चातुराश्रम्यानुक्रमण-
प्रकरणे निरूपयिष्यते । अन्ये पुनराहुः-होमो ग्राम्यानामन्नानां प्रतिषिद्धः, न तु

देवताद्यर्थं उपयोगः । ननु च “यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्तीति” तत्रापि विद्यते भक्षः । सत्यम् । स तु शास्त्रीयो न लौकिकः । लौकिकस्य च प्रतिषेधः ‘संत्यज्येति’ । ग्राम-प्रवेशश्च तस्य तदर्थो न विरुध्यते । तथा वक्ष्यति “ग्रामादाहृत्य वाऽग्नीयादिति” (६।२८) । तदेतदसत्; ‘मुन्यन्नैरिति’ विधानात् । तदेवं श्रावणिकेनाग्निमाधायेत्यादि सर्वमुपपन्नम् । तथाहि “अग्निहोत्रं समादायेति” पठ्यते (६।४), न तु संत्यज्येति । समारोपणमपि मुमूर्षोस्तप्ततपसो वक्ष्यते प्रथमप्रवासे । न चतुरायणा-दिशब्दानां श्रावणिकाग्निविषयत्वे कथंचिदुपपत्तिः । मृतभार्यस्य तदाधानं वाचनिकं भविष्यति । यदा वा ब्रह्मचर्यादेव वनवासमिच्छेतदा श्रावणिकाधानम् । तस्मादा-हिताग्नेः सहाग्निवनप्रस्थानं सभार्यस्य । तत्र च यथाविधि व्रीह्यादिना श्रौतकर्मानुष्ठानम् । व्रीह्यादीनामपि मुन्यन्नता कथंचिदुपपाद्या । व्रीहियवावपि पवित्रम् । भार्यानिक्षेपश्चाना-हिताग्नेः कथंचित्स्मार्तैर्जनौ गतिः; उभयोः स्मार्तत्वात् ।

यस्य च द्वे भार्ये जाते एकया चाग्नयो नीतास्तस्य द्वितीयां भार्यां निक्षिप्येति वचनम् । अस्कन्दयन् । स्कन्दनं विध्यतिक्रमः, यथाविहितमनुष्ठानस्यासंपादनम् । एतच्च पादपूरणम् । योगत इत्येतदपि । योगत अस्कन्दयन् युक्त्याऽविनाशयन् । युक्तिर्विधिरेव ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैतानिकं विततेष्वग्निषु कार्यमग्निहोत्रहोमं । दर्शं पर्वं दर्शाख्यं पर्वकृत्यमस्कन्दयन्नपातयन् । योगत उद्योगतः ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारो वितानं तत्र भवं वैतानिकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् । दर्शपौर्णमासं च पर्वेति श्रौतस्मार्तदर्शपौर्ण-मासौ योगतः स्वकालेऽस्कन्दयन्नपरित्यजन् । भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामिव भार्यायामे-तेषामनुष्ठानमुचितं विशेषाश्रवणात् ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । वैतानिकं गार्हपत्यकुण्डस्थिताग्नेराहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारो वितानं तत्र भवं वैतानिकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् । अस्कन्दयन्नपरिलोपयन्पर्वं पर्वसंबन्धि दर्शाख्यं कर्म एवं पौर्णमासाख्यं योगतः श्रौतस्मार्तदर्शदिः काले ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । वैतानिकमित्यनुवादः । योगतः प्राप्तितः, प्राप्तकाल इति यावत् । अस्कन्दयन्नतत्क्रामन् ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा वैतानिकं अग्नित्रयसाध्यं । च पुनः अग्निहोत्रं यावदन्नादिकं होमद्रव्यसाध्यं । दर्शश्चाहुं अस्कन्दयन्नलुम्पयन् । च पुनः योगतः पौर्णमासं पर्वस्कन्दयन् ॥ ९ ॥

(७) मणिरामः । वैतानिकं गार्हपत्यकुण्डादाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्गन्यानयनं वितानं तत्र भवो वैतानिकं एतादृशमग्निहोत्रं । योगतः काले अस्कन्दयन् अपरित्यजन् ॥ ९ ॥

(८) गोविन्दराजः । वैतानिकमिति । अमावास्यापौर्णमासं च पर्वयोर्दर्शं अत्यजन् श्रौतमग्निहोत्रं यथाशास्त्रं भार्यानिक्षेपपक्षेऽपि वचनाद्द्रव्यलाभार्थं च जुहुयात् ॥ ९ ॥

(९) भारुचिः । अग्निहोत्रग्रहणम् ॥ ९ ॥

दर्शेष्टचाग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ॥

तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । दर्शेष्टश्च आग्रयणं चेति समाहारद्वन्द्वः । चातुर्मास्य-तुरायण-दाक्षायणाः श्रौतकर्मविशेषवचनाः । नित्या एव तुरायणादयः केषांचित् ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । 'ऋक्षेष्टयोऽग्निर्वा अकामयते'त्यादितैत्तिरीये कृत्तिकादिनक्षत्रेष्टय आम्नाताः तुरायणं संवत्सरं 'सवनविधा इष्टी'रित्यादिनापस्तम्बेनोक्तम् । दाक्षस्यायनं दाक्षायणयज्ञेन 'स्वर्गकामो यजेते'ति तैत्तिरीय आम्नातम् । अत्र यद्यपि वन्यैरेवाकृष्टपच्यैर्नीवारादिभिः पुरोडाशादि तथापि दशदिर्वृतं विना दाक्षायणादीनां क्षीरं विनाऽसिद्धेर्गवामपि परिग्रहः ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः आग्रयणं नवसस्येष्टिः ऋक्षेष्टचाग्रयणं चेति समाहारद्वन्द्वः । तथा चातुर्मास्य-तुरायण-दाक्षायणानि श्रौतकर्माणि क्रमेण कुर्यात् । अत्र केचित् सर्वमेतच्छ्रौतं दर्शपौर्णमासादिकर्म वानप्रस्थस्य स्तुत्यर्थमुच्यते, नत्वस्यानुष्ठेयं ग्राम्यव्रीह्यादिसाध्यत्वादेषां च । न च स्मृतिः श्रौताङ्गवाधने शक्नोतीत्यहुः—तदसत्; 'वासन्तशारदैः' (६।११) इत्युत्तरश्लोके मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्वानप्रस्थविषयतया स्पष्टस्य चरुपुरोडाशादिविधेर्वाधनस्यान्याय्यत्वात् । गोविन्दराजस्तु व्रीह्यादिभिरेव कथंचिदरण्यजातैरेतान्निर्वर्तयिष्यत इत्याह ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः । आग्रहायणं (?) नवसस्येष्टिः । चातुर्मास्यं वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरेति चतुष्कम् । 'अथ तुरायणं' मित्याश्वलायनोक्तेः । केषांचित् श्रौतकर्मविशेषास्तुरायणादयः । पश्वभावादयनाद्युपपत्तेः । एते यागभेदा व्रीह्यभावेऽपि कार्याः; नीवारादेः सत्त्वादावश्यकं मुख्यालाभे प्रतिनिधेरावश्यकत्वात् ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिम् । आग्रयणमिति जातावेकवचनम् । श्यामाकव्रीहियवाग्रयणानि । चातुर्मास्यानि वैश्वदेवादीनि । तुरायणं संवत्सरसाध्यक्रतुविशेषः । दाक्षायणं दर्शेष्टिविकृतिः । क्रमशः तत्र तत्र काले ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋक्षेषु कृत्तिकादिषु आग्रयणे च पुनः उत्तरायणं संवत्सरेष्टिविशेषः, दाक्षस्यायनं तैत्तिरीयशाखायां दाक्षायणसंज्ञम् ॥ १० ॥

(७) मणिरामः । ऋक्षेष्टिः नक्षत्रेष्टिः । आग्रहायणं (?) नवान्नेष्टिः । उत्तरायणं दाक्षस्यायनं दाक्षायणं श्रौतं कर्म ॥ १० ॥

(८) गोविन्दराजः । 'नक्षत्रेष्टिं तथा दर्शपौर्णमासानि चाहरेत् । उत्तरायणं च क्रमशो दक्षिणायनमेव च' । नक्षत्रेष्टिं सूत्रकारोक्तस्वरूपभवं, तस्येष्टिं च तथा दर्शपौर्णमासानि च उत्तरायणान् दक्षिणायणान् श्रौतविशेषादीन् क्रमेण कुर्यात् । यत्तु कैश्चिदुक्तं सर्वमेतत् स्मार्तं कर्म दर्शपौर्णमासादिशब्दैः स्तुत्यर्थमुच्यते; श्रौतस्य दर्शपौर्णमासादिश्रुत्या ग्राम्यान्नचारपुरोडाशासाध्यत्वविधानात् न शक्त्या स्मृतिव्रीह्यादि निवर्तत इति—तदसत्; उच्यते । यतो न

सत्यागतिमुखं शब्दार्थहानं न्याय्यं ब्रीह्यादिभिरेव कथंचिदरण्यजातैरेतानि निवर्तयिष्यन्त
इति किमनुपपन्नं स्वत एवोत्तरश्लोके 'मुन्यन्नैर्मैध्यै'रिति वक्ष्यति । मेधो यस्तदहर्णि मेधयानि
॥ १० ॥

(९) भारुचिः । तस्मात् तत्कर्म दर्शपूर्णमासादिशब्दैः स्तुत्यर्थमुच्यते । श्रौतानां तु
नित्यानां चरुपुरो(डाशादि.....)विहितत्वादसामर्थ्यं स्मृतिब्रीह्यादिनिवर्तने ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मैध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ॥

पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । यदा मुन्यन्नैरिति न पूर्वेण संबध्यते, तदा नास्ति चोद्यं "वैतानिकानि
कथं ब्रीह्यादिचोदितानि क्रियेरन्?" । अत्र चरुपुरोडाशा वैखानसशास्त्रोक्ता एव वेदितव्याः ।
वसन्ते जायन्ते पच्यन्ते वा वासन्तानि, एवं शारदैर्मैध्यैरित्यनुवादः । स्वयमाहृतैः । प्रति-
ग्रहादीनि वृत्तिकर्माणि निषिध्यन्ते । स्मार्तानामुक्तानां कर्मणामनुष्ठानार्थं पुनर्हृत्यादि-
नापहरणम् । विधिवत्पृथगिति पूरणे ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शारदपदं वार्षिकश्यामाकादेरप्युपलक्षणम् ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैर्मैध्यैर्यागाङ्गभूतैर्मुन्यन्नैर्नीवारादिभिः स्वय-
मानीतैः पुरोडाशांश्चरुंश्च यथाशास्त्रं तत्तद्यागादिसिद्धये संपादयेत् ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह वासन्तेति । वासन्तशारदैस्तत्रोद्भूतैः मेध्यैः
यागाहैः ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । पृथक् नवे सस्ये प्राप्ते पुराणस्य त्यागेनेत्यर्थः ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । वासन्तादिशारदैर्वार्षिकश्यामाकाद्युपलक्षकैः ॥ ११ ॥

(७) मणिरामः । वासन्तशारदैः वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैश्च ॥ ११ ॥

(८) गोविन्दराजः । वासन्तशारदैरिति । वसन्तोद्भवैः यागाहैः स्वयमानीतै-
र्मुन्यन्नैः पुरोडाशांश्चरुंश्च यथाशास्त्रं प्रतियोगं प्रतिपादयेत् ॥ ११ ॥

(९) भारुचिः । वैखानसोक्ता एवैते चरुपुरोडाशाः स्मार्ता वेदितव्याः ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ॥

शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । पर्वसु यद्देवताभ्यो दत्तं तच्छिष्टमेव भक्षयेन्न शाकमूलफलादि ।
शेषमात्मनि युञ्जीत आत्मनिमित्तमुपयोजयेत्, आत्मार्थं शरीरस्थित्यर्थमित्यर्थः । स्वयं कृतं
च लवणं न सैन्धवादि निषेवेत ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवताभ्यो हुत्वाग्रयणेष्टौ मेध्यतरं ग्राम्यापेक्षयापि मेध्यत्वात् ।
स्वयं कृतं लवणं वृक्षादिक्षारकृतम् ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्वनोद्भवनीवारादिकसाधितमतिशयेन यागार्हं हविर्देवताभ्य उप-
कल्प्य शेषात्रमुपभुञ्जीत आत्मना च कृतं लवणमूषरलवणाद्युपभुञ्जीत ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चान्यदित्याह देवेति । देवताभ्योऽग्नेः सोमयमाभ्यामित्याद्यु-
क्ताभ्यः युञ्जीत । स्वयं कृतलवणं च भुञ्जीतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । आत्मनिवेदनं भोजनम् ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः स्वयं कृतं लवणं वृक्षादिक्षारकृतं युञ्जीत भुञ्जीत ॥ १२ ॥

(७) मणिरामः । ततो वनोद्भवनीवारादिकं ॥ १२ ॥

(८) गोविन्दराजः । देवताभ्यश्चेति । तद्वनोद्भवं संपादितहविः अतिशयेन यागार्हं
शास्त्रचोदितदेवताभ्यो हुत्वा शेषमात्तदन्युपयोजयेत् । आत्मना च संपादितं लवण-
भूषालवणादि ॥ १२ ॥

(९) भारुचिः । तच्छेषवृत्तिताऽस्य नियम्यते ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ॥

मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्थलजानि उदकजानि अद्यात् । तथा पुष्पमूलफलानि च ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थलजानि वास्तुकादीनि औदकानि हिलमोचिकादीनि
शाकानि फलसंभवान् वन्यफलजान् ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्थलजलोद्भवशाकान्यरण्ययज्ञियवृक्षोद्भवानि पुष्पमूलफलानीङ्गुद्या-
दिफलोद्भवांश्च स्नेहानद्यात् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च स्थलजेति । स्नेहान्वृतस्थानीयान् इङ्गुदीफलादिभ्यः संभवो
येषाम् ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । मेध्यो यज्ञार्हः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्थलजं वास्तुकादि उदकशाकानि मोचकादीनि च पुनः फलसंभवांश्च
स्नेहान् अद्याद्भक्षयेत् ॥ १३ ॥

(७) मणिरामः । फलसंभवान् इङ्गुद्यादिफलोद्भवान् स्नेहान् ॥ १३ ॥

(८) गोविन्दराजः । स्थलजौदकशाकानीति । स्थलोदकोद्भवानि शाकानि
अरण्योद्भवानि यज्ञियवृक्षोद्भवानि च पुष्पमूलफलानि अद्यात् । इङ्गुदा(द्या)दिफलो-
द्भवांश्च स्नेहानारण्यत्वेऽपि सति ॥ १३ ॥

(९) भारुचिः । आरण्यान्येवैतानि श्यामाकादीनि गृह्यन्ते ॥ १३ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ॥

भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥१४॥

(१) मेधातिथिः । भौमानि कवकानि । कवकशब्दः प्राग्व्याख्यातः छत्राकशब्दपर्यायः (५।१९) । तानि च कवकानि भूमौ जायन्ते वृक्षकोटरादावपि । अतो विशेषणार्थं भौम-ग्रहणम् । “समाचारविरोधो गृहस्थधर्मेषु चाविशेषेण कवकानां प्रतिषेधः । वानप्रस्थस्य च नियमातिशयो युक्तः” । तस्माद्भौमानीति स्वतंत्रपदम् । तत्र गोजिह्विका नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं बोद्धव्यम् । न तु यत्किंचिद्भुवि जातमात्रस्य । कवकानां प्रतिषिद्धत्वात्पुनः प्रतिषेधो भूस्तृणादीनां तत्समप्रायश्चित्तार्थः । भूस्तृणशिग्रुकशब्दौ शाक-विशेषवचनौ वाहीकेषु प्रसिद्धौ ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । मधु मांसमिति ब्रह्मचारिवर्जनीयोपलक्षणम् । भौमानि भूमि-जानि । कवकानि छत्राकानि । चकारात्काष्ठजानि । भूस्तृणं शाकभेदः । शिग्रुसौभाञ्जनं । श्लेष्मातको बहुवारः । एतेन गृहस्थानामपि यान्यभक्ष्यत्वेनोक्तानि तानि सर्वाण्युप-लक्ष्यन्ते ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । माक्षिकं, मांसं, भौमानीति प्रदर्शनार्थम् । भौमादीनि, कवकानि छत्राकान्, भूस्तृणं मालवदेशे प्रसिद्धं शाकं, शिग्रुकं वाहीकेषु प्रसिद्धं शाकं, श्लेष्मातकफलानि वर्जयेत् । गोविन्दराजस्तु भौमानि कवकानीत्यन्यव्यवच्छेदकं विशेषणमिच्छन्भौमानां कवकानां निषेधः, वाक्षीनां तु भक्षणमाह, — तदयुक्तम्, मनुनैव पञ्चमे द्विजातेरेव कवकमात्रनिषेधाद्वन-स्थगोचरतया नियमातिशयस्योचितत्वात् । यमस्तु ‘भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ये । ब्रह्मघनास्तान्विजानीयाद्ब्रह्मवादिषु गृहीतान् ॥’ इति विशेषेण वृक्षजस्यापि निषेधमाह । मेधातिथिस्तु भौमानीति स्वतन्त्रं पदं वदन्गोजिह्विका नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं निषेधमाह, — तदपि बहुष्वभिधानकोशादिष्वप्रसिद्धं न श्रद्धीमहि । कवकानां द्विजातिविशेषे पाञ्चमिके निषेधे सत्यपि पुनर्निषेधो भूस्तृणादीनां निषेधेऽपि च समप्रायश्चित्तविधानार्थः ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च वर्जयेदिति । कवकादीनां पुनर्ग्रहणं भूस्तृणादितुल्यप्रायश्चित्त-तार्थम् । भौमानीति विशेषाद्गोजिह्विकाकाराणीति मेधातिथिः । भूस्तृणं मालवदेशप्रसिद्ध-शाकं । शिग्रुकं वाह्लीके प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । भौमानि कवकानि भूमिजानि छत्राकानि । वृक्षकोटरजातानां कवका-नामप्यभक्ष्यत्वे भौमानामादरेण वर्जनार्थं विशेषेण निषेधनम् । भूस्तृणं तृणजातिविशेषः । शिग्रुकं सौभाञ्जनक इत्यन्ये ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कवकानि छत्राकाणि, शिग्रुकं सौभाञ्जनं, भूस्तृणं श्लेष्मातकफलानि च वर्जयेत् । ‘मालातृणकभूस्तृण’ इत्यमरः ॥ १४ ॥

(७) मणिरामः । भौमानि भूमौ प्रसिद्धानि कवकानि छत्राकानि । भूस्तृणं मालवदेशे प्रसिद्धं शाकं । शिग्रुः सौभाञ्जनं । श्लेष्मातकफलानि ‘लहसोण’ ॥ १५ ॥

(८) गोविन्दराजः । वर्जयेदिति । माक्षिकमासं भूजातानि कवकानि छत्राकानि न वार्क्षाणि । भूस्तृणं भूतृणमिति मालवदेशप्रसिद्धं । तत्साहचर्यात्तत्सदृशमेव शिग्रुकमिति तृणजातीयं वाहीकदेशप्रसिद्धं श्लेष्मातकाख्यवृक्षफलानि वासांसि जीर्णानि आश्वयुजे मासि त्यजेत् ॥ १४-१५ ॥

(९) भारुचिः । भौमशा त्वात् कवकशब्दस्तु प्रसिद्धार्थ एव । अपरे तु कवक-विशेषणं भौमशब्दमिच्छन्ति । तेषामभौम ज्ञोति । पूर्वस्मिन्नभक्ष्यप्रकरणे चाविशेषेण प्रतिषेधः सर्वछत्राकाणाम् । अथ तु तत्पदार्थवि एकजातिविषय एव शिग्रुकशब्दश्च भूस्तृणसाहचर्यान्न सौभाञ्जनकविषयः । किं तर्हि ? तत्सरूपतृणजा प्रतिषेधोऽनर्थक इति ? । यतः कवकग्रहणमित्यनर्थकमिति केचित् । अहं तु ब्रुवे नानर्थक्यम्, शास्त्रे व धानत्वादुपे । यतोऽनुवादोऽयं प्रतिषिद्धानां भूस्तृणादीनां साहचर्यात् तत्समप्रत्यवायप्र- (दर्शनम्) (प्रयो)जनं च प्रायश्चित्तसाम्यम् । अपरस्तु श्रुता (?) सप्रतिषेधार्थमिदमाह तत्पुनर्विचार्यम् । (न हि) पुनर्विधानेन तत्सहोपविष्टानां लशुनादीनां विकल्पः शक्यो वक्तुम् । सदाचार पुनर्ग्रहणवत् ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ॥

जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥१५॥

(१) मेधातिथिः । 'वृण्मासनिचय'—'समानिचय' पक्षयोराश्वयुजे त्यागः । "ननु मुन्यन्नं तावदेव संचयेयं यत्कर्मपर्याप्तम् । तत्र नैवाधिकमस्ति । कस्य त्यागः ? " उच्यते— न शक्या तुला ग्रहीतुमर्जनकाले । अतो यत्किंचिदवशिष्टमस्ति तस्याश्वयुजे त्यागः । जीर्णानि चैव वासांसि । अजीर्णानां नास्ति त्यागः ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वसंचितं पूर्ववर्षे शरदि वसन्ते वा परिगृहीतम् । वासांस्य-जिनानि चीराणि वा जीर्णानीति यदि जीर्णानि तदैज्याश्वयुजे मासि त्याज्यानीत्यर्थः । शाक्रेति शाकादीन्यप्याहारार्थं शोषयित्वा स्थापितान्याश्वयुजे त्याज्यानीत्यर्थः ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । संवत्सरनिचयपक्षे पूर्वसंचितनीवाराद्यन्नं जीर्णानि च वासांसि शाकमूलफलानि चाश्विने मासि त्यजेत् ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । वक्ष्यमाणसमानि च यस्य त्यागकालमाह त्यजेदिति । आश्वयुजे नीवारादेः प्राप्तिकाले । वासांसीति विशेषणान्न चर्मणां त्यागः । संचितशाकादित्यतयमपि त्यजेदित्यन्वयः ॥ १५ ॥

(९) भारुचिः । नादिति । वैकल्पिकानि वक्ष्यति ॥ १५ ॥

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ॥

न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥१६॥

(१) मेधातिथिः । आरण्यस्यापि फालकृष्टस्य प्रतिषेधः । ग्रामजातान्यफालकृष्टा-न्यपि "संत्यज्य ग्राम्यमाहारम्" (६।३) इत्यनेन प्रतिषेधः पुष्पफलानां क्रियते नोपयोगः ।

ग्राम्याणां देवताभ्यर्चनादौ पुष्पफलानां निषेधः । आर्तोऽपि अन्यासंभवेऽप्यवश्यकर्तव्यत्वा-
द्देवताद्यर्चनस्य प्रतिनिधिपक्षेऽपि नोपादेयमित्यर्थः । अपिशब्दो भिन्नक्रमो द्रष्टव्यः—
पुष्पाण्यपि नोपादेयानि किं पुनर्धान्यानि ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फालकृष्टानि वनजान्यपि । न ग्रामजातान्यफालकृष्टान्यपि ।
आर्तो रोगी फलादीनीति ब्रीह्यादेरप्युपलक्षणम् ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । अरण्येऽपि फालकृष्टप्रदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि ब्रीह्यादि नाद्यात् ।
तथा ग्रामजातान्यफालकृष्टभूभागेऽपि लतावृक्षमूलफलानि क्षुत्पीडितोऽपि न भक्षयेत् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच, नेति । उत्सृष्टं वानप्रस्थाद्युद्देशेन त्यक्तं । 'पुष्पाणी'ति
मेधातिथिः । फलानि नारिकेलादीनि ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । वन्यमपि धान्यं हलकर्षणोत्पादितं नाश्नीयात् । केनचिदुत्सृष्टं पूर्वं
परिगृहीतं पश्चादनादरेण त्यक्तम् ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । फालकृष्टं हलकृष्टं केनचिदुत्सृष्टमपि नाश्नीयात् ॥ १६ ॥

(७) मणिरामः । उत्सृष्टं स्वामिना उपेक्षितं ॥ १६ ॥

(८) गोविन्दराजः । न फालकृष्टमिति । न ग्रामजातान्यार्तोऽपि पुष्पाणि च फलानि
च । अरण्यमपि फालकृष्टप्रदेशजातस्वामिनोपेक्षितमपि नाश्नीयात् । तथारण्यानि अकाल-
कृष्टान्यपि कथंचित् ग्रामे जातानि पुष्पमूलफलानि क्षुत्पीडितोऽपि नाश्नीयात् ॥ १६ ॥

(९) भारुचिः ।तथा अफालकृष्टानामपि ग्रामजातानामारण्यानाम् ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ॥

अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्निना पक्वं शाकौदनादि, तदशनं यस्य सोऽग्निपक्वाशनः ।
काले स्वयमेव यत्पक्वं तदेव भुञ्जीत वार्क्षं फलम् । अथवा धान्यानामेव नीवारादीनां
निष्पिष्येदं भक्षणम् । अश्मभिः पाषाणैः कुट्टयित्वा पिष्टरूपं कृत्वा भुञ्जीत । यद्वा यदृतूपपन्नं
वृन्तकादिभिर्बहिस्तुषकपाटकं तदश्मभिरपनीय कवाटमन्तःफलं भक्षयेत् । दन्ता उलूखलं
अस्य दन्तोलूखलिकः । दन्तैस्तुषकवाटमपनीय भक्षयेत् । असत्यपि संस्कारे स न कर्तव्यः ।
यदि वा पूर्ववदशनविशेषोपलक्षणम्— 'तादृशमश्नीयाद्यदस्य दन्ता एव उलूखलकार्यमवघातं
संपादयन्ति' ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कालपक्वं परिणामपक्वं । अश्मकुट्टोऽश्मन्यश्मना तुषमोक्षं
कृत्वाऽशनम् । दन्तोलूखलिकः स्वदन्तैरेव तुषमोक्षं कृत्वा भुञ्जानः । अत्र चान्यतरस्यैव
परिग्रहः कार्यः, तत्राप्युत्तरोत्तरस्य श्रेष्ठत्वमितिक्रमोक्तिफलम् ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । अग्निपक्वं वन्यमन्नं, कालपक्वं वा फलादि । यद्वा नोलूखलमुसलाभ्यां
किंतु पाषाणेन चूर्णीकृत्यापक्वमेवाद्यात् । दन्ता एवोलूखलस्थानानि यस्य तथाविधो वा
भवेत् ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । वानप्रस्थस्य नियमविशेषानाह अग्नीति द्वाभ्यां । दन्तोलूखलिकः दन्ता एव उलूखला भक्ष्यसाधनानि यस्य सः । अग्निपक्वादिचतुष्टयं भक्षणप्रकार-नियमः ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । फलान्यश्मना निष्पीडय यो भक्षयति न दन्तादिना सोऽश्मकुट्टकः । दन्तैरेव मुसलोलूखलकार्यं यस्य स दंतोलूखलिकः । प्राधान्यादुलूखलस्यैव ग्रहणम् । सतुषाभ्यवहारीत्यर्थः । अनेन व्रतेन परिग्रहपराङ्मुखत्वमुक्तम् ॥ १७ ॥

(७) मणिरामः । अग्निपक्वं वन्यमन्नं । कालपक्वं फलादि । अश्मकुट्टः अपक्वमपि फलं पाषाणेन चूर्णीकृत्य भक्षयेत् न तूलूखलमुसलाभ्यां । दंतोलूखलकः दन्ता एव उलूखल-स्थानानि यस्य ॥ १७ ॥

(८) गोविन्दराजः । अग्निपक्ववाशन इति । अग्निपक्ववन्नारण्यान्नं भुञ्जीत काल-पक्वं वा फलादि तस्मात्तथाश्मना वा तदन्नं नीवाद्यवहत्यान्नमेव भक्षयेत् दन्तोलूखलेन दन्ता एवास्य निस्तुषीकरणे उलूखलकार्यं स्युः ॥ १७ ॥

(९) भारुचिः । समानि च यस्यापवादाः ॥ १७ ॥

सद्यःप्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा ॥

षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥१८॥

(१) मेधातिथिः । यत्पूर्वमशनमुक्तं तदैकाहिकभोजनपर्याप्तमेवार्जयेत् । मासोपयोगी वा सञ्चयो मासपर्याप्तः सञ्चयो 'माससञ्चयः' । सोऽस्यास्तीति ठन् कर्तव्यः । यदि वा माससञ्चयक इति बहुव्रीहिसमासोऽत्र कर्तव्यः, 'मासपर्याप्तः सञ्चयोऽस्येति' । एवमुत्तर-योरपि ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ सञ्चये विशेषमाह सद्यःप्रक्षालक इति । सद्य एव संचय-भाण्डं प्रक्षालयतीति प्रक्षालनेन तदव्यभिचरिता रिक्तता लक्ष्यते । समानिचयः संवत्सरार्था-न्नाद्यसञ्चयकारी संवत्सरोर्ध्वकालार्थसंचयस्तु नास्त्याश्वयुजे त्यागस्योक्तत्वात् । पक्ष-चतुष्टयं तु पूर्वपूर्वप्राशस्त्यार्थमुक्तम् ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । एकाहमात्रजीवनोचितं मासवृत्त्युपचितं वा षण्माससंवत्सरनिर्वाह-समर्थं वा नीवारादिकं संचिनुयात् । यथापूर्वं नियमातिशयः मासवृत्तियोग्यः संचयो माससंचयः सोऽस्यास्तीति 'अत इनिठना'विति ठन्प्रत्ययेन माससंचयिक इति रूपम् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । सद्यःप्रक्षालिकादिचतुष्टयं संचयनियमः । नियमभङ्गे प्रायश्चित्ती स्यात् । सद्यःप्रक्षालक एकाहनिर्वाहकसंचितभक्तः । निचयः संचयस्तेन षण्मासव्यापी संचयो यस्य एवं समा अब्दं व्याप्य निचयो यस्येति ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिदिनमन्नं संपाद्यातिथिशेषं भुक्त्वा श्वस्तनिको हस्तप्रक्षालनं यः करोति स सद्यःप्रक्षालकः ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सद्यःप्रक्षालको वा स्यात्, तदहःपर्याप्तकः स्यात् सञ्चयरहित इत्यर्थः । च पुनः समानिचय एव वा वर्षपर्याप्तान्नो वा । 'हायनो स्त्री शरत्समा' इत्यमरः । वर्षपर्याप्तान्नसंचय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(७) मणिरामः । सद्यःप्रक्षालकः एकाहमात्रजीवनोचितं धान्यं यस्यास्तीति सः । एवमग्रेऽपि ॥ १८ ॥

(८) गोविन्दराजः । सद्यःप्रक्षालक इति । षण्मासनिचयो वापि समानिचय एव वा । आन्तिकमात्रमन्नं वा संचिनुयात् । मासपर्याप्तं वा षण्माससमर्थं वा संवत्सर-पूरकं वा ॥ १८ ॥

(९) भारुचिः । समानिचयः वर्षनिचयः ॥ १८ ॥

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः ॥

चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाऽप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विर्भोजनस्य पुरुषार्थतया विहितत्वादन्यतरस्मिन्काले निवृत्ति-विधीयते । यथा यथा वयोऽतिक्रामति तथा तथा भोजनकालं जह्यात् । चतुर्थमप्यष्टमाव-धिकतयाऽऽश्रयेत् । त्रीण्यहोरात्राण्यतीत्य चतुर्थेऽहनि सायं भुञ्जानोऽष्टमकालिको भवति । भोजनस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयश्चतुर्थकालसम्बन्धः प्रतीयते ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नक्तमेव दिवैव वा भोजनं, तत्र शक्तितः शक्तौ सत्यां नक्तमेव । यदा तु दिवा तदा नित्यमाहृत्य सद्यःप्रक्षालकवृत्तौ स्थित्वैव भोजनमित्यर्थः । 'चतुर्थकालिको वे'त्याद्यपि शक्तावेकस्मिन्दिने दिवा नक्तं वा भुक्त्वा द्वितीयदिनेऽभुक्त्वा तृतीये दिवा नक्तं वा भोजनमिति चतुर्थकालभोजनम् । सामान्यतो हि सायंप्रातःकालयोर्भोजनकालत्वात्प्रत्यहं द्वौ कालौ भवतः, एवमष्टमकालिकत्वमप्युन्नेयम् ॥ १८-१९ ॥

(३) कुल्लूकः । यथासामर्थ्यमन्नमाहृत्य प्रदोषे भुञ्जीत । अहन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात् । 'सायंप्रातर्भनुष्याणामशनं देवनिर्मित'मिति विहितम् । तत्रैकस्मिन्नहन्युपोष्या-परेद्युः सायं भुञ्जीत । अष्टमकालिको वा भवेत् त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याहोरात्रौ भुञ्जीत ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । नक्तंभोजिनोऽहरेवाहरणमाह दिवा वेति । वाशब्दोऽत्र एवशब्दार्थः । 'सायंप्रातर्भनुष्याणामशनं देवनिर्मित'मिति स्मृतेश्चतुर्थभोजनस्य यः कालः स भोजनार्थं विहितो यस्य सः तेन पूर्वैद्युरुपोष्य परेद्युः सायंभोजी चतुर्थकालिकः । एवं त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थेऽहनि सायंभोजी अष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । एकमहोरात्रमुपोष्य द्वितीयेऽहोरात्रे नक्तमेव भुञ्जानश्चतुर्थ-कालिकः ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । दिवा अन्नं आहृत्य आनीय नक्तं नक्तकाले अश्नीयात् । नक्तकाल-माह 'आत्मनो द्विगुणं छायामतिक्रामति भास्करः । तं नक्तं नक्तमित्याहुर्न नक्तं निशि

भोजनम् ॥' चतुर्थकालिकः वा स्यात् एकस्मिन्दिने दिवानक्तं वा भुक्त्वा द्वितीयदिने त्वभुक्त्वा तृतीयदिने दिवा नक्तं वा भोजनमिति चतुर्थकालिकत्वं । सायंप्रातर्भोजनकालत्वात्प्रत्यहं द्वौ कालौ भवतः । एवमष्टमकालिकत्वमप्युन्नेयं चतुर्दिनसाध्यम् ॥ १९ ॥

(७) मणिरामः । शक्तितः यथासामर्थ्यं अन्नं आहृत्य । चतुर्थकालिकः सायं-प्रातर्भुङ्क्ताणामशनस्योक्तत्वाद्द्वितीयदिवसस्य सायंकालश्चतुर्थकालः । तस्मिन् काले भुंजीत । अष्टमकालिको दिनत्रयमुपोष्य चतुर्थदिने सायंकाले भुंजीतेत्यर्थः ॥ १९ ॥

(८) गोविन्दराजः । नक्तमिति । यथाशक्त्यान्नमाहृत्य प्रदोष एव चाशनीयादिति वा चतुर्थकालाशिनो वा भवेत् । 'सायंप्रातर्भुङ्क्ताणामशनं देवनिर्मित'मित्येतत् प्राप्त इत्येकस्मिन्नहन्युपोष्य अपरेद्युः सायमशनीयात् अष्टमकालिको वान्यहमुपोष्य चतुर्थेऽह्नि सायम-शनीयात् ॥ १९ ॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ॥

पक्षान्तयोर्वाऽप्यशनीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥

[यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत् ।

यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत् ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । पक्षान्तौ पूर्णमास्यमावास्ये । अत्र श्रितां यवागूमशनीयात् । सकृदिति सायं प्रातर्वा ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुक्ले कृष्णे चेति मासमित्यर्थः । पक्षान्तयोः दर्शे पौर्णमास्यां च । क्वथितां तप्तां । सकृदेकदैव ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । शुक्लकृष्णयोः । 'एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च वर्धयेत्' (११।२१६-१८) इत्यादिनैकादशाध्याये च वक्ष्यमाणैश्चान्द्रायणैर्वा वर्तयेत् । पक्षान्तौ पौर्णमास्यमावास्ये तत्र शृतां यवागूं वाप्यशनीयात्सकृदिति सायं प्रातर्वा ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । 'चान्द्रायणविधानैर्वा' (११।२१६-१८) इत्येकादशाध्याये (वा) वक्ष्यमाणैः । क्वथितां पक्वां पक्षान्तयोः अमायां पौर्णमास्यां च सकृत्सायं प्रातर्वा वारमात्रमशनीयात् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । पक्षान्तयोः शुक्लकृष्णयोः अन्ते मासांतेऽशनीयात् मासोपवास इत्यर्थः । यद्वा पक्षान्तयोः शुक्लपक्षान्ते कृष्णपक्षान्ते वाऽशनीयात् 'पक्षे गते वाप्यशनीयादिति (याज्ञ. ३।५०) योगीश्वरः । क्वथितां यवागूं नीवारादिचूर्णविकाराम् ॥ २० ॥

(७) मणिरामः । शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् । 'एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च वर्धयेत्' (११।२१६) इति प्रकारेण । पक्षान्तयोर्वा पौर्णमास्यमावास्ययोर्वा भूमौ केवलभूमौ नत्वास्तुतायां ॥ २१ ॥

(८) गोविन्दराजः । चांद्रायणविधानैरिति । शुक्लकृष्णपक्षयोश्चांद्रायणविधानैर्वा वक्ष्यमाणैः पिण्डोपचयापचयरूपैर्वर्तेत । पौर्णमास्यमावास्यायोर्वा यवपिष्टादिपेयां क्वथितामेकवारमश्नीयात् ॥ २० ॥

(९) भारुचिः । पिण्डाना..... ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा ॥

कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । कालपक्वैः । पनसादीनां अग्निनाऽपि पाकः क्रियते तन्निषेधार्थम् । तदग्निपक्वं गृहस्थस्यानिषिद्धम् । वैखानसं नाम शास्त्रम्, यत्र वानप्रस्थस्य धर्मा विहिताः तेषां मते स्थितः । अन्यामपि तच्छास्त्रोक्तां चर्यां शिक्षेत ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केवलैरन्नान्तरा संसृष्टैः कालपक्वैः फलैः स्वयंशीर्णैः फलाङ्कुरादिजननशक्तिहीनतां प्राप्तैः । वैखानसमते वानप्रस्थधर्मे ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्वैः नाग्निपक्वैः स्वयं पतितैर्जीवेत् । वैखानसो वानप्रस्थः तद्धर्मप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः । तेनैतदुक्तम् अन्यदपि वैखानस-शास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । केवलैः प्रत्येकैर्न मिश्रैः कालपक्वैः पनसादिभिरग्निपक्वनिषेधार्थं वैखानसमते वानप्रस्थप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । केवलैरनतिपक्वैरामैरिति यावत् । वैखानसमिति । विखनसा प्रणीतं सूत्रं, तत्र हि वानप्रस्थधर्मस्य पूर्ण उपदेशः क्रियते ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । केवलैः अन्नान्तरा संसृष्टैः स्वयंशीर्णैः फलाङ्कुरादिजननशक्तिहीनैः । वैखानसमते स्थितः वानप्रस्थाश्रमस्थः ॥ २१ ॥

(७) मणिरामः । वैखानसः वानप्रस्थस्य ॥ २१ ॥

(८) गोविन्दराजः । पुष्पमूलफलैरिति । मूलफलान्येव कालपक्वानि नाग्निपक्वानि स्वयंपक्वानि भक्षयेत् । वैखानसाख्ये वानप्रस्थाशास्त्रदर्शने स्थितः तदुक्तमन्यदप्यनुतिष्ठेत् ॥ २१ ॥

(९) भारुचिः । अयमपरः कल्पोऽभ्युदयविशेषः ॥ २१ ॥

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । विपरिवर्तनं केवलायां भूमावेकेन पाश्वर्णेन निषद्य पुनः पाश्वर्न्तिरेणावस्थानम् । आहारविहारकालौ वर्जयित्वा एवं वर्तेत, नोपविशेन्न च क्रमेत् । न शय्यायां नासने न भित्तौ निषीदेदित्यर्थः । प्रपदैः पादाग्रैर्वा तिष्ठेत् । स्थानासनाभ्यां च दिने ।

रात्रौ तु केवलस्थण्डिलशायितां वक्ष्यति । सवनेषु प्रातर्मध्यन्दिनापराह्णेषु उपयन्तप इति च । असम्भवे नद्यादीनामुद्धृतोदकेनापि स्नानं दर्शयति (६ । २६) ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विपरिवर्तेत इतस्ततो भ्रमन्वर्तेत । प्रपदैः पादाग्रैः । स्थाना-
सनाभ्यां कदाचिदूर्ध्वं स्थितः कदाचिदुपविष्टो विहरेत् कालं नयेत् । अत्र तु पक्षे त्रिषवणस्नानं
कार्यमित्याह सवनेष्विति ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । केवलायां भूमौ लुठन्गतागतानि कुर्यात्, स्थानासनादावुपविशेत्,
उत्तिष्ठेत्पर्यटेदित्यर्थः । आवश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः । एवमुत्तर-
त्वापि । पादाग्राभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कंचित्कालं स्थित एव स्यात्, कंचिच्चोपविष्ट एव, नत्वन्तरा
पर्यटेत् । सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्ने स्नायात् । यत्तु 'सायं स्नायात् प्रगे तथे' (६ । ६) त्युक्तं
तेन सहास्य नियमातिशयापेक्षो विकल्पः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । भूमावेव गतागतं कुर्यादित्याह भूमाविति । आहारस्तदाहरणकालौ
वर्जयित्वा प्रपदैः पादाग्रैः तिष्ठेत्, नासनादावुपविशेत्, स्थाने न तिष्ठेत्, आसनेन पद्मासना-
दिना वा विहरेत् दिवसं नयेत् । सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात् । 'सायं स्नायात्प्रगे
तथे'त्युक्तेः । तेन सहास्य पञ्चातपादेनियमाविशेषाद्विकल्पः ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । विपरिवर्तेत शयीत । प्रपदैः पादाङ्गुल्यग्रैः । विहरेत्कालं क्षिपेत् ।
सवनेष्वप्युपयन्नुपगच्छंस्त्रिषवणस्नायीति यावत् ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमौ विपरिवर्तेत इतस्ततो भ्रमन्विपरिवर्तेत दिनं प्रपदैः पादाग्रैः
तिष्ठेद्वा । 'प्रपदं तु पदाग्रं स्यादित्यमरः । स्थानासनाभ्यां विहरेत् स्थानतः कदाचिदूर्ध्वस्थितः
कदाचिदुपविष्टस्ताभ्यां स्थानासनाभ्यां विहरेत्, सवनेषु अप्युपयन् त्रिषवणं स्नानं
कुर्वन् ॥ २२ ॥

(७) मणिरामः । यवागूं शिथिलौदनरूपां । सकृत् एकवारं सायं प्रातर्वा विपरिवर्तेत
लुठन् गतागतानि कुर्यात् । प्रपदैः पादाग्रैः दिनं तिष्ठेत् । स्थानासनाभ्यां स्थानादौ उपविशेत्,
विहरेत् पर्यटेत् । एतेषां मध्ये एकं कुर्यात्, नतु सर्वं । अयं नियमः स्नानभोजनादिकाला-
दन्यकाले ज्ञातव्यः, सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु । अप्युपयन् स्नायात् ॥ २२ ॥

(८) गोविन्दराजः । भूमाविति । भूमौ लुठन् गतागतानि वा कुर्यात् । पादाग्राभ्यां
वा दिनं तिष्ठेत् किञ्चिच्च कालस्थित एव स्यात् । किञ्चिच्चोपविष्ट एव सवनेषु
सायंप्रातर्मध्यंदिनेषु च स्नानं कुर्यात् । 'प्रगे तथे'त्येतेन सहास्य विकल्पो नियमाति-
शयापेक्षः ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्विभ्रावकाशिकः ॥

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चभिरात्मानं तापयेत् । चतसृषु दिक्षु अग्नीःसन्निधाप्य मध्ये
तिष्ठेदुपरिष्ठादादित्यतापं सेवेत । प्रावृष्यभ्राण्येवावकाश आश्रयः, यस्मिन्देसे देवो वर्षति

तं प्रदेशमाश्रयेद्वर्षानिवारणार्थं छत्रवस्त्रादि न गृह्णीयात् । हेमन्ते शीतोपलक्षणार्थम् । एतेन शिशिरेऽप्येव एव विधिः आर्द्रवासस्त्वम् । क्रमशः क्रमेण ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शक्तावपि तीव्रतपःप्रकारानाह ग्रीष्म इति । चतुर्दिक्स्थ-
वह्निचतुष्टयन सूर्येण चेति पञ्चभिस्तापनात्पञ्चतपाः । अभ्रावकाशिको मेघप्रक्षकः, नावृत-
देशस्थ इत्यर्थः । ग्रीष्मादिपदानि चतुर्मासर्तुपुराणि ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । आत्मतपोविवृद्धयर्थं ग्रीष्मे । चतुर्दिगवस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं चादित्य-
तेजसात्मानं तापयेत् वर्षास्वभ्रावकाशमाश्रयेत्, यत्र देशे देवो वर्षति तत्र छत्राद्यावरणरहित-
स्तिष्ठेदित्यर्थः । हेमन्ते चार्द्रवासा भवेत् । ऋतुत्रयसंवत्सरावलम्बेनायं सांवत्सरिक एव
नियमः ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषां तपोविशेषानाह ग्रीष्मेति द्वाभ्यां । चतुर्दिक्स्थितैरग्निभिरूर्ध्वं सूर्य-
इति पञ्चातपाः यस्य स पञ्चातपः अभ्रेषु वर्षासु अवकाशेनानावरणतया चरतीत्यभ्राव-
काशिकः । हेमन्त इति । शीतोपलक्षकम् ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । अभ्रमाकाशम् ॥ २३ ॥

(७) मणिरामः । पञ्चातपः स्यात् चतुर्दिगवस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं सूर्यतेजसाऽऽत्मानं
तापयेत् । अभ्रावकाशयेत् अभ्रावकाशं आश्रयेत् यत्र वर्षति तत्र छत्रधनावृतस्तिष्ठेत् ।
अयं सांवत्सरिक एव नियमः, न तु सदा ॥ २३ ॥

(८) गोविन्दराजः । ग्रीष्म इति । शनैः शनैस्तपोविवृद्धयर्थं दिक् चतुष्टयोपनिहितै-
रुपरिष्ठाच्चादित्येन ग्रीष्मे आत्मानं तापयेत् । वर्षासु गलत्सलिलं जलधारागलितं शिरसि
धारयेत् । हेमन्ते चार्द्रवस्त्रो भवेत् । ऋतुः संवत्सर इत्येतद्दर्शनावष्टंभेन सकलसंवत्सरा-
पेक्षमेवैतदुक्तम् ॥ २३ ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् ॥

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । उपस्पृशनं स्नानम् । अन्यदपि ऊर्ध्ववाह्वादि मासोपवासद्वादश-
रात्रादि तपः । उग्रतरं प्रकृष्टतरं शरीरपीडाजननं कुर्वन् शोषयेच्छरीरम् ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उग्रं तपो यदा चरति तदोपस्पृशन् स्नानं कुर्वन् त्रिषवणं देहं
शोषयेत् आयासेन ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । विहितमपि त्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणविधानार्थमनूद्यते । प्रात-
र्मध्यंदिनं सायंसवनेषु त्रिषवपि देवर्षिपितृतर्पणं कुर्वन्नन्यदपि पक्षमासोपवासादिकं तीव्रव्रतं तपोऽ-
नुतिष्ठन्त्यथोक्तयमेत पक्षोपवासिनः, केचिन्मासोपवासिन इति स्वशरीरं शोषयेत् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नानतर्पणयोरावश्यकत्वमाह उपेति । देहं बाह्याभ्यन्तर-
द्वयम् ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । त्रिषवणस्य स्नानस्य पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिषवणे त्रिषु सवनेषु त्रिकालेषु उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

(७) मणिरामः । उक्तमेव त्रिषवणं कालत्रये तर्पणार्थमनूद्यते । तथा च स्नानत्रय-
समये पितृतर्पणं कुर्यादित्यर्थः । उग्रतरं पक्षमासोपवासादिकम् ॥ २४ ॥

(८) गोविन्दराजः । उपस्पृशन्निति । सायंप्रातर्मध्यदिनेषूक्तं त्रिषवणं स्नानं कुर्वन्
देवपितृतर्पणं कुर्वन्नन्वदपि वैखानसशास्त्रोक्तं तीव्रं तपश्चरंश्च शरीरं क्षपयेत् ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ॥

अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । विताने भवा वैतानाः श्रौताः । तान्समारोपयेद्भस्मपानादि-
विधानेन । आत्मनि समारोपणविधिश्च श्रवणकादवगन्तव्यः । चिरकालं यदा तपश्चरितं
भवति, सप्तत्यवस्थां वयः प्राप्तं, तदा वानप्रस्थ एव सन् 'अनग्निरनिकेतः' पर्णकुटीं निवासार्थां
जह्यात् । क्व तर्ह्यसीत् ? । उपरिष्ठाद्वक्ष्यति "वृक्षमूलनिकेतन" (वसिष्ठस्मृ० ६ । २६)
इति । 'मुनिः' 'स्यादिति' संबध्यते । तेनायमर्थ उक्तो भवति—वाङ्मनियमं कुर्यादिति ।
मौनव्रतधारी नियतवागुच्यते लोके । मूलफलाशनः । अन्यानन्ननिवृत्त्यर्थमेतत् । नीवारा-
दीन्यारण्यान्यपि नाशनीयात् ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रैवाश्रमे धर्मकाष्ठां दर्शयति अग्नीनिति । वैतानान् श्रौतान् ।
यथाविधि 'याते अग्ने यज्ञियेति' मन्त्रेण । अनग्नस्त्यक्तपाकसाधनाग्निः । अनिकेतो गृहेष्व-
वसन् । मुनिर्मननपरः ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रौतानग्नीन्वैखानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिनात्मनि समारोप्य
लौकिकाग्निगृहशून्यो यथा वक्ष्यति 'वृक्षमूलनिकेतन' इति । मुनिर्मौनव्रतचारी फलमूलाशन
एव स्यात् नीवाराद्यपि नाशनीयात् । एतच्चोर्ध्वं षण्मासेभ्योऽप्युपरि 'अनग्निरनिकेतन' इति
वसिष्ठवचनात् षण्मासोपर्यनग्नित्वमनिकेतत्वं च ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्राप्यपरितुष्यन्तं विरक्तं प्रत्याह अग्नीनित्यष्टभिः । अग्नीन्
भस्मात्मकान् 'पीत्वा भैक्ष्यमाहरेदिति' तृतीयेनान्वयः । 'ऊर्ध्वं षण्मासेभ्योऽनग्निरनिकेत' इति
वसिष्ठोक्तेः । षण्मासं वानप्रस्थं कृत्वा यथाविधि वैखानसशास्त्रविधानेन ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । एवं गृहस्थसमस्य वानप्रस्थस्य धर्मा उक्ताः । अथ भिक्षुकस्य धर्मानाह
अग्नीनिति । अनग्निः त्यक्तपञ्चाग्निः । मुनिर्मौनी ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैतानाग्नीनात्मनि समारोप्य अनग्निः पाकादिरहितः अनिकेतः
स्यात् गृहरहितः स्यात् ॥ २५ ॥

(७) मणिरामः । वैतानान् श्रौतान् । यथाविधि वानप्रस्थशास्त्रविधानेन । अनि-
केतनः वृक्षमूलनिकेतनः । मुनिः मौनव्रती । मूलफलाशनः । तथा च नीवाराद्यशनमपि न
कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

(८) गोविन्दराजः । अग्नींश्चेति । ऊर्ध्वं पङ्क्त्यो मासेभ्यो 'अनग्निरनिकेत' इति वसिष्ठदर्शनात्तस्मात्कालादूर्ध्वं श्रौतानग्नीन् वैखानसशास्त्रविधानेन आत्मनि भस्मपानादिद्वारेण समारोप्य ततो लौकिकाग्निपर्णकुटीगृहशून्यो मुनिश्च संयतवाङ्मूलफलाशन एव स्यात् ॥ २५ ॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ॥

शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । सुखप्रयोजनेषु वस्तुषु प्रयत्नं न कुर्यात् । आतपपीडितः छायां नोपसर्पेत् । शीतादितो नाग्निं समिन्धीत् । यदि तु दैवोपपादितादित्यतापादिना शीतादिदुःखनिवृत्तिर्भवतीत्यत्रैव दुःखापनोदः क्रियते, न निषिध्यते । वर्षादिकालादन्यत्रैतद्विधीयते : तत्र प्रतिपन्नस्य धर्मस्य विधानात् । अथवा व्याधितस्तस्यौषधप्रयत्नो निवार्यते । व्याधिनिवृत्तिरपि 'सुखं' उच्यते । अतस्तन्निवृत्त्यर्थं यत्नं न कुर्यात् । धराशयः केवलैस्तृणैराच्छादिते स्थण्डिले शयीत । शरणेष्व्वाश्रयेषु गृहवृक्षमूलादिषु ममकारमात्मीयाभिनिवेशं न कुर्यात् । वृक्षमूलानि निकेतनं गृहस्थानीयं कुर्यात् । तदसम्भवे शिलातलगुहादयोऽपि विहिताः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुखार्थेषु सुखसाधनेषु । ब्रह्मचारी त्यक्तस्त्रीसंगः । एवं च सपत्नीकस्य ऋतुगमनानुमतिर्गम्यते । धराशयः क्षितिशायी । शरणेषु वृष्ट्यादिवारकेषु वृक्षादिष्वसमर्थः (? ष्वममः) ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । सुखप्रयोजनेषु स्वादुफलभक्षणशीतातपपरिहारादिषु प्रयत्नशून्योऽस्त्रीसंभोगी भूशायी च निवासस्थानेषु ममत्वरहितो वृक्षमूलवासी स्यात् ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । सुखार्थेषु सुखजनकीभूतेषु सक्चन्दनादिषु । धराशयो भूमिशयः । शरणेषु निवासेषु । वृक्षमूलमेव निकेतनं गृहं यस्य स वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । सुखार्थेषु सुखहेतुषु । धराशयः स्थलशायी ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरणेषु वृष्ट्यादिनिवारककुटीवृक्षादिषु अममः निर्ममः भवेत् ॥ २६ ॥

(७) मणिरामः । शरणेषु निवासस्थानेषु । अममः ममत्वरहितः ॥ २६ ॥

(८) गोविन्दराजः । अप्रयत्न इति । सुखप्रयोजनेषु शीतातपपरिहारादिषु यत्नरहितः स्त्रीसंप्रयोगरहितः वरण्डकस्थण्डिलशायी आश्रमेषु वृक्षमूलेषु ममेदमित्येवमात्मीयाभिमानशून्यो वृक्षनिकेतननिवासी स्यात् ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ॥

गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चम्यर्थं सप्तमी । तापसेभ्यः फलमूलासम्भवे भैक्षमाहरेत् । गृहमेधिभ्यो गृहस्थेभ्यो वा वनवासिभ्यः । यात्रिकं यावता सौहित्यं भवति ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तापसेषु वनस्थेषु । यात्रिकं प्राणयात्रामात्रार्थं । गृहमेधिषु गृहस्थेषु । वनवासिष्विति । वदन्नेकान्तशीलतया गृहस्थस्यापि वनवासो दर्शितः । अन्येष्वसंबन्धिषु ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । फलमूलासंभवे च वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचितं भैक्षमाहरेत् तदभावे चान्येभ्यो वनवासिभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यः ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । यात्रिकं प्राणधारणोचितं । गृहमेधिष्वित्यनेन वने ये गृहस्थाः स्युस्तेभ्योऽपि ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । तापसेषु वानप्रस्थेषु । तदलाभे गृहमेधिषु ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यात्रिकं यात्रामात्रं यावत्प्राणधारणं तावद्भैक्ष्यं आहरेत् आचरेत् । च पुनः अन्येषु गृहमेधिषु वनवासिषु भैक्ष्यं आचरेत् ॥ २७ ॥

(७) मणिरामः । फलमूलमपि न प्राप्यते चेत्तदाह तापसेष्विति । तापसेष्वेव वानप्रस्थेभ्य एव, तृतीयार्थे सप्तमी । यात्रिकं प्राणमात्रधारणोचितं । वानप्रस्थाभावे अन्येभ्यो वनवासिभ्यो गृहस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः ॥ २७ ॥

(८) गोविन्दराजः । फलमूलाभावे तु तापसेष्विति । वानप्रस्थेभ्य एव ब्राह्मणेभ्यः प्राणवृत्तिमात्रप्रयोजनं भैक्ष्यमाहरेदन्येभ्यश्चैव गृहस्थेभ्यः वनवासिभ्यः ॥ २७ ॥

ग्रामादाहत्य वाऽशनीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ॥

प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । ग्रासग्रहणान्न मूलफलभिक्षैव, ग्राम्यान्नाशनमन्यासम्भवेऽनेनानुज्ञातम् । गृहीत्वा पुटेनैव पाणिना भाजनरहितेन । शकलेन शरावाद्येकदेश-खण्डेन ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्रामादाहृत्येति विधिना तन्मात्रार्थं ग्रामं प्रविशेत् । पुटेन पूर्णपुटेन । पाणिनेति दक्षिणपाणिना । वनं प्रति भैक्ष्यानयनविधानादष्टौ ग्रासानिति पुटशकलाहरणपक्षयोरेवान्वितम् । शकलेन स्थालीक(ख)परेण ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्याप्यसंभवे ग्रामादानीय ग्रामस्यान्नस्याष्टौ ग्रासान् पूर्णशरा-वादिखण्डेन पाणिनैव वा गृहीत्वा वानप्रस्थो भुञ्जीत ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । तदलाभे प्रकारान्तरमाह ग्रामादिति । तादृशस्य भिक्षापात्र-मपि नास्तीत्याह पुटेनेति । पत्रस्यानियतत्वात् 'अञ्जलिना वा पाणिपात्र'मिति श्रुतेश्च । शकलेन अर्धेन पाणिना ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । तदलाभे किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह ग्रामादिति । पुटेन पत्रघटितेन पात्रेण । शकलेन भिन्नभाण्डखण्डेन ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणिना दक्षिणेन प्रतिगृह्य अष्टौ ग्रासानश्नीयात् । शकलेन शरावखण्डेन वा ॥ २८ ॥

(७) मणिरामः । एतस्याप्यभावे आह ग्रामादिति । पुटेन पर्णपुटेन, द्रोणेनेति यावत् । तदभावे शकलेन शरावखण्डेन, तदभावे पाणिनैव वा ॥ २८ ॥

(८) गोविन्दराजः । तदभावे तु ग्रामादिति । ग्रामाद्वानीय ग्रामस्याप्यन्नस्याष्टौ ग्रासान् पर्णपुटिकया हस्तेन वा शरावादिखण्डेन वा प्रतिगृह्य वानप्रस्थोऽश्नीयात् ॥ २८ ॥

एताश्चान्यांश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ॥

विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । एता दीक्षा नियमान्यांश्चान्तर्जलस्थानचक्षुर्निमीलनादिकं सेवेत । श्रुतीरौपनिषदीः रहस्याधिकारपठितानि वेदवाक्यानि अधीयीत चिन्तयेद् भावयेच्च 'आत्मसंसिद्धये' । ब्रह्मप्राप्त्यर्थं वा उपासना उक्ताः । विविधा इत्यनुवादः ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनाः रायणः । अन्याः स्मृत्यन्तरोक्ता मासोपवासाद्या दीक्षाः नियमान् उपनिषण्णायोच्यत इत्युपनिषद्ग्रहस्य तादृगर्थं औपनिषदीः श्रुतीः सेवेतेत्यनुषङ्गः । आत्मनः संसिद्धिविवेकः ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । वानप्रस्थ एता दीक्षा एतान्नियमान्यांश्च वानप्रस्थशास्त्रोक्तानभ्यसेत् । औपनिषदीश्च श्रुतीः उपनिषत्पठितब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि विविधान्यस्यात्मनो ब्रह्मसिद्धये ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत् ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एताश्चेति । दीक्षाशब्दो नियमवचनः । औपनिषदीः रहस्याधिकारपठिताः 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (मुण्ड० १।२।१२) इत्यादिकाः । आत्मसंसिद्धये मोक्षाय सा ह्येवात्मनो वास्तवी शुद्धिः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । 'एताश्चे'त्यादिश्लोकद्वयमेकान्वयम् । दीक्षा नियमान् ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मं एतानिति । एतान्पूर्वोक्तान्ब्रह्मतादीन् । च पुनः अन्यान् मासोपवासब्रह्मतादीन् विप्रः वने वसन् सेवेत । च पुनः दीक्षां वानप्रस्थदीक्षां सेवेत ॥ २९ ॥

(७) मणिरामः । दीक्षा नियमाः । आत्मसंसिद्धये आत्मनो ब्रह्मसिद्धये । सेवेत अभ्यसेत् ॥ २९ ॥

(८) गोविन्दराजः । एतानिति । वानप्रस्थमनुतिष्ठन् विप्र एतान्यांश्चैव वैखानसशास्त्रोक्तान् नियमानभ्यसेत् । आत्मनश्च वृक्षत्वप्राप्तये नानाप्रकार उपनिषदुक्ताः श्रुतीरर्थतोऽभ्यसेत् ॥ २९ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ॥

विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेणोक्ता अन्याश्च सेवेत । शाक्यपाशुपतादिदीक्षादि-
सेवनमपि प्राप्तं तन्निषेधति । ऋषिभिर्महाभारते संतप्यमानाद्यैः सेविता वर्ण्यन्ते । ब्राह्मणैश्च
गृहस्थैर्याः सेविताः । तदुक्तम् “उत्तरेषां चैतदविरोधीति” (गौतम. २-३-९) विद्या
आत्मैकत्वविज्ञानम्, तच्छ्रुतिसेवनेन वृद्धिं नयेत् दृढीकुर्यात् । शरीरस्य च शुद्धये आहार-
नियमदीक्षाः सेवेत ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ताश्च विद्या वैश्वानराद्युपासना तपः स्वाध्यायस्तयोर्वृद्धयर्थं
तथा तासामेव पवित्राणां जपेन शरीरस्य शुद्धिः पापक्षयस्तदर्थं च ऋष्यादिभिः सेविताः
श्रुतीः सेवेतेत्यन्वयः । ऋषिभिर्ज्ञानपरैर्यतिभिः ब्राह्मणैस्तथा गृहस्थैरेव ब्राह्मणैर्गृहस्थत्वेऽपि
सेविताः । अतो द्वयोर्मध्यवर्तिनो वनवासिनोऽतिप्रशस्ता एव ता इत्यर्थः ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादेता ऋषिभिर्ब्रह्मदर्शिभिः परिव्राजकैर्गृहस्थैश्च वानप्रस्थैर्ब्रह्मा-
द्वैतज्ञानधर्मयोर्विवृद्धयर्थमुपनिषच्छ्रुतयः सेवितास्तस्मादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । ताः स्तौति ऋषिभिरिति । ब्राह्मणैर्ब्रह्मतत्त्वदर्शिभिः सेविता
अभ्यस्यमानाः । शरीरस्य च शुद्धये लिङ्गशरीरे यत्पापं तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकं स्थूलदेहे
यत्पापं तयोर्नाशाय ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । सेविता इति दीक्षाणां च श्रुतीनां च विशेषणम् । विद्या ज्ञानम्
॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः ब्राह्मणैः ब्रह्मचारिभिः च पुनः गृहस्थैर्वानप्रस्थैः सेविता
धर्मविद्यातपोविवृद्धये च पुनः शरीरस्य शुद्धये सेवेतेति सर्वत्र संबंधः ॥ ३० ॥

(७) मणिरामः । यस्मात् ऋष्यादिभिः विद्यातपोविवृद्धयर्थं उपनिषत् श्रुतयः
सेविताः तस्मादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः ॥ ३० ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मादेताः ऋषिभिरिति । ऋषिभिः सर्वार्थदर्शिभिः
अंगीरसप्रभृतिभिरन्यैश्च ब्राह्मणैर्वानप्रस्थैरेव गृहस्थैश्च विज्ञानविवृद्धयर्थमुपनिषच्छ्रुतयः
सेविताः तपोविवृद्धयर्थं च शरीरस्य च कल्मषक्षयाय चादरेण दीक्षाः सेविताः तस्मादेताः
सेविता इति पूर्वविधिशेषपुराकल्पार्थवादः ॥ ३० ॥

अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः ॥

आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राच्या उदीच्याश्च दिशोरन्तरालमपराजिता दिक् लोकेष्वै-
शानात्युच्यते । दिशमास्थाय । चेतसि निधाय ‘एषा मया गन्तव्येति’ ततस्तामेव व्रजेत् ।
अजिह्मगः अकुटिलगामी । श्वभ्रनदीप्तोतांसि न परिहरेत् । आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो
वार्यनिलाशनः । प्राच्या उदीच्याश्च गमनविधिरयम् । यावन्न पतति तावद्वायुभक्षोऽम्बु-
भक्षश्च स्यात् । युक्तः योगशास्त्रैरात्मानं युक्त्वा । तदेतन्महाप्रस्थानमुच्यते ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ तपसा खिन्नस्याप्रत्यवायं मृत्युप्रकारमाह अपराजिता-
मिति । अपराजितामैशानीं आस्थायोद्दिश्य । अजिह्मगोऽग्निकण्टकजलादीनां वर्त्मनि दर्शने
तत्परिहारार्थं वक्रगतिमकुर्वन् । युक्तो नियतचित्तवृत्तिः । वार्यनिलाशनस्तदन्यतराशनः
॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । अचिकित्सितव्याध्याद्युद्धवेऽपराजितामैशानीं दिशमाश्रित्या-
कुटिलगतिर्युक्तो योगनिष्ठो जलानिलाशन आ शरीरनिपाताद् गच्छेत् । महाप्रस्थानाख्यं
शास्त्रे विहितं चेदं मरणम् । तेन 'न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादिति' श्रुत्यापि न विरोधः
यतः स्वःकामिशब्दप्रयोगादवैधं मरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम् ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । उपायान्तरमाह अपराजितामिति । ऐशानीं दिशमाश्रि-
त्याजिह्मगोऽकुटिलगतिः युक्तो योगशास्त्रनिश्चितमहाप्रस्थानः शरीरस्यानिपाताद्ब्रजेत्
अग्नयेतेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । प्रकारान्तरमाह अपराजितामिति । अपराजितां प्रागुदीचीम् ।
अजिह्मगः ऋजुगतिः । शरीरस्यानिपाताद्ब्रजेदित्यन्वयः ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपराजितां ईशानीं आख्याय अजिह्मगः सन्न्रजेत् । कीदृशः
वानप्रस्थः ? शरीरस्यानिपातात् युक्तः नियतचित्तः । पुनः कीदृशः ? वार्यनिलाशनः
वार्याधारो वा अनिलाधारो वा ॥ ३१ ॥

(७) मणिरामः । अपराजितां ऐशानीं दिशं आस्थाप आश्रित्य अजिह्मगः अकुटिल-
गतिः । युक्तः योगनिष्ठः । वार्यऽनिलाशनः । आ शरीरनिपातात् ब्रजेत् गच्छेत् । एतादृश-
मरणस्य शास्त्रविहितत्वान्नात्मघातत्वशंका कार्येत्याशयः ॥ ३१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अचिकित्स्यव्याध्युद्धवेऽनिष्टसंदर्शने वा सति । अपराजितामिति ।
उत्तरपूर्वा वा दिशमाश्रित्य अकुटिलयोगनिष्ठावान् वार्यम्बुभक्षः सन् अशरीरसंनिपाता-
द्गच्छेत् । न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादित्येतत्श्रुतिविरोधो न, यतः स्वकामशब्दादविधि-
मरणमत्र निषिध्यते इति अवसीयते न शास्त्रचोदितमिति ॥ ३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम् ॥

वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तानि तपांसि महाप्रस्थानं चानन्तरोक्तं महर्षिचर्या ।
आसामन्यतमया नदीप्रवेशेन भृगुप्रपतनेनाग्निप्रवेशेनाहारनिवृत्त्या वा शरीरं त्यजेत् । अस्य च
फलं वीतशोकभयस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिः । नरकादिदुःखानुभवः 'शोकः' । 'भयं' नरकं गमिष्या-
मीति तदस्य व्येति । अव्यवधानेनैव, नात्रिरादिकमेण ब्रह्मलोकं प्राप्नोति । इह स्थानविशेषो
'ब्रह्मलोकः' स्वर्गादपि निरतिशयस्तत्र महीयते पूज्यमान आस्ते नतु ब्रह्मणः स्वाराज्यं प्राप्नोति;
लोकग्रहणात् । चतुर्थे ह्याश्रमे मोक्षं वक्ष्यति । न केवलकर्मकृतो मोक्ष इत्याहुः । ननु चास्याप्युक्तं
'विविद्राण्यचौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीरिति' । आत्मसंसिद्धिश्च आत्मोपासनया तद्भावापत्तिः ।

नह्यन्यः संसिद्धिशब्दस्यार्थं उपपद्यते । औपनिषदीषु श्रुतिषु तद्भाष्यं योगिनामात्मानं 'ब्रह्म-
संस्थोऽमृतत्वमेतीति' च । अथ सायुज्यं गच्छतीत्यादि । अथोच्यते-अन्या अपि तपःसिद्धयः
श्रूयन्ते स यदि पितृलोककामो भवतीत्यादि संकल्पितार्थोपपादिता साष्टिता सालोक्यं च
पुरुषस्य भविष्यति न पुनर्मोक्ष इति-तदयुक्तं; विशेषाभावात् । यथैव परिमितफलासू-
पासनास्वधिक्रियते एवममृतत्वप्राप्तावपि । न क्वचिच्छ्रूयते परिव्राजकेनैवोपासनान्यद्वैत-
विषयाणि कर्तव्यानि ।

ननु च त्रयो धर्मस्कन्धा इत्युपक्रम्य यज्ञोऽध्ययनं दानमित्यनेन गृहस्थधर्मा उक्तास्तप
एवेत्यनेन वानप्रस्थो ब्रह्मचार्याचार्यं कुलवासीत्यनेन नैष्ठिको ब्रह्मसंस्थ इत्यनेन परिव्राजकः ।
एतेषां त्रयाणां पुण्यलोका उक्ताः पारिशेष्यादेतद्व्यतिरिक्तस्यामृतत्वम् । नैवं; ब्रह्मणि
संतिष्ठते प्रयतते तत्परस्य ब्रह्मसंस्थस्य यौगिकत्वादस्य शब्दस्य । ननु च यदि सर्वेषामधिका-
रस्तदैतावदेव वक्तव्यं 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति' । नैवं; आश्रमाणां स्वविधिवाक्यावगतं फलं
संपत्क्षयिणः पुण्यलोका भवन्तीति ब्रह्मसंस्थस्य तदाश्रमावस्थितस्यैवाऽमृतत्वमपुनरावृत्तिलक्षणं
विधीयते । ननु चाद्वैतरूपं ब्रह्मेत्यात्मविदः स च निवृत्तकर्माख्यः । आश्रमाश्च प्रवृत्तमार्गाख्याः
क्रियाकारकफलभेदानुष्ठानात्मकाः । तत्राद्वैतात्मविज्ञाने समानभेदाश्रयाणि च गृहस्थाद्य-
ग्निहोत्रकर्मादीनीति परस्परविरोधः । अत्रोच्यते-समानमेतत् पारिव्राज्येऽपि यमनियमाना-
मिष्टत्वात् च भेदाश्रयाः । अथाप्युच्येत कर्मसंन्यासिनो निवृत्तिमार्गाविस्थायिनो नैव केचिच्छा-
स्त्रार्थविधयः सन्ति । नायं शास्त्रार्थः, अहंकारममकारत्याग एव संन्यासो वक्ष्यते, नाशेष-
शास्त्रार्थत्यागः । तस्यापि क्षुधाद्युपहतस्य भिक्षादौ प्रवर्तमानस्यास्त्येव क्रियाकारकसंबन्धः तत्र
लौकिके दृष्टार्थभेदे प्रवर्तमानस्य अद्वैतात्मविज्ञानभावनमविरुद्धम् । शास्त्रीये त्वग्निहोत्रादौ
विरोधादिति को युक्तकार्येवं वदेत् ? । अथोच्यते-क्षुधाद्युपहतस्याप्यद्वैतत्यागो विरोधिना
भोजनेन तावत्काल एव । यथान्धतमसि चलितस्य गच्छतः कण्टकप्रदेशे पादन्यासः
सवितरि पुनरुदिते लब्धप्रकाशस्य पुनर्न्याय्यमेवाध्वन्यस्याकण्टकेऽवस्थानम् । तथा क्षुधाद्युपघाते
विच्छिन्नात्मविज्ञानस्य क्षणमालोकस्थानीयायां क्षुन्निवृत्तौ पुनर्दृढसंस्कारवशादेवावस्थानमिति ।
तत्तापसेऽप्यविरुद्धम् । गृहस्थस्यापि पुत्रदारादितयोपासनमविरुद्धम् । बहुव्यापारतस्तु
भेदसात्म्यतां गतस्य कुतोऽद्वैतसंस्कारोत्पत्तिः ? उक्तं च गृहस्थधर्मे 'एकाकी चिन्तये'दिति । तथा
'पुत्रे सर्वं समाज्ये'ति । ननु च 'तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयादिति'श्रुतिस्तत्र कुतो
वानप्रस्थस्य शरीरत्यागः ? नहि सा श्रुतिर्वानप्रस्थादन्यत्रानया स्मृत्या विषय उपस्थापयितुं
शक्यते । बलीयसी हि श्रुतिः, सा च स्मृत्यनुरोधेन न संकोचमर्हति । उच्यते-जरसा
विशीर्णस्यानिष्टसंदर्शनादिना वा विदिते प्रत्यासन्ने मृत्यौ मुमुर्षतो न श्रुतिविरोधः ।
एवं हि तत्र श्रूयते न 'पुरायुष' इति । अवस्थाविशेषे ह्यनभिप्रेते मरणे एतावदेवावश्यत्
'न स्वःकामी प्रेयादिति' अरिष्टोपदेशश्चोपनिषत्स्वेवमर्थवान्भवति । यस्य त्वेतन्निमित्तं
मरणं नास्ति ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आसां पञ्चतपःप्रभृतीनां महर्षयः प्रथमसर्गजा ऋषयस्तेषां
चर्या आचारः । शोको दुःखं ततो भयं शोकभयम् ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषां पूर्वोक्तानुष्ठानानामन्यतमेनानुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वाऽपगत-
दुःखभयो ब्रह्मैकस्तत्र पूजां लभते, मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः । केवलकर्मणो वानप्रस्थस्य कथं मोक्ष
इति चेन्न; 'विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंशुद्धये श्रुती'रित्यनेनास्याप्यात्मज्ञानसंभवात् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । आसामुक्तानां दीक्षाणां मध्येऽन्यतमया तनुं त्यक्त्वेत्यन्वयः ।
महीयते पूजामाप्नोति ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । आसां महर्षिचर्याणामुक्तानां नियमानाम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । आसां महर्षिचर्याणां पञ्चतपःप्रभृतीनां मध्ये अन्यतमया वा
चर्याया तनुं त्यक्त्वा विप्रो ब्रह्मलोके महीयते । कीदृशो विप्रः ? वीतशोकभयोऽपारलौकिक-
भयः ॥ ३२ ॥

(७) मणिरामः । आसां पूर्वोक्तानां ॥ ३२ ॥

(८) गोविन्दराजः । आसामिति । एषां पूर्वोक्तानां अनुष्ठानानां मध्यादन्यतमेना-
नुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वा विगतसंतापो गतभयश्च विप्रो ब्रह्मलोके पूजां लभते सम्यगुक्तमरणा-
करणेन वासौ ॥ ३२ ॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । इतःप्रभृति चतुर्थाश्रममतिः । तृतीयं भागमिति । कञ्चित्कालं
स्थित्वेत्यर्थः । यावता कालेन तपः सुतप्तं भवति विषयाभिलाषश्च सर्वो निवृत्तः । न हि
मुख्यतृतीय आयुषो भाग एवानेन शक्यो ज्ञातुम् । न हि वर्षशतापेक्षाऽऽश्रमाणां, यतो वली-
पलितापत्योत्पत्ती तृतीयाश्रमप्रतिपत्तौ काल उक्तः । न च सर्वस्य पञ्चाशद्वर्षदेशीयस्य
तदुत्पद्यते । उक्तं चान्यत्र "तपसि ऋद्धे परिव्रजेदिति" ।

"ननु च यथाऽन्येषामाश्रमाणां कालो विवृतो ग्रहणान्तं ब्रह्मचर्यं, वलीपलिताद्यवधि
गार्हस्थ्यम्, नैवमिह कश्चित्परिच्छेदहेतुरस्ति । यदि यथाश्रुतं 'तृतीयो भागः' समाश्रियेत
यच्च 'तपसि ऋद्धे' इति, तत्रापि कालापेक्षा युक्तैव । न ज्ञायते कियता तपसा ऋद्धिर्भवति ।
अतः कालपरिच्छेदो वचनार्हः" ।

उक्तमत्र न शतवर्षपेक्षया तृतीयायुर्भागनिश्चयः संभवति । उक्तश्च कालः—'काय-
पाके प्रव्रज्या प्रतिपत्तव्या' । यावता तपसा यावति च वयसि पुनर्मदवृद्धिर्नाशंक्यते तदा
परिव्रजेत् । विहृत्यासित्वा, यथोक्तं विधिमनुष्ठायेति यावत् । संगत्यागश्च ममताऽपरिग्रहः
एकारामता ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अथ यतिधर्मानाह वनेष्विति । विहृत्य क्षपयित्वेत्युक्त्वा
प्रयोगेण पक्वकषायस्य वानप्रस्थचर्याया । कष्टावपाके सत्येव यत्याश्रमेऽधिकार इति दर्शितं;
अत्रापि तृतीयं भागमिति तावता कालेन तावद्वैराग्योत्पत्तिसंभवे, अन्यथा तु यावज्जीवमपि
वन एव वसेत् संगान् परिव्रहान् । परिव्रजेत् गृहादि परित्यज्य व्रजेत् ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य तु मरणाभावस्तस्याह वनेष्वित्यादि । अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात्तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । अत एव शङ्खलिखितौ 'वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः पारिव्राज्य'मित्याचख्यतुः । एवं वनेषु विहृत्यैवं विधिवद्दुश्चरतपोऽनुष्ठानप्रकारेण वानप्रस्थाश्रमं विषयरागोपशमनाय कंचित्कालमनुष्ठाय चतुर्थमायुषो भागमिति शेषायुःकाले सर्वथा विषयसङ्गांस्त्यक्त्वा परिव्राजकाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । अविरक्तस्यापि चतुर्थे वयस्यवश्यं संन्यास इत्याह वनेष्विति । चतुर्थमायुषो भागं प्राप्य परिव्रजेदित्यन्वयः, 'वनी भूत्वा प्रव्रजे'दिति (जाबाल. ४) श्रुतेः । विरक्तस्य तु क्रमोत्क्रमाभ्यां संन्यासः अव्रती वा व्रती वा उच्छिन्नाग्निरनुच्छिन्नाग्निको यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् (ना.प. ३.७७) । 'यदि चेतरेथा ब्रह्मचर्यादेव व्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा' (प. हं. प. १) त्यादिश्रुतिशतैश्च संन्यासस्य विहितत्वात् । 'अयं त्वविरक्तो ब्रह्मलोकेप्सुः संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थान'मिति श्रवणात् ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । अथ संन्यासाश्रमं प्रस्तौति वनेष्विति विहृत्य चरित्वा ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ संन्यासाश्रमप्रकरणे वनेष्विति । एवमायुषस्तृतीयभागं नीत्वा चतुर्थमायुषो भागं ज्ञात्वा संगान्सर्वास्त्यक्त्वा परिव्रजेत् संन्यसेत् ॥ ३३ ॥

(७) मणिरामः । संन्यासाश्रममाह वनेष्विति । अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात् तृतीयमायुषो भागमिति । रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । तथा च आयुषः तृतीयं भागं वानप्रस्थाश्रमं विषयरागोपशमकालपर्यन्तं । विहृत्य कृत्वा चतुर्थमायुषो भागं शेषायुःकाले संगान् विषयसंगान् । त्यक्त्वा परिव्रजेत् संन्यासाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

(८) गोविन्दराजः । वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषो भागस्त्यक्तसंगः परिव्रजेत् ॥ 'एवमुक्तरीत्या तृतीयमायुर्भागं वानप्रस्थानुष्ठानार्थं वने उषित्वा ततश्चतुर्थमायुर्भागं पूर्वावस्थानादतिशयेन रागादीन् त्यक्त्वा चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत् वक्ष्यमाणाश्रमसमुच्चयपक्षे ॥ ३३ ॥

(९) भारुचिः । तदेवं ॥ ३३ ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ॥

भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । समुच्चयपक्षमुपोद्बलयति आश्रमादाश्रममिति । गृहस्थाश्रमाद्धानप्रस्थाश्रमं गत्वा हुतहोमो उभयोरप्याश्रमयोर्यदा जितेन्द्रियस्तदा परिव्रजेत् । प्रेत्य वर्धते मृत्वा विभूत्यतिशयं प्राप्नोति । भिक्षाबलिदानेन परिश्रान्तः चिरम् । आश्रमधर्मानुवादोऽयम् ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र वनवासानन्तरं परिव्राज्याभिधानेन गृहस्थस्य पारिव्राज्याधिकारो नास्तीति प्रसज्जितां शङ्कां निराचष्टे आश्रमादिति । न केवलं ब्रह्मचर्यं वर्तमानस्य तादृशवैराग्यादि तस्य चर्णत्रयापाकरणसंभवात्तमाश्रमं त्यक्त्वा गृहस्थाश्रम-गमनमवश्यं न तु गृहस्थस्य ऋणापाकरणमाश्रमान्तसाध्यमतोऽस्य विरागस्यावान्तरमेव । पारिव्राज्यं संभवतीति तात्पर्यम् । हुतहोम इति यज्ञैकदेशाभिधानेन यज्ञस्वाध्यायापत्यै-ऋणत्रयापाकरणमुक्तम् । जितेन्द्रियोऽभ्युत्थापितवैराग्यः तेन जितेन्द्रियोऽहमिति यदि गृहस्थो मन्यते तदा तदैव परिव्रजेदन्यथा वनवासेन, जितेन्द्रियतां प्राप्येत्यर्थः । भिक्षादानबलि-दानाभ्यां कर्मकालोपालक्ष्यते तेन श्रान्तस्तत्करणासमर्थः । एतेन तच्छक्तौ तत्कुर्वतैवात्मा जिज्ञास्य इति दर्शितम् । प्रेत्य वर्धते लिङ्गदेहावच्छिन्नस्तदवच्छेदन्यासोद्भवं विभुत्वं लभते ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वपूर्वाश्रमादुत्तरोत्तराश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याद्गृहाश्रमं ततो वानप्रस्था-श्रममनुष्ठायेत्यर्थः । यथाशक्तिगताश्रमहुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिदानचिरसेवया श्रान्त-परिव्रज्याश्रममनुतिष्ठन्परलोके मोक्षलाभाद्ब्रह्मभूतद्वैतशयं प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । आश्रमाद्वानप्रस्थान्तादाश्रमं तेष्वन्तर्गतं ब्रह्मचर्याद्यन्यतमं तेषु हुतोहोमो बहुधा श्रौतलौकिकाग्निषु येन स अतः परं न होष्यतीत्यर्थः । भिक्षाबलि-परिश्रान्त-ब्रह्मचर्यं भिक्षया गार्हस्थ्य-वानप्रस्थयोर्बलिदानेन परिश्रान्तः भिक्षारूपबलेरभिमतत्वाद्वा श्रान्तः 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यमस्ती'ति श्रुतेः । तथाविध एव प्रेत्य सुखी स्यात् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । इयमेवाश्रमप्राप्तिरुचिता नान्येत्याह आश्रमादिति । हुतहोमः कृत-समिदाधानाग्निहोत्रहोमः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः भिक्षाहरणवैश्वदेवबलिहरणाभ्यां क्षीण-देहः । आभ्यां विशेषणाभ्यामाश्रमत्रयविहितं कर्म लक्ष्यते । आश्रमादाश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याश्रमाद्गार्हस्थ्यं ततो वानप्रस्थाश्रमं गत्वा ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः भिक्षाबलिभ्यां रहितः संचयरहितः हुतहोमः शिखासूत्रपरित्यागे कृतहोमः एतादृशः प्रव्रजेत् प्रेत्य परलोके वर्धते मोक्षं प्राप्नोति । लिङ्ग-देहाद्यनवच्छिन्नविभुत्वं मोक्षत्वं एवं यत्तत्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(७) मणिरामः । आश्रमादाश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याद्गृहस्थाश्रमं ततो वानप्रस्थाश्रम-मनुष्ठायेत्यर्थः । हुतहोमः अथाशक्तिगताश्रमहोमः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः भिक्षाबलिदान-चिरसेवया श्रान्तः । परिव्रजन् संन्यासाश्रममनुतिष्ठन् । प्रेत्य वर्धते परलोके ब्रह्मभूतऋद्धय-तिशयं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(८) गोविन्दराजः । आश्रमादिति । पूर्वोक्तेष्वश्रमेषु यथाक्रमं पूर्वस्मात्पूर्वस्माद-नन्तरं आश्रममनुष्ठाय यथासंभव आश्रमेषु हुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिदानश्रान्तः सन् प्रव्रज्यामनुतिष्ठन्परलोके वर्धते । मोक्षप्राप्त्यानन्दमयं ब्रह्मोत्पेवमृदद्यतिशययुक्तो भवति ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । अपाकरणं ऋणसंशुद्धिः । मनो मोक्षे निवेशयेत् । मोक्षशब्देन प्रव्रज्याश्रमो लक्ष्यते । तत्र प्राधान्येन मोक्षैकफलतोच्यते । न तथाऽन्येष्वश्रमेषु अतो 'मोक्षः' परिव्रज्या ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमर्थं स्फुटयति ऋणानीति । मोक्षे मोक्षसाधने चतुर्थाश्रमे । अधो व्रजति प्रत्यवायोत्पत्त्या पूर्वश्रमेऽप्यनधिकृतो भवति । न चैवं 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्वना-दगृहाद्वे'ति श्रुत्यविरोधः तस्याः पूर्वजन्माभ्यासवशादित्यात्यन्तिकवैराग्यपुरुषविषयत्वात् । तदाह देवलः 'यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं गिरः । संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्' (ना. प. २।१५) इति । यस्तु नात्यन्तं वीतरागः स मन्दाधिकारः । तद्विषयाणि च अनपाकृतर्तयसंन्यासनिषेधकमन्वादिवचनानि । यथा भारते 'कषायं पाचयित्वा च श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु । प्रव्रजेच्च परं स्थानं यत्र गत्वा न शोचती'ति ॥ यस्तूत्कटरागस्तद्वि-पयमैकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति ऐकाश्रम्यं गार्हस्थ्यरूपैकाश्रमित्वमेव रागिणां युक्तमित्याचार्याः । रागिणामधिकृत्य गार्हस्थ्यस्य प्रत्यक्षतः श्रुतौ विधानादि-त्यर्थः ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उत्तरश्लोकाभिधेयानि त्रीण्यृणानि संशोध्य मोक्षे मोक्षान्तरङ्गे परिव्रज्याश्रमे मनो नियोजयेत् । तान्यृणानि त्वसंशोध्य मोक्षं चतुर्थाश्रममनुतिष्ठन्नरकं व्रजति ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च वेदाध्ययनपुत्रोत्पादनयज्ञागुष्ठानैर्ऋषिपितृदेवानामृणान्य-पाकृत्य शोधयित्वा मोक्षे संन्यासे मोक्षसाधनत्वान्मनो निवेशयेदित्यविरक्तं शिक्षयन्नाह ऋणानिति । तदकरणे दोषमाह अनपाकृत्येति । अधो नरकं व्रजेदेव ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्ये कृत्वा वानप्रस्थमकृत्वापि संन्यासः कर्तव्यो नान्यथेत्याह ऋणानीति । ऋणानि त्रीण्यध्ययन-प्रजनन-यजनाख्यानि । मोक्षे मोक्षसाधने संन्यासाश्रमे । अनपाकृत्य ऋणानीत्येव ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रीणि ऋणानि अपाकृत्य परिहृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । देव-धिपितृर्णानि यज्ञेन दैवमृणं, वेदाध्ययनेनार्षं, पुत्रोत्पादनेन पैतृकं, एतद्वृत्तयमपाकृत्य परिहृत्य परिव्रजेत् । तु पुनः त्रीणि ऋणानि अनपाकृत्य अनपाकृत्य मोक्षं सेवमानः अधो व्रजति पतति ॥ ३५ ॥

(७) मणिरामः । ऋणानि त्रीणि वक्ष्यमाणश्लोकोक्तानि । मोक्षे मोक्षान्तरंगे संन्यासाश्रमे अनपाकृत्य ऋणान्यशोध्य । मोक्षं संन्यासाश्रमम् ॥ ३५ ॥

(८) गोविन्दराजः । तथाश्रमसमुच्चयपक्षांगीकरणे सति ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे नियोजयेदिति । उत्तरश्लोकवक्ष्यमाणानि त्रीणि ऋणानि संशोध्य ततः प्रव्रज्याद्वारेण मोक्षविषये मनो नियोजयेत् । तानि पुनरसंशोध्य साक्षेपोऽयं प्रव्रज्यामनुतिष्ठन्नरकं व्रजति ॥ ३५ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ॥

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥३६॥

(१) मेधातिथिः । कानि पुनस्तानि त्रीणि ऋणान्यत आह—“त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन षिभ्यः” (तै. सं. ६, ३, १०) इति श्रुत्यनुवादिनी स्मृतिरियम् । ननु “गृही च भूत्वा प्रव्रजेदथवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्” (जाबाल. ४) इति जाबालश्रुतिः । उच्यते । उत्पत्तिमात्रमाश्रित्योक्तमुदाहरति । तत्रेदं विरुध्यते “अनुत्पाद्य तथा प्रजामिति” । “यद्येवा श्रुतिरस्ति किं तर्हि ?” इदमुच्यते । प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति । प्रव्रजेदिति—तेन तु प्रव्रजितेनेमानि कर्माणि कर्तव्यान्वयतया वेतिकर्तव्यतयेत्येतन्नास्ति । गृहस्थस्य त्वग्निहोत्रादीनि साङ्गकलापान्याम्नातानीत्येतदभिप्रायमेतत् । ये त्वेतां श्रुतिमदृष्ट्वा स्मार्ता एव नैष्ठिकादयस्ते च गृहस्थाश्रमेण प्रत्यक्षश्रुतिविधानेन बाध्यन्ते । ये च क्लीबाद्यनधिकृतविषयतया स्मृतिवाक्यानामर्थवत्तां वर्णयन्ति तेषामभिप्रायं न विद्मः । यदि तावत्—“आज्यवेक्षणविष्णूक्रमाद्यङ्गशक्तौ श्रौतेषु नाधिक्रियते, यतस्तथाविधाङ्गयुक्तं कर्म यः संपादयितुं समर्थस्तं प्रत्यधिकारश्रुतीनामर्थवत्त्वे जाते न तदसमर्थमपि कुर्वीत” इति । यद्येवं स्मार्तेष्वपि नैष्ठिकस्य गुर्वर्थमुदकुम्भाद्याहरणं भैक्षपरिचरणम्,—पारिव्राज्येऽपि ‘न द्वितीयामपि रात्रिं ग्रामे वसेदिति’—कुतः पञ्चवन्धयोः स्मार्तकर्मक्रमाधिकारः ? उपनयनं चैषामस्ति लिङ्गम् । तत् एषां विवाहार्थं “यद्यर्था तु दारैरिति” (१.२०३) । यद्यप्युपनयनमादित्यदर्शनमग्निप्रदक्षिणं परीत्येति च विहितम्, यतो नानुपनीतस्य विवाहसम्भवो ब्रात्यत्वात्, अतो यावच्छक्यं गुरुशुश्रूषणं विगुणमपि ब्रह्मचर्यमेवमस्ति । क्लीबस्य तु प्रकृतेरनुपनेयतैव । स च पतितश्च न क्वचिदधिकृतः । तस्मादनधिकृतविषयं पारिव्राज्यं नैष्ठिकता चेति न मनःपारितोषमादधाति । सत्यं, उदितहोमनिन्दावद्भूविष्यति । समुच्चयपक्षमाश्रित्य ‘अनपाकृत्येति’ निन्दावचनम्, न पुनः प्रतिषेध एव । अथवा यदाऽकृतदारपरिग्रहस्य प्रव्रज्यायामधिकार इत्येवमेतन्नेयम् ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ऋणत्रयापाकरणस्वरूपमाह अधीत्येति । धर्मतो यथोक्तकन्याविवाहादुत्तुगमनादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । तान्येवं ऋणानि दर्शयति अधीत्येति । ‘जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः’ इति श्रूयते । अतो यथाशास्त्रवेदानधीत्य पर्वगमनवर्जनादिधर्मेण च पुत्रानुत्पाद्य (तै. सं. ६-३-१०) यथासामर्थ्यं ज्योतिष्टोमादियज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षान्तरङ्गे चतुर्थाश्रमे मनो नियोजयेत् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋणानीत्युक्तं विवृणोति अधीत्येति । धर्मतो धर्मेण ब्राह्मादिना विवाहेन यदि निवेशयेदेतान्कृत्वेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थमादरार्थं श्लोकद्वयेन प्रपञ्चयति ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मोक्षे मोक्षसाधने संन्यासे मनो निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

(७) मणिरामः । ऋणान्याह अधीत्येति । वेदाध्ययनेन ऋषिभ्यः पुत्रेण पितृभ्यः यज्ञेन देवेभ्य अनृणी भूत्वा' मोक्षे मनो निवेशयेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(८) गोविन्दराजः । तानि ऋणानि दर्शयति अधीत्येति । 'त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवः जायते मनुष्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः' इति ब्रूयात् । यथाशास्त्रं वेदानधीत्य पुत्रांश्च पर्वगमनानृतुरिरंसावर्जं ऋतुकालदिगमनधर्मेणोत्पाद्य यज्ञैश्च ज्योतिष्ठोमादिभिर्यथाशक्तिरिष्ट्वा ततो मोक्षोपायप्रव्रज्याख्ये मनो नियोजयेत् ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम् ॥

अनिष्ट्वा चैव यज्ञश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥

(१) मेधातिथिः । यज्ञैराहिताग्निर्नित्यैः पशुसोमैः ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्य व्यतिरेकमाह अधीत्येति । मोक्षगार्हस्थ्ये तिष्ठन्नेव स्वाध्याये यज्ञादिषु चर्णतयापाकरणबुद्ध्याऽप्रवर्तमानो ब्रह्मचर्यनिमोक्ष इत्यभिमानादृतु-गमनादिगार्हस्थ्यनियतधर्मेभ्यो निवृत्तः प्राणायामादियोगाङ्गान्यनुतिष्ठन्नित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाध्ययनमकृत्वा पुत्रमनुत्पाद्य यज्ञांश्चाननुष्ठाय मोक्षमिच्छन्नरकं व्रजति ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षे त्वाह अनधीत्येति । उक्तानननुष्ठायान्नो व्रजतीत्यन्वयः । अर्थवादात्मकश्लोकद्वयम् ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजः न क्षत्रियादिः । तथा च श्रुतिः ब्राह्मणः प्रव्रजतीति ॥ ३७ ॥

(७) मणिरामः । ऋणानपाकरणे दोषमाह अनधीत्येति ॥ ३७ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनधीत्य द्विजो वेदमनुत्पाद्य तथा सुतमिति । वेदाध्ययन-प्रजो-त्पादनयज्ञानुष्ठानान्यकृत्वा द्विजो मोक्षमिच्छन्नरकं व्रजति ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥३८॥

(१) मेधातिथिः । प्राजापत्याऽध्वर्युवेदे विहिता । तस्यां च सर्वस्वदानं विहितम् । तां कृत्वाऽऽत्मन्यग्नयः समारोप्यन्ते । समारोपणेऽपि विधिस्तत एवावगन्तव्यः । सार्ववेदसं दक्षिणाऽस्यास्तीत्यन्यपदार्थः । 'वेदो' धनम्, तत्सर्वं देयम् । इदमर्थं विहितः स्वाधिको वा प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् । अन्ये तु पुरुषमेधं प्राजापत्यामिष्टिमाहुः । तत्र "ब्रह्मणे ब्राह्मण-मालभत" इति प्रथमः पशुः ब्रह्मा च प्रजापतिः, मुख्येन व्यपदेशप्रवृत्तेः 'प्राजापत्यः' पुरुषमेधः । सर्वस्वदानमग्निसमारोपणं प्रव्रज्या च तत्रैव विहिता । एवं हि तत्र श्रुतिः "अथात्मन्यग्नीन्समारोप्य तत्रारोपणेनादित्योपस्थानादपेक्षमाणैररण्यमभिप्रेयात्तदैव देवमनु-प्येभ्यः स्थिरो भवतीति ।"

यत्तु—“आत्मन्यग्नीन्समारोप्य प्रव्रज्यया व्यपदिष्टा, अथाह एत एव आत्मनो यज्ञा, इत्यतस्तन्मरणात्तस्यै दत्ता ‘आत्मन्येव समारोपिता’ भवन्ति । अतो भार्यामरणपक्षे प्रव्रज्या, नावश्यं पुनर्दरक्रियेति”—तन्न । किंतु तस्याः पूर्वमरणे भार्यायै दत्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणीति पठितमिति वक्तव्यमिति । पौरुषेयो ह्ययं ग्रन्थो न वेदो, येनोक्तमुपालभेमहीति परिहारः स्यात् ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राजापत्यां प्रजापतिदेवतपुरोडाशहविष्कां वेद इति धननाम सर्ववेदो दक्षिणा यत्र सा तथा सर्वस्वदक्षिणामित्यर्थः । सर्ववेद एव सर्ववेदसं । पुत्रार्णां च संविभजनीयत्वादविशिष्टः स्वीयो भागः सर्वो देय इति ग्राह्यम् । समारोप्य ‘याते अग्ने यज्ञिया तनू’ रिति (तै. सं. ३।४।१०।५) मन्त्रेण । ब्राह्मण इति पदस्यानन्यपरत्वात्क्षत्रियादीनां न पारिव्राज्यमस्तीति गम्यते; अत एव श्रुतिरपि ‘ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ततीति’ । प्रकर्षेण व्रजेदपुनरावर्तनाय ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्तां सर्वस्वदक्षिणां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदुक्तविधिनैवात्मन्यग्नीन्समारोप्य गृहादित्यभिधानाद्वा न प्रस्थाश्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत् । एतेन मनुना चातुराश्रम्यस्य समुच्चयोऽपि दर्शितः, श्रुतिसिद्धाश्च एकद्वित्रिचतुराश्रमाणां समुच्चया विकल्पिताः । तथा जाबालश्रुतिः (४) ‘ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा’ (नारद. प. ३-७७) ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रव्रजनप्रकारमाह प्रेति । प्राजापत्यां प्रजापतिदेवताकां यजुर्वेदविहितां सर्ववेददक्षिणां सर्वस्वदक्षिणां । अग्नीन् श्रौतान् स्मार्तं च । गृहादित्याश्रमत्रयोपलक्षकं कुटीचकादिसंन्यासिचतुष्टयसाधारणं, तत्रैकदण्डिनां तु ‘शिखायज्ञोपवीत-वेदानां त्यागः सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेदिति’ श्रुतेः । ‘सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं च लोकममुं च लोकं परित्यज्यात्मानमन्विच्छेदित्यापस्तम्बोक्तेः । ‘ॐभूः सावित्रीं प्रविशामीत्युपक्रम्य ‘ॐभूर्भुवः स्वरो यज्ञोपवीतं जुहोमीत्यादि शौनकेन धृतत्वात् ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । प्रव्रज्याप्रकारमाह प्राजेति । सर्ववेदसं सर्वस्वम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राजापत्यां प्रजापतिदेवतसंज्ञां इष्टिं निरूप्य कृत्वा सर्ववेदसदक्षिणां सर्वः वेदो धनं दक्षिणा यस्याः सा सर्ववेदसमेव सर्ववेदसं सर्वस्वदक्षिणां आत्मनि अग्नीन् वैतानाग्नीन् श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य ब्राह्मण एव गृहात्प्रव्रजेत् न तु क्षत्रियादिः ॥ ३८ ॥

(७) मणिरामः । सर्ववेदसदक्षिणां सर्वस्वदक्षिणां । गृहादित्युक्तवतां मनुना चातुराश्रमस्याऽसमुच्चयो दर्शितः । श्रुतिसिद्धाश्च चतुराश्रमाणां समुच्चया विकल्पिताः तथा च जाबालश्रुतिः ‘ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा’ (नारद. प. ५-३५) ति ॥ ३८ ॥

(८) गोविन्दराजः । प्राजापत्यामिति । यजुर्वेदपूर्वाख्यग्रन्थोक्तां प्रजापतिदेवताकां सर्वस्वधनदक्षिणामिष्टिं कृत्वा तदुक्तविधिनैव चाग्नीनात्मनि भस्मपानादिना समारोप्य

वानप्रस्थाश्रममनन्तरमकृत्वैव गृहस्थाश्रमान्तरमेव ब्राह्मणः प्रव्रज्यामनुतिष्ठेदिति । एव-
माश्रमाणां समुच्चयपक्षोऽनेन दर्शितः । त्रिचतुःसमुच्चयविकल्पपक्षाश्च सर्व एव श्रुतिनोदिताः
स्थिताः । तथा च जाबालश्रुतौ (४) 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत्
वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि चेतरेथानुकुर्यात् । ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

(९) भारुचिः । तस्यामेवोक्तं यतस्तां कृत्वा प्रव्रजेद् गृहात् । . . . स्त्रि-
समुच्चयो वचनसामर्थ्यं पुरुषमेव हि प्रजापतिः यतस्तेन प्राजापत्ये-
नाद्येन नयतस्तद्यागानन्तरमेकाकी प्यमभिप्रेयात् । तदेवं मनुष्ये त्मनो
यज्ञायैति लिङ्गादेव केचित्तु जरया त्रेण यावज्जीवं श्रुतीः पुनर्ब्रूमः ।
एतस्माल्लिङ्गादग्निपरित्यागार्थं श्रुत्यन्तरं वानुमायोत्सन्नशाखास्थमनुत्सन्नशाखास्थं
वा चतुर्थमाश्रमान्तरं श्रुत्यविरोधेन । यत्कारणं न ह्यकस्मात् सर्वकर्मसूत्रकारैरेतदेवाम्नायते
॥ ३८ ॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ॥

तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । गार्हस्थ्यनिन्दया चतुर्थाश्रमप्रशंसा । यज्ञे हि पशवो हन्यन्ते ।
“प्ररोहधर्मकाश्चेतना” इति दर्शने तृणौषधीनां छेद इत्येतद्भूतभयम् । तद्गृहात्प्रव्रजितस्य
समारोपिताग्नेर्नास्तीत्युक्तम् । अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वेति । अनेनाशुष्काणां तृणपलाशाना-
मनुपादानमाह । तेजोमया नित्यप्रकाशाः । उदयास्तमयौ यत्नादित्यस्य न विभाव्येते ।
यथोक्तं “अत ऊर्ध्वमादित्यो नैवोदेति न वाऽस्तमेति” इत्युपनिषत्स्वित्येवमाहुर्वचांसि ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहादिति । ग्रामस्थितादरण्यस्थिताद्वैत्यर्थः । तेजोमया
लोका ब्रह्मलोकगतास्तदेकदेशाः । 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थान'मिति पुराणेष्वभिधानात् ।
ब्रह्मवादिनो ब्रह्मविषयश्रोतज्ञानवतः । तेनात्मन्यसाक्षात्कृतेऽपि संन्यासमात्राद्ब्रह्मलोक-
प्राप्तिरुक्ता ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । यः सर्वेभ्यो भूतारब्धेभ्यः स्थावरजङ्गमेभ्योऽभयं दत्त्वा गृहाश्रमा-
त्प्रव्रजति तस्य ब्रह्मप्रतिपादकोपनिषन्निष्ठस्य सूर्याद्यालोकरहिता हिरण्यगर्भादिलोकास्त-
त्तेजसैव प्रकाशा भवन्ति, तानाप्यनोतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । तादृशे संन्यासे यो दत्तेति फलवादः । अभयं दत्वेत्यन्वयः ।
तस्य 'अहं ब्रह्मास्मी'ति ब्रह्मवादिनस्तेजोमयाः स्वप्रकाशा लोकाः ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । गृहनिष्क्रमणात्पूर्वमेव सर्वभूतेभ्योऽभयं दातव्यमित्याह यो दत्तेति
॥ ३९ ॥

(७) मणिरामः । तस्य गृहाश्रमात्प्रव्रजितस्य ब्रह्मवादिनः ब्रह्मप्रतिपादकोपनिष-
न्निष्ठस्य । तेजोमया लोकाः सूर्याद्यालोकरहितस्य हिरण्यगर्भादिलोकाः । तत्तेजसैव प्रकाशा
भवन्ति तानाप्यनोतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(८) गोविन्दराजः । य इति । तस्य ते तैजसा लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः । यः सर्व-
भूतेभ्योऽभयं दत्त्वा गृहादेव प्रव्रजति तस्य ब्रह्मस्वरूपनिरूपणार्थोपनिषदादिशास्त्रनिष्ठस्य
नित्यप्रकाशका लोका भवन्ति ॥ ३९ ॥

(९) भारुचिः । तेजस्विनो ब्रह्मलोकस्थानविशेषा अपुनरावर्तिनः सच्चित्प्रकाश-
लक्षणा वा परमात्मप्राप्तिलक्षणा वा । परमात्मज्ञस्य न केवलप्रव्रजितस्येति ॥ ३९ ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ॥

तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थः पुनरुक्तः । देहाद्विमुक्तस्य वार्तमानिकं शरीरं
यस्य पततीत्यर्थः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्प्रपञ्चयति यस्मादिति । देहाद्विमुक्तस्य मृतस्य भयं
नास्ति नित्याभयत्वाद्ब्रह्मलोकस्य ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद् द्विजात्सूक्ष्ममपि भयं भूतानां न भवति तस्य देहाद्विमुक्तस्य
वर्तमानदेहनाशे कस्मादपि भयं न भवति ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । 'येषां नोऽयमात्मायं लोक' इति श्रुतेः किमु वाच्यं परत्र तेजो-
मया लोका इतीहैव जीवन्मुक्तः स इत्याह यस्मादिति । द्विजात् कृतसंन्यासात् । कुतश्चन
यमाद्राजादेश्च 'न विभेति कुतश्चने'ति (तैत्ति. २.९) श्रुतेः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । अभयप्रदानस्य फलान्तरमाह यस्मादिति । न केवलमिदमभयदानं
संन्यासिन एव धर्मः, किंतु सर्वस्यापीति सूचितम् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्माद् द्विजाद् भूतानामण्वपि भयं न उत्पद्यते न जायते तस्य
द्विजस्य देहाद्विमुक्तस्य कुतश्चन कस्मिन्नपि लोके भयं नास्ति ॥ ४० ॥

(७) भणिरामः । यस्मादिति स्पष्टम् ॥ ४० ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मादिति । यस्य द्विजस्य सकाशाद्भूतानां सूक्ष्ममपि
भयं नोत्पद्यते तस्य सांप्रतिकशरीरपातादनन्तरं कस्माच्चिदपि भयं न भवति ॥ ४० ॥

(९) भारुचिः । अनेन श्लोकत्रयेण सर्वभूताभयप्रदानं प्रव्रजितस्य विधीयते ।
एकारामता चानेन सिद्धे शास्त्राग्नित्यागे लौकिकाग्नित्यागार्थमिदमुच्यते ॥ ४०-४३ ॥

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ॥

समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । पवित्रैर्मन्त्रजपैर्दभकमण्डलुकृष्णाजिनैरुपचितो युक्तः । अथवा
पावनैः कृच्छ्रैः । मुनिरकिंचिद्वादी । समुपोढेषु उपहृतेषु केनचित्कामेषु स्पृहणीयेषु मिष्ट-

भोजनादिषु यदृच्छातो गीतादिशब्देषु सन्निहितेषु पुत्रादिषु वा समुपस्थितेषु निरपेक्षो भवेत् ।
नैतांश्चिरं स्निग्धेन चक्षुषा पश्येन्नाकर्णयेन्न तैः सहासीत ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पवित्रोपचितः । पवित्रैस्तपोजपादिभिर्गार्हस्थ्यकालकृतैः
उपचितः उत्तमतां नीतः । मुनिर्मनननिरतः । समुपोढेषु सम्यग्भुक्तेषु तथा च भोगान्मन्दी-
भूतायां तृष्णायां निरपेक्षस्तादृगिच्छाशून्यः । यत्तु 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्य-
तीति । (नारद. प. ३.३७) तस्योपभोगमात्रेण न शाम्यतीति तात्पर्यम् । धर्मं परिव्राजक-
धर्ममाचरेन्नित्यमिति क्वचित्पाठः ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहान्निर्गतः पवित्रैर्दण्डकमण्डल्वादियुक्तो मुनिर्मान्नी समुपोढेषु
कामेषु केनचित्सम्यक् समीपं प्रापितेषु स्वाद्वन्नादिषु विगतस्पृहः परिव्रजेत् । मेधातिथिस्तु
पवित्रैर्मन्त्रजपैरथवा पावनैः कृच्छ्रैर्युक्त इति व्याचष्टे ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । पवित्रेण ज्ञानेनोपनिषदा वोपचितो युक्तः । समुपोढेषु सम्य-
क्तया प्रीतिजनकत्वेनोपस्थितेषु दारान्नादिषु निरपेक्षः विगतस्पृहः ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । गृहनिष्क्रमणकाले कर्तव्यमाह आगेति । समुपोढेषु गृहसंचितेषु
भोगेषु । पवित्रं जलपवित्रम् । एतच्छिष्यकमण्डल्वादेरप्युपलक्षणम् ; उपचितग्रहणात् ।
मुनिर्भिन्नादीनामन्त्रयज्ञगारादपि निष्क्रान्तः परिव्रजेत्सर्वं वर्जयित्वा गच्छेत् ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अगाराद्गृहादभिनिष्क्रान्तः पवित्रो जपयज्ञादिभिः संपूर्णः समुपोढेषु
कामेषु सम्यगनुभूतेषु कामेषु मुनिः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

(७) मणिरामः । पवित्रोपचितः पवित्रैर्दण्डकमण्डल्वादिभिर्युक्तः । समुपोढेषु
कामेषु केनचित्सम्यक् समीपं प्रापितेषु कामेषु निरपेक्षः ॥ ४१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अगारादिति । गृहान्निर्गतः पवित्रैर्दण्डकमण्डल्वादिभि-
र्युक्ता संयतवाक् केनचिद्वोपहृतेषु स्वाद्वन्नादिष्वपगतस्पृहः व्रजेत् ॥ ४१ ॥

एक एव चरेन्नित्यं सिद्धचर्यमसहायवान् ॥

सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । यत आह एकारामताऽनेन विधीयते । एक एवेत्यनेन
पूर्वसंस्तुतपरित्याग उच्यते । असहायवानिति । भृत्यादेः पूर्वस्यापि परिग्रहो न कर्तव्यः ।
संविद्रागद्वेषविनिर्मुक्तस्य सर्वसमता एवं भवति । अन्यथा एष एव भृत्यादिरन्तिकस्थः तत्रैवं
बुद्धिः स्यात् 'अयं मदीयो नायमिति' । एष एव संगोऽवधिहेतुर्यथा त्वेष संपत्स्यते
यदा न जहाति, न क्वचित्पुत्रादिस्तेन त्यक्तो भवति । अतो न हीयते न वियुज्यते
पुत्रादिभिस्तद्वियोगदुःखं नासादयति । इतरथा संगत्पुनस्त्यागे महद्दुःखम् । न तस्य
कश्चिन्म्रियते, स न कस्यचिदिति ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सिद्धचर्यं शमतार्थं । एक एवेत्यसहकारिणां मेलके निषिद्धे
असहायवानिति तद्धर्मानुगुणतयाऽपि द्वितीयस्य ग्रहणं निवर्तयितुमुक्तम् । एकस्यैव सिद्धि-

रिति सिद्धमेकस्यासहायस्य पश्यन् हेयस्य द्वितीयस्याग्रहणान्न किञ्चित्यजति न च त्यज्यतेऽ-
नेनेति वियोगदुःखाभाव उक्तः ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । एकस्य सर्वसङ्गविरहिणो मोक्षावाप्तिर्भवतीति जानन्नेक एव
सर्वदापि मोक्षार्थं चरेत् । एक एवेत्यनेन पूर्वपरिचितपुत्रादित्याग उच्यते । असहायवान्
इत्युत्तरस्यापि । एकाकी यदि चरति स किञ्चित् त्यजति, न कस्यापि त्यागेन दुःखमनुभवति,
नापि केनापि त्यज्यते, न कोऽप्यनेन त्यागदुःखमनुभाव्यते । ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वः सुखेन
मुक्तिमाप्नोति ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चैक इति । सिद्धिमिति । सिद्धयर्थं मोक्षार्थं त्यक्तव्या-
भावादेकाकिनस्त्यागान्न दुःखं त्यक्तुरप्यभावाच्च न हीयते ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । अभिनिष्क्रान्तस्य धर्मानाह एक एवेति । एकस्य सिद्धिं पश्यन्-
सहायस्य सिद्धिर्भवतीति जानन्सिद्धिं न जहाति ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एक एव एकाकी सन्मोक्षार्थं संचरेत् ॥ ४२ ॥

(७) मणिरामः । एकस्य सर्वसंगरहितस्य सिद्धिः मोक्षावाप्तिर्भवतीति संपश्यन् जानन्
एक एव सर्वदापि सिद्धयर्थं मोक्षार्थं चरेत् । असहायवान् यदि चरति स किञ्चित् न जहाति,
न कस्यापि त्यागेन दुःखमनुभवति, नापि केनापि हीयते त्यज्यते । न कोऽपि त्यागदुःखमनु-
भवति, ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वसुखेन मुक्तिमाप्नोतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

(८) गोविन्दराजः । एक इति । एकस्य सतो मोक्षावाप्तिर्भवतीति एवं जानन्नेक
एव न प्रव्रजितान्तरेण सहासीतासहायवान् भृत्यादिरहितोऽन्यत्यागेनेत्यपरे । बौधायनेन हि
'स्त्रीणां चैक' इति स्त्रीणामपि प्रव्रज्योक्ता, एवं प्रकुर्वन्न किञ्चित् त्यजति, नापि केन त्यज्यते,
वियोगदुःखं न तेनानुभूयते, न चान्योऽनुभाव्यते, सुसंवन्धात्मकाभावादविघ्नेन मोक्षोपाय-
संपत्तिः ॥ ४२ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥

उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रौतानामग्नीनां पूर्वमभाव उक्तोऽनेन गार्हस्थ्यस्योच्यते । अथवा
पाकप्रतिषेधोऽयमग्न्यर्थस्य चेन्धनस्य शीतादिनिवृत्तिप्रयोजनस्य । निकेतो गृहम् । ग्राममेकां
रात्रिमन्नार्थमाश्रयेत् । कृतप्रयोजनोऽरण्ये शेषं कालम् । एषा चैकरात्रिग्रामे गौतमेनोक्ता । तत्र
यदि समया (?) ग्रामं तदाऽन्नार्थं एव प्रवेशः । अथ दूरतस्तदैकां रात्रिं वसेत् । द्वितीयारण्ये
संभावयेत् । उपेक्षकः अचेतनेष्वपि भावेषु कमण्डलवादिषु, न तन्निजायत्तं कुर्यात् । अथवा
शरीरस्य व्याधिप्रतीकारं न कुर्यात् । अन्ये त्वसंकुसुक इति पठन्ति । अस्थिरः 'संकु'-
सुकः, तन्निषेधेन चित्तवृत्तिर्धैर्यमुपदिशति । मुनिः संयतवागिन्द्रियः । भावेन चित्तेन समाहितः
मनसा विकल्पान्वर्जयेत् । भावेनैव समाहितो न बाङ्मात्रेण ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनग्निः पाकसाधनार्थमप्यपरिग्रहीता निकेतो गृहं तत्परिग्रहशून्योऽनिकेतः उपेक्षकः प्राप्तस्यापि भोगसाधनस्याऽभोक्ता असाञ्चयिकः प्राणयात्रार्थमपि धनसंग्रहमकुर्वन् । क्वचिदसंकुसुक इति पाठस्तत्रात्मतत्त्वापवर्गसाधनेषु स्थिरमतिरित्यर्थः । भावसमाहितो मनसा सदा समाधिपरः ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । अनग्निलौकिकाग्निसंयोगरहितः शास्त्रीयाग्निं समारोप्येति पूर्वमुक्तत्वात् । अनिकेतो गृहशून्य उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पादे तत्प्रतीकाररहितः । असंकुसुकः स्थिरमतिः । असाञ्चयिक इत्यन्ये पठन्ति । मुनिर्ब्रह्म मननान्मौनस्य पूर्वोक्तत्वात् भावेन ब्रह्मणि समाहितः तदेकतानमना अरण्ये च दिवारात्रौ वसन्मिक्षार्थमेव ग्रामं प्रविशेत् ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च अनग्निरिति । अनिकेतः निकेत आमन्त्रणं तद्रहितः सन्ग्राममाविशेत् । उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पत्तौ प्रतीकाररहितः । क्वचिदसंकुसुक इति पाठस्तदा त्वसंशयः । भावसमाहितः भावेन ब्रह्मणि समाहितः ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । अनग्नस्त्यक्तपचनाग्निः । भावसमन्वितो विधेयान्तःकरणः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपेक्षकः प्राप्ते भोगसाधन उपेक्षाशीलः । असाञ्चयिकः प्राणयात्रार्थं अगृहीतधनः ॥ ४३ ॥

(७) मणिरामः । अनग्निः लौकिकाग्निरहितः शास्त्रीयाग्नित्यागस्य पूर्वमुक्तत्वात् । उपेक्षकः शरीरे व्याध्याद्युत्पत्तौ तत्प्रतीकाररहितः असंकुसुकः स्थिरबुद्धिः मुनिः ब्रह्म मननात् भावसमाहितः भावेन ब्रह्मणि समाहितः दिवारात्रावरण्ये वसन् अन्नार्थमेव ग्रामं प्रविशेदित्यर्थः ॥ ४३ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनग्निरिति । अप्रेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ शास्त्रेऽग्निसमारोपणस्योक्तत्वात् लौकिकाग्निरहितः अगृह्यक उपेक्षको व्याध्यादेरुत्पत्तेः शरीरस्यापि । यथाह शङ्खः 'नात्मनः प्रतिकारं कुर्यात् नापि कारयेत् ।' नानुमान्यतेति (?) । असंकुसुकः संयतबुद्धिः, चेतसा च संयतः स्यात्, भिक्षार्थं च ग्रामं गच्छेत् ॥ ४३ ॥

(९) भारुचिः । अनग्निः स्यात्सोऽयं अग्नीन्धनतत्सम्परिग्रहनिषेधः अनिकेतश्च स्यात्, ग्रामैकारात्रिन्यायेन ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्, अर्थाच्छेषं कालमरण्ये तिष्ठेत् । उपेक्षकः स्वशरीरादिषु असाञ्चयिकः अप्रतिषिद्धास्वपि कमण्डलवादिमात्रासु मुनिर्भावसमाहितः चित्तसंयमोपदेशपरमिदमध्यात्मानुष्ठानम् ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ॥

समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुदतस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षाभोजनमात्रं कपालं कर्परम् । निकेतो वृक्षमूलानि । कुचैलं स्थूलजीर्णवस्त्रखण्डम् । समता शलौ मित्ते उभयरूपरहिते स्वात्मनि च । मुक्तस्य लक्षणम् । अचिरप्राप्यता मोक्षस्योच्यते, न पुनरित्यतैव मुक्तो भवति ॥ ४४ ॥

(२) सर्वजनारायणः । कपालं स्थाल्यादिखण्डो भिक्षार्थम् । वृक्षमूलं निवासार्थम् । कुचैलं जीर्णकर्पटचर्मादि परिधानार्थम् । असहायता एकाकिता । समता मैत्रीप्रवृत्तिः शत्रावपि मुक्तस्य संगान्निर्गतस्य लक्षणं चिह्नम् । एतेन 'द्विदण्डेन यतिश्चे'ति लक्षणानीति स्मृत्यन्तरोक्तं लक्षणमनावश्यकमिति दर्शितम्; मन्दाधिकारसंन्यासिपरत्वात्तस्येति ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कपालमित्यादि । मृन्मयकर्परादि भिक्षापात्रं, वासार्थं वृक्षमूलानि, स्थूलजीर्णवस्त्रं कौपीनकन्था सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या शत्रुमित्राभावः । एतन्मुक्तिसाधनत्वान्मुक्तस्य लिङ्गम् ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । भावसमाहितं लक्षयति कपालमिति । कपालं भिक्षापात्रं । वृक्षमूलानीत्यनेन सर्वदा नैकवृक्षाश्रयः । समता निर्वैरता । मुक्तस्यात्मनिष्ठस्य जीवन्मुक्तस्य वा ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । कपालं भिक्षार्थमलावुपात्रम् । वृक्षमूलानि वृक्षमूलनिवास इति यावत् । कुचैलं जीर्णमलिनवस्त्रधारित्वम् । मुक्तस्य संन्यासिनः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कपालं स्थाल्यादिखण्डसमता मैत्रीवृत्तिः मुक्तस्यैतल्लक्षणं, अतिवैराग्यमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

(७) मणिरामः । कपालं मृन्मयकर्परादिभिक्षापात्रं, समतादिगुणविधानार्थमिदं भिक्षोः ॥ ४४ ॥

(८) गोविन्दराजः । 'कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायवानि'ति । कर्पटं भिक्षार्थं वृक्षमूलानि आश्रयः, कुचैलं कन्था वासोर्थं, एकारामता संगत्यागाय शत्रौ मित्रे च साम्यमित्येतत् मुक्तिसाधनत्वान्मुक्तस्य चिह्नम् ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ॥

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भूतको यथा ॥ ४५ ॥

[श्रेष्ठ्यान्हमन्तिकाश्यासानष्टौ भिक्षुविचक्रमेत् ।

दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १ ॥

नासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिसाक्रमेत् ।

परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥ २ ॥

सत्यां वाचसर्माह्वानं च वदेद्वनपकारिणीम् ।

कल्कापेतामपहृषामनृशंसाभपैशुनाम् ॥ ३ ॥]

(१) मेधातिथिः । अनेनाक्लेशिताऽभिहिता । न मरणं कामयेत । नापि ज्ञानातिशयलाभार्थं जीवितम् । कालमेव प्रतीक्षेत यद्यदा भविष्यति तत्तदैवास्त्विति चिन्तयेत् । यथा भूतको निर्वेशम् भूतिं गृहीत्वा कालं परिपालयति, 'अहरेतस्य मया कर्तव्यमिति'

नान्तरा विच्छेदे मूल्यलाभः, एवं संसारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षो भवत्येतेन विधिना, न स्वेच्छावृत्तेन ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिनन्देताशंसेत् । कालं स्वतःसिद्धं जीवनकालं प्रतीक्षेतानुपालयेत् । निर्वेशमाज्ञां । निर्देशमिति पाठे निर्देशं भृतिं भृतिशोधनावधिमिति यावत् ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । मरणं जीवनं च द्वयमपि न कामयेत्किं तु स्वकर्माधीनं मरणकालमेव प्रतीक्षेत । निर्दिश्यत इति निर्देशो भृतिस्तत्परिशोधनकालमिव भूतकः ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । जीवन्मुक्तश्चेत्कृतं देहस्थित्या तत्राह नेति । भूतकः भृतिमुपजीव्य कर्मकर्ता स यथा कालक्षये उपरतव्यापारः स्यादेवं कालं प्रारब्धम् ॥ ४५ ॥

(राघवानन्दः । ग्रीष्मेति । तेषु मासेषु क्षुद्रजंतूनां न विशेषतः संचरणं, इतरेषु तेषां बाहुल्यमिति भावः ॥ १ ॥)

(५) नन्दनः । निर्देशं भृतिम् । भूतकसादृश्यात्क्रियमाणकर्मफलनैरपेक्ष्यमुक्तम् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । निर्देशो भृतिः ॥ ४५ ॥

(रामचन्द्रः । ग्रैष्म्यानिति । वर्षासु चतुर्मासेषु एकत्र एकस्मिन्ग्रामे संवसेत् ॥ १ ॥)

(रामचन्द्रः । असूर्यं सूर्यादर्शनं मार्गं न गच्छेत्, रात्रौ न गच्छेदित्यर्थः ॥ २ ॥)

(रामचन्द्रः । सत्यामिति । कस्यापि अपकारिणीं वाचं न वदेत् । कल्कान्वितां सपापां न वदेत् । 'कल्कोऽस्त्री शमलैनसोः' इत्यमरः । च पुनः परुषां वाचं न वदेत् । चकारः समुच्चयार्थः । च पुनः हिंसां वाचं न वदेत् । च पुनः नृशंसाभिधानं वदेत् । तथा पैशुन्यां वाचं न वदेत् । असत्यां वाचं न वदेत् ॥ ३ ॥)

(८) गोविन्दराजः । नाभिनन्देतेति । मरणं जीवितं वा नाभिलषेत्, अपि तु भृति-संशुद्धिकालं यथा भूतकोऽपेक्ष्यते एवं स्वेच्छापनिपाते तं मरणकालमपेक्षते ॥ ४५ ॥

(९) भारुचिः । कालमेव स्वकर्माधीनं । तत्र दृष्टान्तमाह यथा भूतकः सेवकः निर्देशं आज्ञाकालं कदा स्वामी आज्ञां दास्यतीत्येवंरूपं प्रतीक्षते तथेत्यर्थः ।

अनेन क्लेशाभिघातोद्वेगेन कात्स्न्येना (विज्ञाना?) भिगमसमप्रीत्या ॥ ४५ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । चक्षुषा मार्गं निरूप्य यस्मिन्प्रदेशे प्राणिनः पीडां न गच्छन्ति तत्र पादं निदध्यात् । सत्यां वाचं वदेदिति सिद्धे पूतग्रहणं सत्यशब्दस्योपलक्षणतां दर्शयति । तेनापविद्धं भवति । मनसा पूतो मनःपूतः सदा स्यात् । परद्रव्याभिध्यानादि न कुर्यात् ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दृष्टिपूतं दृष्ट्या पवित्रत्वेन पदं निधानस्थानं यदा ज्ञातं भवति तदेत्यर्थः, क्रियाविशेषणं चैतत् । वस्त्रपूतं वस्त्रेणोत्पूयापनीतजन्तुजातम् । सत्यपूतं सत्यार्थत्वेन शुद्धं । मनःपूतं मनसा समीचीनत्वेन ज्ञातम् ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । केशास्थ्यादिपरिहारार्थं दृष्टिशोधितभूमौ पादौ क्षिपेत् । जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं जलं पिबेत् । सत्यपवित्रां वाचं वदेत् । ततश्च मौनेन सह सत्यस्य विकल्पः प्रतिषिद्धसंकल्पशून्यमनसा सर्वदा पवित्रात्मा स्यात् ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च, दृष्टीति । भूतानामनुकम्पायै दृष्टिपूतमित्यादि-चतुष्टयम् । अग्राह्यादपि यद्गृह्यते तदप्यात्मातिरिक्तं नास्तीति मनःपूतता । परद्रव्यान-भिलाषिता वा प्रतिषिद्धसंकल्पशून्यता वा योगान्निरुद्धता वा ॥ ४६ ॥

(५) मणिरामः । सत्यपूतामिति । मौनेन सह विकल्पार्थं मौनं वा कुर्यात् सत्यं वा वदेत्, मनःपूतं समाचरेत्, प्रतिषिद्धं संकल्पशून्यमनसा सर्वदा पवित्रः स्यादित्यर्थः । प्रसिद्धार्थः श्लोकः ॥ ४६ ॥

(८) गोविन्दराजः । दृष्टिपूतमिति । प्राण्युपघातपरिहारार्थं चक्षुःशोधितं पदं क्षिपेत् । उदकसूक्ष्मजन्तुपरिहारार्थं च वस्त्रसंशोधितं जलं पिबेत् । सत्यपवित्रीकृतां च वाचं वदेत् । एवं च मौनेन हास्यविकल्पः असत्संकल्पेन परिहारेण च मनसा पवित्रीकृतात्मा सर्वदा स्यात् ॥ ४६ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ॥

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । शास्त्रमतिक्रम्य यः कश्चिद्वदति सोऽतिवादः अप्रियाक्रोशः । तितिक्षेत क्षमेत, न प्रत्याक्रोशेत् । न च मनसा क्रुध्येतेत्यतो वक्ष्यति (श्लो. ४८) “आक्रुष्टः कुशलं वदेत्” इति । अनेन मनसः क्षोभो विनिवार्यते, न कुशलशब्दाभिधानं विधीयते । तदा हि मिथ्यावादी स्यादन्यद्बुद्धयेऽन्यत्तु वाचा वदन् ।

नावमन्येतेति । अवज्ञानं न कस्यचित्कुर्यात् । गुर्वादिपूजनं नातिक्रामेत् । न चेमं देहम्, यदि कश्चित्प्रहरेच्छरीरे, तेन सह वैरं न कुर्यात् । ‘किमनेन मे शरीरेण नष्टेनानष्टेन वा, तेजोमयं मे शरीरं भवत्विति’ ध्यायेत् ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिवादानतिक्रमवादाननिष्ठभाषणानि तितिक्षेत क्षमेत । इमं देहमाश्रित्य एतद्देहसंवर्धनोत्साहेनात्मानं त्वाश्रित्य दुःखसाधनैरधर्माद्यैः योगविघ्नकारि-भिश्च राक्षसाद्यैर्वैरं न विरोधीन्यनेन दर्शितम् ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । अतिक्रमवादान्परोक्तान्सहेतु न कंचित्परिभवेत् । नेमं देहमस्थिरं व्याध्यायतनमाश्रित्य तदर्थं केनचित्सह वैरं कुर्यात् ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चातिवादानन्येनोक्तान्सहेतुत्याह अतिवादानिति । देह-निमित्तं तद्रक्षार्थम् ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । इमं देहं विनश्वरमिति यावत् ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिवादं अनिष्टभाषणं तितिक्षेत सहेत ॥ ४७ ॥

(७) मणिरामः । अतिवादान् अतिक्रमवादान् । तितिक्षेत सहेत इमं देहं अस्थिरं ॥ ४७ ॥

(८) गोविन्दराजः । अतिवादानिति । सामर्षवादान् क्षमेत न कंचन परिभवेत् । नचेदं शरीरमाश्रित्य व्याध्यायतनभूतं विद्युदुद्योत इव विनश्वरं एतन्निमित्तकं स्वर्गापवर्ग-परिपंथि केनचिदपि सह वैरं न कुर्यात् ॥ ४७ ॥

(९) भारुचिः । क्षमोपदेशोऽयम् । नावमन्येत इति परावमानं वारयति ॥ ४७ ॥

क्रुद्धचन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । सप्तद्वाराणि च धर्मार्थौ धर्मकामावर्थकामौ कामार्थौ कामधर्मौ 'अर्थधर्मौ' त्रिवर्ग इति । अत्राऽवकीर्णां विक्षिप्तामेतद्विषयां न वाचं वदेदनुताम् । भेदा-श्रयत्वादेतेषाम्, भेदस्य सर्वस्यासत्यत्वादनुतामित्युक्तम् । किं तर्हि ? मोक्षाश्रयामेव वदेत् । अथवा सप्त शीर्षण्याः प्राणास्ते वाचो द्वाराणि । अथवा षडिन्द्रियाणि बुद्धिः सप्तमी । एतैर्गृहीतेष्वर्थेषु वाक् प्रवर्तते । सुविविक्तय इत्यन्ये ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सप्तसु द्वारेषु करणेषु चक्षुस्त्वक्श्रोत्रघ्राणरसनामनोहंकारेषु अवकीर्णां विक्षिप्तां वाचं तद्विषयेषु विक्षिप्तत्वात् । एतेन चक्षुरादिगृहीतेषु विषयेषु वाच-मुच्चारयेन्नानृतां वदेदित्यर्थः । बुद्धेस्त्वद्यवसायव्यापारायाहंकाराद्भेदविवक्षया सते-त्युक्तम् ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । संजातक्रोधाद्य कस्मैचित्प्रतिक्रोधं न कुर्यात् । निन्दितश्चान्येन वाचं भद्रां वदेत्, न तु निन्देत् । सप्तद्वारावकीर्णमिति । चक्षुरादीनि पञ्च बहिर्बुद्धीन्द्रियाणि मनो बुद्धिरित्यन्तःकरणद्वयम् । वेदान्तदर्शन एतैर्गृहीतेषु स्वेषु वाचा प्रवृत्तेरेतानि सप्तद्वाराणी-त्युच्यन्ते । एतैरवकीर्णां निक्षिप्तां तद्गृहीतार्थविषयां वाचं न वदेत्, किं तु ब्रह्मात्रविषयां वदेत् । ननु मनसैव ब्रह्मोपास्यते । ब्रह्मविषयवागुच्चारणमपि मनोव्यापारः, तत्कथं सप्त-द्वारावकीर्णत्वविशेषेऽपि ब्रह्मविषयां वदेदित्यन्यविषयां न वदेदिति लभ्यते ? उच्यते-अत एवानुतामिति विशेषयति स्म । अनृतमसत्यं विनाशीति यावत्तद्विषया वागप्यनृतोच्यते । तेन विनाशिकार्यविषयां वाचं नोच्चारयेत् । अविनाशिब्रह्मविषयां तु प्रणवोपनिषदादि-रूपां वदेत् । गोविन्दराजस्तु धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थावर्थकामौ धर्मार्थकामा इत्येतानि सप्त-वाग्विषयतया वाक्प्रवृत्तेर्द्वाराणि तेष्ववकीर्णां विक्षिप्तां सर्वस्य भेदस्यासत्त्वात्तद्विषयामसत्य-रूपां वाचं न वदेत् । अन्ये तु सप्तभुवनान्येव वाग्विषयत्वात्सप्तद्वाराणि तेषां भेदाद्विनाशि-त्वाच्चासत्यतया तद्विषयां वाचमसत्यां न वदेत्केवलं ब्रह्मविषयां वदेत् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । आक्रुष्टः परेण तमाक्रोष्टारं । सप्तभिश्चक्षुःश्रोत्रत्वग्जिह्वा-
घ्राणमनोबुद्धिभिरिन्द्रियैरवकीर्णां तत्तद्विषयविषयिणीं अत एवानृतमनृतविषयत्वात्तै-
र्गृहीतेऽर्थे वाक्प्रवर्तते 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती'ति श्रुतेः । ऋतं च सूनृता वाणी
तद्भिन्ना रूक्षा, अत उक्तं सर्वेन्द्रियक्षोभकारिणीं तां वाचं न वदेदिति । सत्यस्य सत्यमित्यादि-
सत्यं ब्रह्म तद्विषयिणीं वाचं कुर्यादिति मौनं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । 'ओमित्येवं ध्यायत्य-
थात्मानमन्या वाचो विमुञ्चये' (मुंड. २।२।५) त्यादिश्रुतेः ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । बोध्यव्यवसायः प्रथमं आहंकारिकोऽभिमानो द्वितीयं मानससंकल्पः,
तृतीयं पञ्चेन्द्रियनिवृत्तिरूपमालोचनपञ्चकपञ्च इत्यष्टौ वाचो द्वाराणि निर्गमनमार्गा
वाचो निमित्तानीति यावत् । अष्टद्वारावकीर्णां वाक् सत्याध्यवसायसहिता । अहंकारादि-
सप्तद्वारावकीर्णां वाक्सत्याध्यवसायरहितत्वात् । तां न वदेत् स्वयमनध्यवसितमर्थं परस्मै
न वदेदिति । धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थौ धर्मकामावर्थकामौ धर्मार्थकामाश्चेति ये केचित्स-
प्तद्वाराण्याहुस्तेषां पक्षेऽयमर्थः । मोक्षाश्रितां च वदेन्न त्रिवर्गाश्रितामिति । अपरे
सप्तद्वाराणि सप्तविभक्तय इति व्याचक्षते । चक्षुषी नासिके श्रोत्रे आस्यं चेत्यन्ये ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आक्रुष्टः कुशलं शुभं वदेत् सप्तद्वारावकीर्णां चक्षुस्त्वक्श्रोत्र-
घ्राणरसनानोहंकारेषु विवक्षितां तद्विषयाधीनां वाचमनृतां न वदेत् ॥ ४८ ॥

(७) मणिरामः । वाचस्सप्तद्वाराणि समोऽर्थः । कामो धर्मार्थावर्थकामौ धर्मकामौ
धर्मावर्थकामौ इति । तत्र मोक्षाश्रितामेव वाचं वदेत् । न सप्तद्वाराश्रितामनृतां त्रिवर्गाश्रियाम् ।
अपरे तु सप्त शिरसि प्राणास्तदाश्रितामित्याहुः । सप्तविभक्त्याश्रितामित्यपरे ॥ ४८ ॥

(८) गोविन्दराजः । क्रुध्यन्तमिति । संजातक्रोधाय प्रतीपेन क्रुध्येत । अधिक्षिप्त-
श्चाधिक्षेप्तारं भद्रं वदेत् । धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थावर्थकामौ धर्मकामार्थिकामा समस्ताश्चेत्ये-
तानि यानि वाचः सप्तोच्चारणनिमित्तानि तेष्ववकीर्णां विक्षिप्तां तद्विषयां सर्वस्य च भेद-
स्यासत्यरूपस्यानृतार्था वाचं न वदेदपि तु मोक्षाश्रितामेव वदेत् ॥ ४८ ॥

(९) भारुचिः । एवं च सति क्षमायोगात् । शिवेन मनसा ध्यायेदाक्रोष्टा न केवलं
न क्रुध्येत् ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ॥

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥४९॥

(१) मेधातिथिः । आत्मतत्त्वप्रतिविधानापादनपरमेकाग्रत्वमध्यात्मम् । तद्वृत्ति-
स्तदर्थचिन्तापर आसीत् । निरपेक्ष इत्युक्तानुवादो विषयान्येभ्यो धर्मैभ्योऽनुष्ठानार्थः ।
निरामिषो निःस्पृहः । मांसमामिषम्, तेन स्पृहां लक्षयित्वा प्रतिषेधस्तत्रातिशयवती
प्राणिनां स्पृहा । अन्यत्प्राणुक्तमेव ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यात्मरतिरात्मविषये दृढरतिः । सुखार्थी नित्यसुखार्थी ॥४९॥

(३) कुल्लूकः । आत्मानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्यस्य सोऽध्यात्मरतिः सर्वदा ब्रह्माध्यानपरः आसीन इति स्वस्तिकादियोगासननिष्ठः निरपेक्षो दण्डकमण्डत्वादिष्वपि विशेषापेक्षाशून्यः, निरामिषः आमिषं विषयाः तदभिलाषरहितः, आत्मना देहेनैव सहायेन मोक्षसुखार्थीह संसारे विचरेत् ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । अत एवाध्यात्मरतिः आत्मानमधिकृत्य प्रवर्ततेऽध्यात्मं तस्य ध्यानं तद्वाचकशब्दो वा । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' (बृह. २।४।५) इति तद्वैव । रतिः श्रद्धा यस्य स तथा । निरामिषः आमिषं विषयः, मनोमत्स्याकर्षकत्वात्तत्र हेतुः । आत्मनैव देहेन परमात्मना वा शरीरसुखार्थी मोक्षसुखान्वेषी वा; 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिष' (भग. गीता ४।२९) मित्युक्तेः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि विषयात्मनोऽहंकारो बुद्धिरव्यक्तं जीवः परमात्मा चेति षड्विंशतिरध्यात्मम् । 'एक एव चरेद्धर्म' मित्यत्रासहायत्वस्य प्रतिपादितत्वादासीनोऽध्यात्मरतिः स्यात् विचरंश्च परमात्मपरः स्यादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । निरामिषो निष्प्रतिग्रहः ॥ ४९ ॥

(७) मणिरामः । अध्यात्मरतिः आत्मानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्यस्य सः । निरामिषः आमिषं विषयाः तदभिलाषरहितः । आत्मनैव सहायेन । इह संसारे ॥ ४९ ॥

(८) गोविन्दराजः । अध्यात्ममतिरिति । उपनिषदाद्यध्यात्मवृत्तिः सन् दण्डकमण्डत्वादिष्वपगताविशेषापेक्षो निःस्पृहो असहायः सन् सुखान्यस्मिन्संसारे विचरन् ॥ ४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ॥

नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । उत्पाता दिव्यान्तरिक्षभौमा उपरागग्रहोदयकेतुदयदिग्दाहावनिचलनादयः, तत्फलं न कथयेद्भिक्षालिप्सया । निमित्तं ग्रहदौःस्थित्यादि । नक्षत्रविद्या अद्य कृत्तिका कर्मण्या यात्रानक्षत्रमित्यादि । अंगविद्या हस्तलेख्यादिलक्षणम् । अनुशासनं राजस्तत्प्रकृतीनाम् । एवं युक्तं वर्तितुम्, 'एतेन सन्धिरनेन विग्रहः, इदं त्वया किमिति कृतम्, इदं किन्न करोषी'ति वादोऽभिमानहेतुकः शास्त्रार्थविप्रतिपत्तौ साधनदूषणाद्युपन्यासः ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्पात उत्कापातादिरशुभसूचकः निमित्तमुल्कादिचेष्टितं शुभसूचकं, ताभ्यां तत्सूचनीयोपदेशेन । नक्षत्रविद्या नक्षत्रगुणदोषज्ञानं अङ्गविद्या व्याकरणादिवेदाङ्गज्ञानं । अनुशासनं वेदाध्यापनादि वादो विगृह्य कथां कृत्वा जयः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । भूकम्पाद्युत्पातचक्षुःस्पन्दादिनिमित्तफलकथनेन अद्याश्विनी हस्तरेखादेरीदृशं फलमिति नक्षत्राङ्गविद्यया ईदृशो नीतिमार्ग इत्थं वर्तितव्यं अनुशासनेन शास्त्रार्थकथनेन च कदाचिन्न भिक्षां लब्धुमिच्छेत् ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । एतादृशस्य भिक्षोरुपाधिं निराह नेति । नचोत्पातनिमित्ताभ्यां उत्पातो भूमिकम्पः चक्षुरादिस्पन्दो निमित्तं तयोः फलकथनेन नक्षत्रविद्या ग्रहसंचारादिनिर्णयः,

अङ्गविद्या व्याकरणादि, ताभ्यां च । नानुशासनवादाभ्यामनुशासनमुपदेशः वादश्छलवितर्का-
त्मकः ताभ्यामपि न भिक्षां लिप्सेत कर्हिचिदत्यन्तकष्टदशायामपीत्यन्वयः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । उत्पातोऽद्भुतम् । निमित्तं वायसस्वरादिः । नक्षत्रविद्या ज्योतिः-
शास्त्रम् । अङ्गविद्या सामुद्रिकम्, चिकित्सा वा । अनुशासनं शिष्यपरिग्रहः । वाद-
स्तर्कः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । नक्षत्राङ्गविद्यया ज्योतिर्विद्यया षडङ्गया अनुशासनवादाभ्यां वेदा-
ध्ययनकथाप्रवर्तिताभ्यां न भिक्षां लिप्सेत ॥ ५० ॥

(७) मणिरामः । उत्पातः भूमिकंपादिः, निमित्तं चक्षुःस्पंददि, अनयोः फलकथनेन ।
नक्षत्राङ्गविद्यया अद्याश्विनी हस्तरेखादेरीदृशं फलं इति नक्षत्राङ्गविद्या तथा । अनुशासन-
वादाभ्यां ईदृशो नीतिमार्गः, इत्थं वर्तितव्यं, इत्यनुशासनेन । शास्त्रार्थकथनेन कदाचिदपि
भिक्षां न लब्धुमिच्छेत् ॥ ५० ॥

(८) गोविन्दराजः । नचेति । भूकंपाद्युत्पातचक्षुःस्पंदनादिनिमित्तफलकथनेन अद्याश्विनी,
हस्तनखकरलेखालक्षणं इत्येतत् नक्षत्राङ्गविद्यया च तथायं नीतिमार्गं इच्छन्नान्यं
वर्तितुमित्यनुशासनेन शास्त्रार्थवदनेन कदाचिदपि भिक्षां लब्धुमिच्छेत् ॥ ५० ॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ॥

आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंनजेत् ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । आकीर्णम् । यत्र बहवोऽन्नलाभाय संघटितास्तं प्रदेशं भिक्षार्थं
वर्जयेत् ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तापसैः व्रतस्थैः अन्नार्थं वने चरद्भिः ग्रामे वा प्रविष्टैः ब्राह्मणैः
तदन्यैर्भिक्षार्थिभिर्विप्रैः । तथान्यैः पाषण्ड्यादिभिः पूर्वोक्तव्यतिरिक्तैर्भिक्षुकैः आकीर्णं व्याप्तं
नोपसंनजेत् तेषामेवोपरोधभिया ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । वानप्रस्थैरन्यैर्वा ब्राह्मणैर्भक्षणशीलैः पक्षिभिः कुक्कुरैर्वा व्याप्तं
गृहं भिक्षार्थं न प्रविशेत् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । सोऽपि वादिभिराकीर्णं गृहं भिक्षार्थं न गच्छेदित्याह नेति ।
तापसैर्विरक्तवानप्रस्थैः ब्राह्मणैः ब्रह्मनिष्ठैः भिक्षुकैः संन्यासिभिः अन्यैः चातुर्वर्ण्यसाधारण-
दुःखितैः आक्रान्तागारं भिक्षार्थं संन्यासी नोपसंनजेदित्यन्वयः ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तापसादिभिराकीर्णं अगारं गृहं नोपसंनजेत् । वयोभिः पक्षिभिः
शुकादिभिः अन्यैर्वा ध्वांक्षादिभिः आकीर्णम् ॥ ५१ ॥

(७) मणिरामः । वयोभिः पक्षिभिः, एतादृशं गृहं न उपसंनजेत् भिक्षार्थं
प्रविशेत् ॥ ५१ ॥

(८) गोविन्दराजः । नेति । वानप्रस्थब्राह्मणपक्षिश्वभिरन्यैर्भिक्षाटनशीलैर्व्याप्तं गृहं
भिक्षार्थं न प्रविशेत् ॥ ५१ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ॥

विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । पात्राणि वक्ष्यति । दण्डास्त्रयः । त्रिदण्डी हि सः । कुसुम्भः कमण्डलुः, न महारजनम् । उत्तरश्लोकार्धस्यार्थः प्राग्विहित एव ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नीचकेशादिर्मासि मासि क्षौरादिकर्मणा । क्वचित् क्लृप्त-केशनखश्मश्रुरिति पाठस्तत्र क्लृप्तपदं छिन्नमात्रपरम् । छेदनं च क्षुरेणैव केशानां स्मृत्यन्तर-दर्शनात् । पात्री भिक्षापात्रवान् । दण्डी एकेन त्रिभिर्वा । कुसुम्भं कमण्डलुः । नित्यं विचरेन्नैकत्र तिष्ठेत् ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्भिक्षापात्रवान्दण्डी कुसुम्भः कमण्डलुस्तद्युक्तः सर्वप्राणिनोऽपीडयन्सर्वदा परिभ्रमेत् ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । 'ऋतुसन्धिषु वापयेदिति श्रुतिमाश्रित्याह क्लृप्तेति । क्लृप्तानि छिन्नानि केशादीनि यस्य सः । कुसुम्भं कमण्डलुरुदकाधारः, स च मृदादिविकारः 'मृत्पात्रं अलाबुपात्रं दारुपात्रं चे'ति श्रुतेः । भिक्षापात्रं त्रिदण्डिनामेव नैकदण्डिनाम्; 'पाणिपात्र-मुदरपात्रं वे'ति श्रुतेः ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । क्लृप्तं कृतं, गुप्तमिति यावत् । केशश्मश्रुग्रहणादन्यतो रोमवपननिषेधः पात्रं भाजनं तद्वान्पात्री । कुसुम्भवान्कुसुम्भकरः ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुसुम्भं कमण्डलुः तद्वान् ॥ ५२ ॥

(७) मणिरामः । पात्री भिक्षापात्रवान् । कुसुम्भवान् कुसुम्भः कमण्डलुः तद्युक्तः ॥ ५२ ॥

(८) गोविन्दराजः । क्लृप्तकेशनखश्मश्रुरिति । लूनकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डकुसुम्भ-वान् सर्वभूतान्यपीडयन् नियतो बुद्धिमान् सर्वदा विचरेत् ॥ ५२ ॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ॥

तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । अतैजसानि सुवर्णाद्यघटितानि पात्राणि भिक्षाया जलस्य च । निर्व्रणान्यच्छिद्राणि । अद्भिर्ममात्रेण चमसानामिव, निर्लेपत्वे । लेपसंभवे तु तदपनयोऽपि द्रव्यान्तरेण कार्यं इति ग्राह्यम् ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतैजसानि सुवर्णाद्यघटितानि पात्राणि । भिक्षाया जलस्य च निर्व्रणान्यच्छिद्राणि । अद्भिर्ममात्रेण चमसानामिव निर्लेपत्वे, लेपसंभवे तु तदपनयोऽपि द्रव्यान्तरेण कार्यं इति ग्राह्यम् ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । सुवर्णादिर्वर्जितानि निश्छिद्राणि भिक्षोर्भिक्षापात्राणि भवेयुः । तथा यमः—'सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च । गृह्णन् भिक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं व्रजेत् ॥' तेषां च यतिपात्राणां जलेनैव तु शुद्धिः यज्ञे चमसानामिव ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च अतैजसानीति । निर्त्रणानि निश्छिद्राणि । तैजसे तु 'सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च । भिक्षां दत्त्वा न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा न रकं ब्रजेदिति' यमवचनात् । तैजसपात्रा स्वीकृतिः । तत्र भक्षणे न दोषः । 'प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनि'रिति स्मरणात् । अद्भिरिति । गोवालच्छेददाहानां स्नातकादिपात्रे प्राप्तानां निवृत्त्यर्थं 'चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन चे'त्युक्तेः ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । अतैजसान्यलोहमयानि । शौचं भोजनकृते ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य यतेः अतैजसानि अधातुकानि तेषां पात्राणां अद्भिः शौचं प्रक्षालनं स्मृतम् ॥ ५३ ॥

(७) मणिरामः । तस्य संन्यासिनः । निर्त्रणानि निश्छिद्राणि । तेषां पात्राणां अध्वरे यज्ञे ॥ ५३ ॥

(८) गोविन्दराजः । अतैजसानीति । सौवर्णलोहादिर्वर्जितानि अच्छिद्राणि भिक्षा-भोजनपात्राणि स्युर्निर्त्रणानि च तेषां च उदकेनैव शुद्धिर्यज्ञे चमसानामिव ॥ ५३ ॥

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ॥

एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । वैदलं वंशादिविदलकृतम् । यतिपात्राणि भिक्षार्थं जलार्थं च ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैदलं वंशादिविदलकृतं । यतिपात्राणि भिक्षार्थं जलार्थं च ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । तान्येव दर्शयति अलाबुमित्यादि । अलाबुदारुमृत्तिकावंशादिखण्ड-निर्मितानि यतीनां भिक्षापात्राणि स्वायम्भुवो मनुरवदत् । वैदलं तस्त्वक्निर्मितमिति गोविन्दराजः ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतैजसानीत्युक्तं विवृणोति अलाबुमिति । वैदलं वंशपर्वात्मकं विशिष्टपत्रनिर्मितं वा ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । वैदलं वेणुदलनिर्मितम् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैदलं वैणवम् ॥ ५४ ॥

(७) मणिरामः । अलाबुं वैदलं वंशादिदण्डनिर्मितं ॥ ५४ ॥

(८) गोविन्दराजः । अलाबुं वा दारुपात्रमिति । अलाबुदारुमत्तस्त्वङ्निर्मितानि पात्राणि प्रब्रजितानां स्वायम्भुवो मनुराह ॥ ५४ ॥

एककालं चरेद्भूक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ॥

भक्षप्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । भैक्षकार्यस्य भोजनस्यैककालता विधीयते, न पुनर्भैक्षचरणस्यैव । द्विर्भोजनप्रतिषेधोऽत्राभिसंहितः । तत्र सकृच्चरित्वा द्वितीयस्मिन्काले शेषयित्वा न भुञ्जीत, तदर्थो भोजनप्रतिषेधः । अत एवाह न प्रसज्जेत विस्तर इति । द्वितीयभोजनातिथितया हि विस्तरः प्राप्नोति । एकारामस्य न भृत्यार्थेन भैक्षविस्तर इति हेतुं ब्रुवन् सकृद्भोजनेऽपि सौहित्यं निषेधति ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विस्तरे विस्तारे भिक्षाबहुत्वे न प्रसज्ये (ज्जे) तैककालं चरन्नपि । प्रसक्तिनिषेधाद्वैवादधिप्राप्तौ दोषाभावः । विषयेषु स्त्र्यादिषु आकाङ्क्षाया अवकाशलाभेन प्रसारात् ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । एकवारं प्राणधारणार्थं भैक्षं चरेत् । तत्रापि प्रचुरभिक्षाप्रसङ्गं न कुर्यात्; यतो बहुतरभिक्षाभक्षणप्रसक्तो यतिः प्रधानधातुवृद्ध्या स्त्र्यादिविषयेष्वपि प्रसज्जते ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । भिक्षाकालस्य नियममाह एकेति । बहुभिक्षणे बहुवारभिक्षणे च दोषमाह भैक्ष इति । विषयेषु स्त्रीभोगाद्यनर्थेषु ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । विस्तरे भिक्षाबहुत्वे ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । विस्तरे भिक्षाविस्तरे न प्रसज्जेत न संसक्तो भवेत् ॥ ५५ ॥

(७) मणिरामः । विस्तरे न प्रसज्जेत प्रचुरभिक्षाप्रसंगं न कुर्यात् । भैक्षे प्रसक्तः बहुतरभिक्षाभक्षणे प्रसक्तः । विषयेष्वपि स्त्र्यादिष्वपि ॥ ५५ ॥

(८) गोविन्दराजः । एककालमिति । सकृत्प्राणयात्रामात्रार्थं एकवारमेव भैक्ष्यं चरेत् । नोभयकालमपि भैक्षचरणविस्तरप्रसङ्गं न कुर्यात् । यस्माद्भैक्षाशनातिशयेन शक्तो यतिरन्नमदोद्रेकात् विषयान्तरेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

(९) भारुचिः । सार्यभोजनस्य प्रतिषेधः । गार्हस्थ्ये द्विर्भोजनस्य प्राप्तस्य अर्थप्राप्तप्रतिषेधोऽयमेवमस्मिन्नपि ॥ ५५-५६ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ॥

वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । भुक्तवन्तो जना यस्मिन्काले स भुक्तवज्जनेः । एवं विधूमादयोऽपि । शरावाणां संपाते उच्छिष्टानां भूमौ त्यागः, स यदाऽतीतो भवति । सर्वेणैतेन प्रथमे पाककाले भिक्षादानावसरो निवृत्तो यदा भवति, तदा भिक्षितव्यमित्याह विधूम इत्यादिना द्वितीयपाकप्रवृत्तिमाह । सन्ना मुसला अवघातान्निवृत्ताः स्थापिताः ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधूम इति । न पाककाल इत्यर्थः । सन्नमुसल इति । न पाकार्थ-मन्ननिष्पादनकाले । व्यङ्गारे न पाकनिष्पत्त्यनन्तरकाल एव । भुक्तवज्जने न भुञ्जानेषु । वृत्ते शरावसंपाते भुक्तवत्स्वपि जनेषु न भिक्षुकेभ्यो भिक्षायां दीयमानायां शरावसङ्घट्टशब्दे

वर्तमान इत्यर्थः । एतेन तत्तदुत्तरकालप्रतीक्षाणासंभवे तत्तदव्यवहितपूर्वकालभैक्ष्यचरणनियम उक्तः । मुख्यभिक्षाकालप्रतीक्षायां चापर्युषितालाभे पर्युषितमप्याददीतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । विगतपाकधूमे निवृत्तावहननमुसले निर्वाणपाकाङ्गारे गृहस्थपर्यन्त-
भुक्तवज्जन उत्सृष्टशरावेषु त्यक्तेषु सर्वदा यतिभिर्भिक्षां चरेत् । एतच्च दिनशेषमुहूर्तत्रय-
रूपसायाह्नोपलक्षणम् । तथाह याज्ञवल्क्यः (प्राय. ४।३।५९) 'अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यं
सायाह्नेनाभिसंधितः' ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । एककालेऽपि प्रातरादि निवर्तयन्नाह विधूमेत्यदि । गतपाकधूमे
सन्नमुसले निवृत्तावघातमुसले व्यङ्गारे पाकाङ्गारनिवृत्तौ भुक्तवज्जने गृहस्थस्यापि भोजन-
निवृत्तौ वृत्ते । शरावसंपातेति । परिवेषणनिवृत्तौ, एतेषां प्रत्येकसमुदाययोरननुगमात् षष्ठ-
कालैकभोजने तात्पर्यम् । तदाह याज्ञवल्क्यः 'अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यं सायाह्नेनाभिलक्षित' इति ।
इदं सर्वं याचितपरं तच्च माधुकरं असंकलृप्ताप्तकालिकोपपन्नमिति त्रिविधं । असंकलृप्तं
करपात्रमिति प्रसिद्धं । अयाचितं द्विविधं प्राक्प्रणीतमयाचितमिति । प्राक्प्रणीतं निमन्त्रितं ।
अत्र तु दातुरनुरोधात्कालानियमोऽयाचितेऽपि तथा ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । भक्षणे कालनियममाह विधूम इति । विधूमत्वादिविशेषणैरपराह्णकालो
लक्ष्यते ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरावसंपाते वृत्ते निवृत्ते प्रक्षालितेत्यर्थः । एतादृशे काले यतिभिर्भिक्षां
चरेत् ॥ ५६ ॥

(७) मणिरामः । भिक्षाकालमाह विधूम इति । विधूमे विगतपाकधूमे । सन्न-
मुखले सन्नं निवृत्तं कंडनं यस्मिन् एतादृशं उखलं उलूखलं यत्र व्यंगारे निर्वापितांगारे ।
वृत्ते शरावसंपाते । भिक्षुकाणां शरावे भिक्षापात्रे संपाते भिक्षासंपाते वृत्ते निवृत्ते सति ।
यतिभिर्भिक्षां चरेत् ॥ ५६ ॥

(८) गोविन्दराजः । विधूम इति । विगतधूमे काले निवृत्तमुसलावहननेषु पाकज्वाला-
सूपशान्तासु गृहस्थपर्यन्तेषु जनेषु कृतभोजनेषु उच्छिष्टशरावेषु त्यक्तेषु सर्वदा यतिभिर्भिक्षां
चरेत् ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । ईदृशे काले यदि कुतश्चिन्न लभ्यते तदा विषादश्चित्तपरिखेदो न
गृहीतव्यः । लाभालाभयोर्हर्षविषादौ न ग्राह्यौ । प्राणयात्रिकी प्राणधारणार्था मात्रा परिमाणं
भैक्षस्य । अनेनैतद्दर्शयति-भैक्षासंभवे प्राणयात्रा फलमूलोदकादिभिरप्यनन्यपरिगृहीतैः
कर्तव्या । मात्रा पात्रदण्डादि, तत्र सङ्गः प्रयत्नेनोपार्जनम्, ततो विनिर्गतो निवृत्तः, अकाम
इति यावत् ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राणयात्रिकमात्रः प्राणस्थित्यर्थमात्रप्रवृत्तः । मात्रा परिच्छद-
कम्बलादि तत्र सङ्गाद्विनिर्गतो बहिर्भूतः ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । भिक्षादेरलाभे न विषीदेत् लाभे च हर्षं न कुर्यात् । प्राणस्थिति-
मात्रोपचितान्नभोजनपरः स्यात् । दण्डकमण्डलुमात्रास्वपीदमशोभनं त्यजामीदं रुचिरं
गृह्णामीत्यादिप्रसङ्गं न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मिन्समयेऽपि लाभालाभयोरौदासीन्यमाह अलाभ इति । लाभः
प्राप्तिरपि । न हर्षयेन्न मोदयेत् । एनं यति । प्राणयात्रिकमात्रं स्यात् प्राणस्य यात्रा
व्यवहारसामर्थ्यं यावन्मात्रेण तत्प्राणयात्रिकं, तावन्मात्रं स्वीकृतं येन सः । मात्रासंगाद्विजितः
मात्रा तु दण्डकमण्डलादि तेष्वपि इदमशोभनं त्यजामि इदं शोभनं गृह्णामीत्यभिनिवेश-
रहितः द्वन्द्वातीतो वा ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । उदरपूरणविधिः । मात्रा तत्र सङ्गः मात्रासङ्गः ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अलाभे भिक्षालाभे न विषादी स्यात् । प्राणयात्रिक एव स्यात् ।
यावद्दत्तेन प्राणानां यात्रा निर्वहः स्यात्तावदेव ग्राह्यं, नाधिकमित्यर्थः । मात्रासंगात् मात्रा
परिच्छदः दण्डकमण्डलुकम्बलादिः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा वा तस्मात् विनिर्गतः विरहितः
भवेदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

(७) मणिरामः । मात्रासंगात् दण्डकमण्डलादिमात्रास्वपि इदमशोभनं त्यजामि, इदं
रुचिरं गृह्णामि इत्यादिप्रसंगात् विनिर्गतः रहितः स्यादित्यर्थः ॥ ५७ ॥

(८) गोविन्दराजः । 'न रागी न विषादी स्याल्लामश्चैनं न हर्षये'दिति । लाभा-
लाभयोर्हर्षविषादौ न भजेत । प्राणाप्यायनमात्रभक्षणं भुञ्जीत । दण्डकमण्डलादिमात्रायाभिदं
शोभनं नेत्येवं संगं न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ॥

अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । अभ्यर्च्यं यं ददाति सोऽभिपूजितलाभः, तं जुगुप्सेतेति निन्देद्
गर्हेत् । अतश्च निन्दितं न समाचरेत् । सर्वशः सर्वकालम् । एकमप्यहस्तादृशं भैक्षं न
गृह्णीयात् । उत्तरेऽर्थवादः । नहि मुक्तस्तस्य बन्धसंभवः ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिपूजिताः ससंमाना लाभाः । जुगुप्सेतेति त्यजेदित्यर्थः ।
बध्यते अभिपूजितादातरि प्रत्युपकाराभिसन्धिना ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । पूजापूर्वकभिक्षालाभं सर्वकालं निन्देन्न स्वीकुर्यादित्यर्थः । यस्मा-
त्पूजापूर्वकलाभस्वीकारे दातृगोचरस्नेहममत्वादिभिरासन्नमुक्तिरपि यतिर्जन्मबन्धां-
लभते ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । पूजापूर्वकभैक्षप्रसक्तिरतीवानर्थीयेत्याह अभीति । अजुगुप्सिने
त्वाह । मुक्तोऽपि जीवन्मुक्तोऽपि बध्यते, गर्वासक्तिभ्यामिति शेषः ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । मुक्तोऽसक्तः ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभि सर्वतः पूजितान् लाभान् जुगुप्सेत् ॥ ५८ ॥

(७) मणिरामः । अभिपूजितलाभान् पूजापूर्वकभिक्षालाभान् सर्वशः सर्वकालं । जुगुप्सेतैव निदेदेव, न स्वीकुर्यादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

(८) गोविन्दराजः । 'अतिपूजितलोभात्तु भिक्षां यत्नेन वर्जयेत् । अतिपूजितलोभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥' पूजापूर्वकभैक्ष्यलाभात्सर्वदा निन्द्येदतश्च वर्जयेत् । यस्मात्पूजितलाभसहोत्पत्त्या यतिर्मोक्षमाणोऽपि संसारं प्राप्नोति ॥ ५८ ॥

(९) भारुचिः । इन्द्रियजयोपायद्वयोपदेशोऽयम् । कस्य पुनर्हेतोर्यः संसारस्वभावावलोकनेन च नित्यमिन्द्रियजयमातिष्ठेत् तच्च पुनरिदम् ॥ ५८ ॥

अल्पाभ्याभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ॥

ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । रहो निर्जनो देशस्तत्र स्थानासने कर्तव्ये । एकारामतायाः फलमिन्द्रियजयोऽनेन प्रदर्शयते । अथवा निष्कुतूहलताऽनेनोच्यते । यत्र बहवो जनसंघाताः स्त्रीपुंसात्मका विचित्राभरणा दृश्यन्ते न तत्र क्षणमपि तिष्ठेत् ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रह एकान्ते यत्स्थानं तत्रासनेन ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । आहारलाघवेन निर्जनदेशस्थानादिना च रूपादिविषयैराकृष्यमाणानीन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव दृष्टार्थमाह अल्पान्नाभ्यवहारेणेति । तथा च गीता (१८।५२) 'विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस' इत्यादि । विषयैर्ह्रियमाणानि इन्द्रियाण्याकृष्यमाणानि विषयेभ्यो निवर्तयेदित्यन्वयः ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अल्पान्नाभ्यवहारेण च रहःस्थानासनेन विषयैः शब्दादिभिः ह्रियमाणानीन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(७) मणिरामः । अल्पान्नाभ्यवहारेण आहारलाघवेन ॥ ५९ ॥

(८) गोविन्दराजः । अल्पान्नाभ्यवहारेणेति । विषयै रूपादिभिरुपभोगार्थमिन्द्रियाणि अल्पान्नभोजनेन एकान्तदेश उपवेशनेन च ह्रियमाणानि विषयेन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ॥

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । निरोधः स्वविषयप्रवृत्तिप्रतिबन्धः । अमृतत्वाय कल्पते अमृतत्वाय समर्थो योग्यो भवतीत्यर्थः । यथा आत्मज्ञानमेवमेतदपीति दर्शयति ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रियाणां निरोधेन यः कृतो रागद्वेषक्षयस्तेन ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् इन्द्रियाणामित्यादि । इन्द्रियाणां निग्रहणं रागद्वेषाभावेन च प्राणिहिंसाविरतेन च मोक्षयोग्यो भवति ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्कारणमन्येन समुच्चित्य तत्र फलमाह इन्द्रियेति । एतैस्त्रिभिरमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते समर्थः स्यात् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियाणां निरोधो निग्रहः ॥ ६० ॥

(७) मणिरामः । अमृतत्वाय कल्पते मोक्षयोग्यो भवति ॥ ६० ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मात् इन्द्रियाणामिति । इन्द्रियजयरागद्वेषादिनः अहिंसावर्जनैर्मोक्षाय योग्यो भवति ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ॥

निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । परमार्थभावनाप्रसंख्यानमिदमुच्यते दुःखात्मकसंसारस्वरूपनिरूपणम् । कथं नामायं प्रव्रज्याभैक्षचर्यादिशरीरक्लेशं सुहृत्स्वजनपुत्रदारधनविभवत्यागदुःखहेतुं परिणमय्य विरोधतः स्वच्छन्दतश्चाविगुणमनुष्ठास्यति ? मनुष्याणां गतयो दुःखबहुलाः, कर्मदोषेभ्यः प्रतिषिद्धसेवनेभ्यो हिंसास्तेयपारदार्यपारुष्यपैशुनानिष्टसंकल्पादिभ्यः समुद्भवन्ति । इहैव जीवलोके दारिद्र्यव्याधिपरिभवाद्वा वैकल्यादयो गतयः फलोपभोगादयः । अमुत्र निरये नरके पतनं मूलपुरीषाद्यमेध्यस्थाने कृमिकीटादिजन्म । यमगृहे च यातनाः कुम्भीपाकादयः ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गतीर्व्याचष्टे निरय इति । निरये नरके यातनास्तीव्रदुःखानि । यमक्षये यमगृहे ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं इन्द्रियनियमोपायविषयवैराग्याय संसारतत्त्वचिन्तनमुपदिशति अवेक्षेतित्यादि । विहिताकरणनिन्दितचरणरूपकर्मदोषजन्यां मनुष्याणां पश्वादिदेहप्राप्तिं नरकेषु पतनं यमलोके नरकस्थस्य निशितनिस्त्रिशच्छेदनादिभवास्तीव्रवेदनाः श्रुतिपुराणादिषूक्ताश्चिन्तयेत् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । वैराग्यं विना न मोक्ष इति वैराग्योपायमाह अवेति पञ्चभिः । अवेक्षेत शास्त्रादृष्टोपपत्तिभिः । कर्मदोषेति । कर्म पुण्यापुण्यं, दोषो रागादिः, तदुद्भवा गतीर्जन्मानि । निरये असिपत्नादिनरके यातना असह्यदुःखं यमक्षये यमपुर्याम् ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । यातना नरकपतनात्पूर्वमेवानुभवितव्यः पीडाविशेषः ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वक्ष्यमाणगता गतीरवेक्षेत । यमक्षये यमलोके ॥ ६१ ॥

(७) मणिरामः । कर्मदोषसमुद्भवाः विहितत्यागनिन्दितसेवनरूपकर्मदोषोत्पन्नाः । नृणां गतीः पश्वादिदेहप्राप्तिं निरये पतनं च अवेक्षेत ॥ ६०-६१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अधुनेन्द्रियजयोपायतया संसारनिवेधमुपदिशति अवेक्षेतेति । शिष्टाकरणप्रतिषिद्धसेवनेनोत्पन्नपापसमुद्भवाः क्षेत्रज्ञानां सर्पकृकलासकृम्यादिशरीर-प्राप्तीः यमगृहेऽपि नरकपतनं यातनाश्च निशिततरकरपत्रविदारात्मकाः शास्त्रदृष्ट्या विलोकयेत् ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ॥

जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । तथेदमपरमवेक्ष्यम् । अवेक्षेतेति क्रियापदसंभवात् द्वितीया । प्रियाः पुत्रादयो बान्धवास्तैर्वियोगोऽप्राप्तकाले मृतैः । अप्रियैः शत्रुभिः संयोगः संग्रामादिभिः संयोगः । जरया । चतुर्थे वयस्यवस्थाविशेषो जरा, तयाऽभिभवनं शरीराकारनाशः, अशक्तिः, इन्द्रियवैकल्यम्, कासश्वासादिव्याधिबाहुल्यम्, सर्वेषामकाम्यता, उपहास्यतेत्यादिभिः 'जराभिभवः' । व्याधिभिः प्रागपि जरस उपपीडनं केषांचित् ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । इष्टपुत्रादिवियोगमनिष्टहिंसकादियोगं जराभिभवनं व्याध्यादिभिश्च पीडनं कर्मदोषसमुद्भवमनुचिन्तयेत् ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चात्र विप्रयोगं वियोगं प्रियैः पुत्रादिभिरिहामुत्राऽप्रियैः । शात्रवादिभिः ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । अवेक्षेतेत्यनुवर्तते ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । संसारस्वरूपमाह विप्रयोगमिति चतुर्भिः । जरया चाभिभवनं जरया वलीपलिताद्यभिभवनं रूपविपर्ययं अवेक्षेत पश्येत् । व्याधिभिः उपपीडनं अवेक्षेत । प्रियैः पुत्रादिभिः अप्रियैः चौरव्याघ्रादिभिः ॥ ६२ ॥

(८) गोविन्दराजः । विप्रयोगमिति । इष्टवियोगानिष्टसंयोगजरयाभिभवव्याध्युप-पीडनानि कर्मदोषोद्भवानि पर्यालोचयेत् ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् ॥

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । अथ महती तृष्णा एवंस्थितस्यापि भवति । एवं तर्हि इदमप्रतीकारं अनिच्छतोऽप्युत्पद्यते— गर्भे च संभवः । तत्र नानाविधं दुःखं इन्द्रियाणामनुद्धेदात्तमोरूपता कुक्षिस्थस्य मातृसंबन्धिनाऽऽहारेण अतिशीतोष्णेन हीनातिमात्रेण वैद्योक्ता पीडा ।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः सरणानि प्राप्तास्तिर्यक्प्रेतकृमिकीटपतङ्गश्वाद्याः क्षेत्रज्ञस्य । "ननु च विभुरन्तरात्मेष्यते नित्यश्च । तस्य सकलजगद्व्यापिनः कुत उत्क्रमणम् ? क्व च योनिसरणम् ? संभवोऽपि गर्भे नित्यस्यानुपपन्नः" । उच्यते— अस्ति केषांचिद्दर्शनम्— यथाऽयमन्तःशरीरमंगुष्ठमात्रः पुरुषस्तिष्ठति, तन्मात्रमनोबुद्धचर्हंकारात्मकः स यावत्संसार-मेति धर्मः, तस्य चोपचितस्य चैतन्यशक्तिराविर्भवति । अतस्तदीयधर्मा अन्तरात्मन

उपचर्यन्ते । अथवा तस्य भावार्था ये प्राणादयस्तेषूत्क्रामत्सु स उत्क्रामतीत्युच्यते । एवं 'संभवोऽपि' द्रष्टव्यः । पुनश्चैतद्द्वादशे वक्ष्यामः । किं बहुना ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्क्रमणमात्मनः । योनिर्जातिः । सृतीः संसरणानि ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्माद्देहादस्य जीवात्मन उत्क्रमणं तथा च मर्मभिद्भिर्महारोगपतितस्य श्लेष्मादिदोषनिरुद्धकण्ठस्य महतीं वेदनां गर्भं चोत्पत्तिदुःखबहुलां श्वशृगालादिनिर्कृष्टजाति-योनिर्कोटिसहस्रगमनानि स्वकर्मबन्धान्यनुचिन्तयेत् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्मात् स्थूलदेहात् । सृतीर्जन्मानि अन्तरात्मनः लिङ्गदेहस्य अवेक्षेतेत्यनुषङ्गः ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । सृतीः संसृतीः । अन्तरात्मनो जीवस्य ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्माद्देहात् प्राणभाण्डात् । क्रमणं निष्क्रमणं अवेक्षेत । अभ्यन्तरात्मनः जीवस्य सृतीर्गतीः जन्मानि योनिर्कोटिसहस्रेषु अवेक्षेत । तद्यथा श्वशूकरखरोरगाद्य-नेकजातिषु जन्मानि पश्येदित्यर्थः ॥ ६३ ॥

(७) मणिरामः । अस्यांतरात्मनः जीवात्मनः ॥ ६३ ॥

(८) गोविन्दराजः । देहादिति अस्य क्षेत्रज्ञस्य अस्माच्छरीराद्दुःसहसन्धिवन्धनि-घट्टनपूर्वकबहुलतरतमः प्रवेशकर्कशमुत्क्रमणं पुनश्च शीतोष्णतिक्तकटुकादिजननान्यशनपाना-दिदुःखबहुलगर्भं उत्पत्तिं शृगालादिनिर्कृष्टजात्यनन्तयोनिगमनानि च कर्मदोषसमुद्भवान्यवेक्षेत ॥ ६३ ॥

(९) भारुचिः । प्राणानामुत्क्रमणमन्तविच्छेदः । दुःसहा च सा पीडा ॥ ६३ ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ॥

धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । अधर्मत्प्रभव उत्पत्तिः । दुःखेन यो योगः पीडानुभवः ।

धर्म उक्तलक्षणो यः पदार्थः, ततः सुखेनाक्षयेन संयोगः । एतदप्यवेक्ष्यम् ।

पारिव्राज्यं च मुख्यो धर्म इत्यभिप्रायः ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मार्थप्रभवं धर्मरूपादर्थदित्यमानादनुष्ठीयमानात्प्रभूतं तत्र प्रवृत्तं ख्यातं सुखसंयोगं स्वर्गादौ तथा निवृत्ताधर्मादक्षयं सुखसंयोगमिति विवेकः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । शरीरवतां जीवात्मनामधर्महेतुकं दुःखसम्बन्धं धर्महेतुकोऽर्थो ब्रह्म-साक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणमक्षयं ब्रह्मसुखसंयोगं चिन्तयेत् ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मार्थप्रभवमिति । धर्मप्रभवो योऽर्थः ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणं अन्यसुखस्य मुख्यत्वाक्षयत्वानुपपत्तेः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । धर्मानुष्ठानज्ञानमेव प्रधानं न लिङ्गमित्याह अधर्मेति ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधर्मप्रभवं अधर्मस्य उत्पन्नं अवेक्षेत । धर्मार्थयोः प्रभवं अवेक्षेत ॥ ६४ ॥

(७) मणिरामः । धर्मार्थप्रभवं धर्महेतुकोऽर्थो ब्रह्मसाक्षात्कारः तत्प्रभवं मोक्षलक्षणं । अक्षयं सुखसंयोगं ब्रह्मसुखसंयोगम् ॥ ६४ ॥

(८) गोविन्दराजः । अधर्मप्रभवमिति । शरीरवतां क्षेत्रज्ञानां अधर्मकारणकं दुःख-संबन्धं धर्मार्थनिमित्तकं च क्षेमं सुखसंबन्धमवेक्षेत । अत इत्थं पर्यालोच्येन्द्रियजये मोक्षोपायभूते यतेत ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ॥

देहेषु चैवोपपत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । योगश्चित्तवृत्तिस्थैर्यं यथा पतञ्जलिना दर्शितम् (१।२) । तेनात्मनः क्षेत्रज्ञस्य सूक्ष्मतामन्ववेक्षेत । शरीरादौ प्राणादौ वा नात्मबुद्धिः कर्तव्या । किं तर्हि ? योगजेन ज्ञानातिशयेन सर्वेभ्य एतेभ्योऽन्तर्बहिस्तत्त्वेभ्यो व्यतिरिक्तो बोद्धव्य इत्येवंपरमेतत् । न तु स्थूलादिविकल्पा आत्मनः सन्ति । यथा चोत्तमेषु देवादिशरीरेष्वस्योपपत्तिः, शरीरा-धिष्ठातृतया फलोपभोगः सर्वगतस्यापि सतः, एवमधमेषु तिर्यक्प्रेतपिशाचादिषु । एकत्वपक्षे परमात्मविभूतय एव क्षेत्रज्ञा इति स्थितिः । अतः परमात्मनो गतीरन्ववेक्षेतेत्युक्तम् ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योगेन ध्यानेन । सूक्ष्मतामतियत्नाधिगम्यतामवेक्षेत सदा चिन्त-येत् तेन हीनाभ्यासं मध्ये विच्छिनत्ति । उपपत्तिमुत्पत्तिम् ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । योगेन विषयान्तरचित्तवृत्तिनिरोधेन परमात्मनः स्थूलशरीराद्यपेक्षया सर्वान्तर्यामित्वेन सूक्ष्मतां निरवयवतां तत्त्यागादुत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्यादिशरीरेषु जीवानां शुभाशुभफलभोगार्थमुत्पत्तिमधिष्ठानमनुचिन्तयेत् ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सूक्ष्मतामिति । योगेन चित्तवृत्तिनिरोधेन । परमात्मनः सूक्ष्मतां निरवयवतया सङ्गतां । उत्पत्तिं घटाकाशवदध्यासवशात्तत्प्रतीतिम् । उत्तमेषु देवादिषु अधमेषु पश्यादिषु उत्तमाधमेषु नृष्वपि ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । संसारस्वरूपापेक्षानन्तरं किं कार्यमित्यत आह सूक्ष्मतामिति । योगेन योगाभ्यासेन परमात्मनः सूक्ष्मतां दुर्ग्रहतामवेक्षेत ॥ ६५ ॥

(७) मणिरामः । सूक्ष्मतां स्थूलशरीराद्यपेक्षया सर्वान्तर्यामित्वेन सूक्ष्मतां निरवय-वतां ॥ ६५ ॥

(८) गोविन्दराजः । सूक्ष्मतामिति । परमात्मनश्चित्तवृत्तिस्थैर्येण सूक्ष्मतामवेक्षेत । य एषोऽन्तर्हृदयेऽणीयानिति श्रुतेर्यदि वा शरीरादिस्थूलपदार्थव्यतिरिक्तत्वावलम्बनेनोपरचित-सूक्ष्मत्वव्यपदेशे सति सूक्ष्मतामवेक्षेत । तथोत्कृष्टापकृष्टशरीरेषु शुभाशुभफलोपभोगार्थमधि-ष्ठातृत्वमस्यावेक्षेत ॥ ६५ ॥

भूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ॥

समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥६६॥

(१) मेधातिथिः । भूषितः कुसुमकटकाद्याभरणैः । धर्मः परिव्राजकस्य यद्विहित-
मात्मोपासनादि तद्यत्नतश्चरेत् । यस्मिन्नाश्रमे यो विहितस्तं चरेत् । न त्रिदण्डादिलिङ्ग-
धारणमात्राद्यतिमात्मानं मन्येत । अपि तु समः सर्वेषु भूतेषु स्यात् । रागद्वेषलोभान्यत्नतः
परिहरेदिति तात्पर्यम् । न लिङ्गत्यागेन भूषणाभ्यनुज्ञानम् ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । भूषितोऽपि स्त्र्यागारादिना गृहस्थोऽपीत्यर्थः । धर्मं योगधर्मं यत्र
तत्रेति वानप्रस्थब्रह्मचर्याश्रमस्थोऽपि । समः सर्वत्र मैत्रप्रवृत्तः । लिङ्गं परिव्राजकलिङ्गं
दण्डकरकादि । धर्मस्य योगधर्मस्य कारणम् ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मिन् कस्मिंश्चिदाश्रमे स्थितस्तदाश्रमविरुद्धाचारदूषितोऽप्याश्रम-
लिङ्गरहितोऽपि सर्वभूतेषु ब्रह्मबुद्ध्या समदृष्टिः सन्धर्ममनुतिष्ठेत् । नहि दण्डादिलिङ्ग-
धारणमात्रं धर्मकारणं किंतु विहितानुष्ठानम् । एतच्च धर्मप्राधान्यबोधनायोक्तं नतु
लिङ्गपरित्यागार्थम् ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च दूषितोऽपीति । आश्रमलिङ्गरहित्येन दूषितो भ्रष्टः
अभिज्ञस्तो वा स्त्र्यादिना । समस्तुल्यो दूषकेष्वपि धर्मं चाश्रमधर्मं चरेत् यत्र कुटीचकबहूदकहंस-
परमहंसेषु ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु वा । स्वस्वधर्मं न त्यजेदिति । यद्वा स्त्र्यादिसंगदोषयुक्तोऽपि
धर्ममधिष्ठानतया सर्वसाधारणाद् ब्रह्म तच्चरेत् ध्यायेत् । अत एवाह सम इति । ब्रह्मैव
सर्वभूतेषु धारकतया वर्तमानत्वात् । नाहमस्म्यधिकारीति बुद्ध्या तत्त्यक्त्वाश्रमान्तरप्राय-
श्चित्तान्तरं वा नाश्रयेत् । तथोक्तं 'यदि दैवात्प्रमादेन योगी कुर्याद्विर्गहितं । योगेनैव दहेद्दंडो
नान्यत्किञ्चित्समाचरेत् ॥ उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं
ब्रह्मध्यानाद्यप्यपोहतीति' । कुसुमकटकमुकुटाद्यैर्भूषित इति मेधातिथिः । तथा सति सम
इत्यादि न चारु ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषु भूतेषु समः सर्वत्र मैत्रीपरः लिङ्गं आश्रमलिङ्गस्वरूपं
धर्मकारणं न भवेत् ॥ ६६ ॥

(७) मणिरामः । दूषितोऽपि आश्रमलिङ्गरहितोऽपि । न लिङ्गं दंडादिलिङ्गधारण-
मात्रं ॥ ६६ ॥

(८) गोविन्दराजः । 'भूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन्ति'ति । यस्मिन्कस्मि-
श्चिदाश्रमे स्थितः सर्वभूतेषु समः सन् आश्रमलिङ्गपरित्यागेन तद्विरुद्धवेषालङ्कारयुक्तोऽपि
तदाश्रमोक्तं यमसमूहमनुतिष्ठेत् । यस्मान्न दण्डकमण्डलवादिधारणं धर्मस्य कारणं अपि
तु यमनियमानुष्ठानं यमनियमानुष्ठानकर्मप्राधान्यव्यापनार्थं एतल्लिङ्गनिन्दावचनं न
लिङ्गपरित्यागार्थं विहितत्वात् ॥ ६६ ॥

(९) भारुचिः । प्रसंख्यानाध्यात्मानुष्ठानस्तुतिरियं समत्वदर्शनस्य न तु लिङ्ग-
प्रतिषेधः विहितत्वात् ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ॥

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥६७॥

(१) मेधातिथिः । कलुषितमुदकं कतकवृक्षफले निक्षिप्ते प्रसीदति स्वच्छशुद्धरूपता-
मापद्यते । किंतु न तस्य फलस्य नामग्रहणेन तन्निर्मलीभवति, अपि त्वनुष्ठानमपेक्षते । एवं
लिङ्गधारणं फलानामस्थानीयम् । न तावन्मात्रात्सिद्धिर्यावदेकारामतोपासनसर्वसमतादि-
धर्मो नानुष्ठितः । पूर्वशेषार्थवादः ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । नन्वेवं संन्यासो विफलस्तं विनाप्यपेक्षितसिद्धेरत आह फलमिति ।
यथा कतकमानयेति कतकनामग्रहणे प्रयोजकेन कृते यदि प्रयोज्येन तदानीय पिष्ट्वा दीयते
ततो जलं प्रसीदति तथात्र लिङ्गधारणां नामग्रहणस्थानीयं, प्रधानसाधनं तु कतकावयवप्रक्षेप-
स्थानीयं कर्मफलं संन्यास एवेति प्रधानत्यागे न लिङ्गधारणमात्रप्रयोजकं । तथा यद्यपि
जलस्य कलुषितस्य विक्षिप्तस्य चित्तस्य व्याक्षेपप्रसादरूपहेतुतया संन्यासस्य तदङ्गतया च
लिङ्गधारणस्यास्येवोपयोगो यथा कतकेऽसन्निहिते तदाहरणार्थं नामग्रहणस्य तत्प्रक्षेपस्य
च जलप्रसादने नतु सर्वत्र गार्हस्थ्ये वर्तमानस्यापि शुद्धानशयतया चित्ते व्याक्षेपशून्ये
जल इव स्वतःप्रसन्ने कतकप्रक्षेपस्य संन्यासतल्लिङ्गधारणयोरनुप्रयोगादित्याशयेनाम्बु-
प्रसादादिपदोपसंदानेनोदाहरणं कृतमिति मन्तव्यम् ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र दृष्टान्तमाह फलमिति । यद्यपि कतकवृक्षस्य फलं कलुषजलस्वच्छ-
ताजनकं तथापि तन्नामोच्चारणवशान्न प्रसीदति किं तु फलप्रक्षेपेन; एवं न लिङ्गधारण-
मात्रं धर्मकारणं किंतु विहितानुष्ठानम् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्माचरणं विनाऽऽश्रमाभिमानो व्यर्थ इत्याह फलमिति । कतक-
फलचूर्णं पङ्किलपत्रसि क्षिप्तं कर्दमं नाशयति । स्वयं च नश्यति, न तु तत्फलनामेत्यभिप्रायः
लिङ्गधारणाय प्रयोजकमव्याजेन धर्मानुष्ठानमेव परलोकहेतुरिति ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । अत्र दृष्टान्तमाह फलमिति । यथा कतकतरुफलं मलनिर्हरणेन जलं
प्रसादयति एवं धर्मोऽज्ञादिकर्ममलनिर्हरणेनात्मानं प्रसादयति । यथा कतकफलनामग्रहणादेव
न वारि प्रसीदति तथा धर्मलिङ्गधारणादेवात्मा न प्रसीदतीत्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाह फलमिति । तस्य फलस्य नामग्रहणादेव वारि न
प्रसीदति न निर्मलं भवति तथाश्रमधारणाद्धर्मं (?) न भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

(७) भणिरामः । दृष्टान्तमाह फलमिति । कतकवृक्षस्य फलं 'निर्मली'ति प्रसिद्ध-
नामकं ॥ ६७ ॥

(८) गोविन्दराजः । अत्र दृष्टान्तमाह फलमिति । कतकवृक्षफलं यद्यपि कलुषोदक-
प्रसन्नतोत्पादकं तथापि तत्संबन्धिनामोच्चारणमात्रेणैव उदकं प्रसन्नं न भवति, अपि तु फल-
प्रक्षेपक्रियामपेक्षते; एवं न लिङ्गधारणमात्रेणैव धर्मोऽन्यथपि तु अनुष्ठानमपेक्षते ॥ ६७ ॥

(९) भारुचिः । क्रियातः फलं न विज्ञानमात्रादित्यनुष्ठानस्तुतिरियम् ॥ ६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ॥

शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥६८॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं “दृष्टिपूतं न्यसेदिति” तस्य प्रयोजनप्रदर्शनश्लोकोऽयम् । शरीरस्यात्ययेऽपि शरीरपीडायामपि सत्यां रात्रावहनि वा तृणास्तरणे शयनार्थमास्तीर्णेऽपि शरीरनिषङ्गोऽनवेक्ष्यादृष्ट्वा न कर्तव्यः । अस्मिन्व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तम् । अथवाऽन्यन्तसूक्ष्माः केचन क्षुद्रजन्तवो ये सर्वे शरीरावयवसंवलनमात्रेणैव नश्यन्ति तदर्थमिदम् ॥६८॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संरक्षणार्थं चरणाभिघातेन हिंसाया निवृत्त्यर्थं शरीरस्यात्ययेऽप्यस्येति अस्य स्वशरीरस्यात्यये, पीडायामपीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । शरीरस्यापि पीडायां सूक्ष्मपिपीलिकादिप्राणरक्षणार्थं रात्रौ दिवसे वा सदा भूमिं निरीक्ष्य पर्यटेत् । पूर्वं केशादिपरिहारार्थं ‘दृष्टिपूतं न्यसेत्पाद’ (श्लो. ४६) — मित्युक्तम्, इदं तु हिंसापरिहारार्थमित्युक्तम् पुनरुक्तिः ॥६८॥

(४) राघवानन्दः । दृष्टिपूतमित्यस्यानुवादः । समिति । स्वशरीरस्यात्यये पीडाप्रसक्तौ तस्यां पीडायामपि भूतपीडा न कार्येति भावः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । अत्ययेऽत्यन्तदौर्बल्ये सत्यपि ॥ ६८ ॥

(६) रामबन्द्रः । शरीरस्यात्यये शरीरपीडायामपि जन्तूनां संरक्षणार्थं समीक्ष्य वसुधां चरेत् । वचित् स द्विज इति पाठः ॥६८॥

(७) मणिरामः । शरीरस्यात्यये शरीरस्य पीडायां । संरक्षणार्थं प्राणसंरक्षणार्थं पूर्वं केशादिपरिहारार्थं दृष्टिपूतमित्युक्तं, इदं तु हिंसापरिहारार्थमित्युक्तम् पुनरुक्तिः ॥ ६८ ॥

(८) गोविन्दराजः । संरक्षणार्थमिति । शरीरपीडायामपि प्राणिसंरक्षणार्थं रात्रावहनि भूमिमवेक्ष्य पर्यटेदिति प्रायश्चित्तकथनार्थमुक्त्वाभिधानं चाह ॥ ६८ ॥

(९) भारुचिः । अप्रत्ययादन्यधर्मोत्पत्तिरेव । यत्नवतोऽपि यस्मादेतं समीक्ष्य वसुधां चरेदिति, तस्य च प्रायश्चित्तमप्रकरणेऽप्यादरार्थम् ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्निहस्त्यज्ञानतो यतिः ॥

तेषां स्नात्वा विशुद्धचर्यं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥६९॥

(१) मेधातिथिः । जन्तून् क्षुद्रजन्तूनि हि द्रष्टव्यम् । तेषां हिंसाया यत्पापं तद्विशुद्ध्यर्थमिति सम्बन्धः ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अह्ना रात्र्या चेति विग्रह एकैककालीनहिंसादोषोपशमार्थं त्रिस्त्रिः प्राणायामकरणार्थं षट्प्राणायामान् । प्रणवव्याहृतिसहितगायत्र्या त्रिरायतप्राणेन पाठादेकः प्राणायामः इति क्रमेण । यथा वसिष्ठः ‘सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः सः उच्यते’ इति ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र प्रायश्चित्तमाह अह्नेति । यतिर्यानज्ञानतो दिवसे रात्रौ वा प्राणिनो हन्ति तद्धननजनितपापनाशार्थं स्नात्वा षट्प्राणायामान्कुर्यात् । प्राणायामश्च 'सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते' इति वसिष्ठोक्त्याऽत्र द्रष्टव्यः ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । यो दत्वेति भूताभयदस्याज्ञानकृते किं स्यात्तत्राह अह्नेति ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । तेषां जन्तूनाम् । शुद्धार्थं हिंसादोषप्रायश्चित्तार्थम् ॥ ६९ ॥

(७) मणिरामः । अत्र प्रायश्चित्तमाह अहोरात्र्येति । विशुद्धार्थं तद्धननजनितपापशमनार्थं ॥ ६९ ॥

(८) गोविन्दराजः । अह्नेति । यानचिन्तितान् प्राणिनोऽह्नि रात्रौ वा यतिर्हन्ति तद्धपापनिर्हरणार्थं स्नात्वा 'सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते' इति वसिष्ठकृतलक्षणान् प्राणायामान् षट् कुर्यात् । अस्य च प्रायश्चित्तप्रकर्षणोत्कर्ष आदरार्थः । असिञ्चितवृत्तेऽपि व्यतिक्रमे पापं भवति अस्मादज्ञानत इति वचनादवसीयते ॥ ६९ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ॥

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणशब्देन जातिधर्मतामाह । न परिव्राजकस्यैव विधिरयम् । त्रयोऽपि । त्रिभ्य ऊर्ध्वं फलाधिक्यम्, त्रयस्त्ववश्यं कर्तव्याः । व्याहतयः "ओंकारपूर्विका" इत्यत्र या उक्ताः । प्रणव ओंकारः, तैर्युक्ताः । प्राणायामकाल एतद्वचातव्यम् । एते त्रिविधाः कुम्भक-रेचक-पूरकाख्याः । तत्र च मुख्यस्य नासिक्यस्य च वायोर्वर्हिर्निष्क्रमणनिरोधेन कुम्भकपूरकाख्याः अनुच्छ्वसतो बहिर्नैरन्तर्येण वायोरुत्सर्गेण रेचको भवति । अवधिद्वितीयाध्याये निर्दिशतः । यदि वा तपसा पुनर्यावता कालेन न पीडोपजायते ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । षट्प्राणायामाशक्तावाह प्राणायामा इति । व्याहृतिप्रणवैरित्येकदेशोक्तया वसिष्ठोक्तप्राणायामोपलक्षणम् ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्येति निर्देशाद्ब्राह्मणजातेरयमुपदेशो न यतेरेव । त्रयोऽपि प्राणायामाः सप्तभिर्व्याहृतिभिर्देशभिः प्रणवैर्युक्ता विधिवदित्यनेन सावित्र्या शिरसा च युक्ताः पूरक-कुम्भक-रेचकविधिना कृता ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं तपो ज्ञातव्यम् । पूरकादिस्वरूपं स्मृत्यन्तरेषु ज्ञेयम् । तथा योगियाज्ञवल्क्यः 'नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते । कुम्भको निश्चलश्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः ॥' त्रयोऽपीत्यपिशब्देन त्रयोऽवश्यं कर्तव्याः । अधिककरणे त्वधिकपापक्षयः ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणायामलक्षणाकांक्षायां सार्थवादं तल्लक्षणमाह प्राणेति । व्याहृतीति गायत्र्युपलक्षणम् । तथा च वसिष्ठः 'सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते' इति ॥ ब्राह्मणस्येति प्रकरणात्संन्यासिनः, तत्रापि

त्रिदण्डिनो व्याहृत्यादिविभिः, एकदण्डिनस्तु प्रणवेनैव, तदुक्तं 'योगियाज्ञवल्क्येन, 'ओंकारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदित' इति ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । अथ प्राणायामं प्रसङ्गादाह प्राणायाम इति । ब्राह्मणस्य द्विजस्य । 'सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते' इत्युक्तं विधिमनुवदति विधिवदति ॥ ७० ॥

(७) मणिरामः । प्राणायामप्रशंसामाह प्राणायामेति ॥ ७० ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मात् प्राणायामा इति । प्राणायामा भूर्भुवःस्वरित्येताभिव्याहृतिभिरोंकारेण च युक्ताः कुंभक-पूरक-रेचकविधानेन कृता प्रकृष्टं तपो ब्राह्मणस्य बोद्धव्यम् । तत्र बाह्याभ्यन्तरवायोः कोष्ठप्रवेशनिष्क्रमणनिरोधकुंभकोच्छ्वासवायोरनवरतोत्सर्गो रेचक इति ॥ ७० ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ॥

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । धातवः सुवर्णादयः, तेषां ध्मायमानानां सुवर्णमेवावशिष्यते । तथेन्द्रियाणां विषयदर्शने यौ प्रीतिपरितापौ जायेते तयोर्यत्पापं तस्य दाहः प्राणनिरोधात् । प्रीतिपरितापोत्पत्तिर्मुमुक्षोर्निषिद्धा । सा तु शरीरिणः त्यक्तसंगस्यापि यादृच्छिकरूप-शब्दाद्युपगतौ कयाचिन्मात्रया वस्तुसामर्थ्येन नियतेन्द्रियस्याप्युपजायते । अतस्तदोष-निवृत्त्यर्थाः प्राणायामाः ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धातूनां लोहादीनां इन्द्रियाणां दोषाः स्वस्वविषयाभिषङ्गाः ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । धातूनां स्वर्णरजतादीनां यथा मूषायामग्निना ध्मायमानानां मलद्रव्याणि दह्यन्ते, एवं मनसो रागादयश्चक्षुरादेश्च विषयप्रवणत्वादयो दोषाः प्राणायामेन विषयानभिध्यानादह्यन्ते ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणायामेन पापक्षये दृष्टान्तमाह दह्यन्त इति । ध्मायमानानां वह्निनेति शेषः ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । प्राणस्य निग्रहात्प्राणायामात् ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा दोषाः विषयाभिषङ्गाः प्राणस्य वायोर्निग्रहाद्दह्यन्ते ॥ ७१ ॥

(७) मणिरामः । दृष्टान्तमाह दह्यन्त इति । प्राणस्य निग्रहात् प्राणायामात् ॥ ७१ ॥

(८) गोविन्दराजः । दह्यन्त इति । धातूनां सुवर्णाद्युत्पत्तिमृदाद्यग्निमध्ये भस्मादिना ध्मायमानानां यथापद्रव्याणि दह्यन्ते एवमिन्द्रियाणां विषयप्रवृत्त्या ये रागादयो दोषा उद्भवन्ति ते प्राणनिग्रहेण विषयान् प्राणनिग्रहणविषयानामभिध्यानं ततो रागादिव्यावृत्तिः इत्येतदनेनोच्यते ॥ ७१ ॥

प्राणायामैर्देहदोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ॥

प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राणायामैरित्येतत्पूर्वश्लोकेन दर्शितम् । अपरे त्वाहुः—दोषा रागादयस्तान्दहेत् । कथं प्राणायामैर्दग्धुमेते शक्यन्ते ? युक्तः पापस्य तैर्दाहः । अदृष्टा च तस्योत्पत्तिः शास्त्रलक्षणम्, तथा निवृत्तिरपि । रागादयस्तु प्रत्यक्षवेद्याः । तेषां च निवर्त्यनिवर्तकभावः प्रत्यक्षादिवेद्य एव युक्तो भवितुम्, न शास्त्रीयः । यदि शास्त्रमेव वदेद्विरमणशीलं निवर्तयेदिति, किं प्रमाणं भवेत् ? तस्माद्रागादिनिमित्तमशुभाचरणं दोष-शब्देनोच्यते । तस्य कार्यदाहादाहः । स्वरूपतो हि स्वरसत् एव कर्मणां क्षणिकत्वान्नाशः । एष एव च दाहः, न त्वन्यस्येव भस्मीभावः । एवं च पूर्वश्लोकार्थानुवादः । धारणाभिश्च । “ननु च किल्बिषं ‘पापं’ ‘दोषं’श्च तदैव । तत्रैतावद्वक्तव्यं प्राणायामैर्धारणाभिश्च दोषान्दहेत् । किं किल्बिषमित्यनेन ? किल्बिषमिति वाऽस्तु, किं दोषग्रहणेन ?” उच्यते—दोषग्रहणमवश्यं कर्तव्यम्, विशिष्टस्य पापस्य प्राणायामैर्दाहो यथा विज्ञायेत, न सर्वस्येति । दोषशब्देन हि रागादय उच्यन्ते । अतस्तन्निमित्त एव पापे उपचारो यथोक्तः । “एवं तर्हि तदैव क्रियतां किं किल्बिषमित्यनेन ?” पादपूरणार्थमित्यदोषः । तत्रोत्पन्नस्य पापस्य प्राणायामा दहना उच्यन्ते । धारणास्तु दोषानुत्पत्तिमेव कुर्वन्ति । “काः पुनरेता धारणाः ?” शमयमादिभिर्नियमाद्विषयादिदर्शनाभिलाषेण प्रकृष्यमाणं मनो धार्यते, तत्रैव स्थाने नियम्यते । ताश्च विषयगतदोषभावना “अस्थिस्थूणा” इत्याद्याः । कान्तिलावण्यतारुण्यसंस्थानसौष्ठ-वादयः स्त्रीषु दृश्यमाना अभिलाषहेतवः । ते च सविकल्पं प्रत्यक्षग्राह्याः । विकल्पाश्च मनोधाराः । अतो विकल्पान्तरैः ‘मूत्रपुरीषपूर्णं नामेति’ तस्मिन्विषयगतदोषभावे, ‘कट-ककर्पटान्वितं स्त्रीद्रव्यं नाम’ ‘अधिकं प्राणिनो यत्प्रयत्नतः परिहर्तव्यमभिलषन्ति’, ‘याऽप्येषा सुखलेशभ्रान्तिः सा क्षणभङ्गिनी, तदासेवनेन घोरा दीर्घकालाश्च यम-यातना’—इत्यादिभिः शक्यन्ते निरोद्धुम् । एतदेव तत्प्रसंख्यानमुच्यते । एवं भोजनादि-ष्वपि भावयितव्यम् । ‘यदेतच्छर्कराघृतपूरहयङ्गवीनपायसादि, यच्च भैक्षं कदम्बादिभिः सममेतच्छरीरधारणफलतया विशेषाभावात् कस्यचित्प्रकृतेर्जिह्वाग्रे क्षणलवमात्रवर्तमानस्य विशेषो यः सविशेषतया प्रतिभासते, गन्धर्वनगरप्रख्योऽयं क्षणिकावभासः’ इति । एवमन्यत्रापि स्पर्शदोषो भावयितव्य इत्येवमुपदिशति । अन्ये त्वाहुः—कौष्ठ्यस्य वायोमुखनासिकासंचारिणः शरीरैकदेशान्तर्हृदयाकाशादभ्यासवशतो धारणं धारणा । “ननु च प्राणायामेभ्य एतासां धारणानां को भेदः ?” ।

बाहुललाटादावपि यथेच्छं व्याहृत्यादिध्यानसहितं ‘धारणा’, ‘प्राणायामा’ रेचनेनाधि-क्रियन्त इति विशेषः ।

अन्ये तु “मैत्री मुदिता करुणा उपेक्षा एता धारणा” (योगसू० १।३३) इति मन्यन्ते । “मैत्री कृपा मुदोपेक्षा सर्वप्राणिष्ववस्थिता । ब्रह्मलोकं नयन्त्याशु ध्यातारं धारणास्त्विमाः” ॥ तत्र ‘मैत्री’ द्वेषाभावः, न तु सुहृत्स्नेहः, तस्य बन्धात्मकत्वात् । ‘कृपा’ करुणा चित्तधर्मः,

दुःखितजनदर्शनेन 'कथमयमस्माद्दुःखाद्दुःखेदिति' समुद्धरणकामता । न त्वर्हिसानुग्रह-
योरनारम्भ इत्युक्तम् । अत एवेदमुच्यते- चित्तधर्मोऽयमभ्यसितव्यः । 'मुदिता' शोकव्या-
वृत्तिर्व्याध्यादिनिमित्ते दुःखे नरकादिभयजे वा, न तु हर्षः, तस्य रागहेतुत्वात् । 'उपेक्षा-
विषये, अनुग्राहकेषु उपघातेषु च प्रसिद्धैव ।

मनसो वान्तर्हृदयाकाशे ब्रह्मचिन्तापरतया निश्चलता 'धारणा' ।

प्रत्याहारेण-संसर्गम् । इन्द्रियाणां विषयैः सह सम्बन्धः तत्र प्रवृत्तिः संसर्गः, तं दहेत्प्रत्या-
हारः । ततोऽपसरणमिन्द्रियाणां प्रतिबन्धकरणं वा । आश्चर्यरूपेण न कटकादौ रूपवस्त्री-
सन्दर्शने वा स्थगयितव्ये चक्षुषी, अन्यत्र वा दृष्टिरुपनेया । एवं सर्वेन्द्रियेषु । एवं च समाधानं
योगिनोऽप्रतिबद्धं भवति ।

ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् । गुणान्सत्वरजस्तमांसि । ते चानीश्वराः परतन्त्राः चेतना-
धीनमूर्तयः । पुरुषस्यानन्तस्य सुखादिरहितस्य योऽभिमानः 'अहं सुख्यहं दुःखी'ति निर्गुणस्य
गुणमन्यताभिमानस्य, गुणपुरुषविवेकध्यानेन दग्धव्यः । 'चिद्रूपः पुरुषो निर्गुणः गुणमयी
प्रकृति'रित्येवं गुणपुरुषविवेकः कर्तव्यः ॥ ७२ ॥

(२) **सर्वज्ञनारायणः** । धारणाभिः साकारो कस्मिंश्चिदभीष्टये चित्तनिवेशनैः
किल्बिषं योगप्रतिबन्धकं पापं । प्रत्याहारेण विषयेभ्यो मनस आकर्षणैः संसर्गान् विषयेण सह
ज्ञानस्य संबन्धान् । ध्यानेन निराकारानुचिन्तनेनानैश्वरान् शुद्धविषयज्ञानस्थैर्यरूपैश्वर्य-
विरोधिनो गुणान् रजस्तमोविकारान् तन्द्रादीन् ॥ ७२ ॥

(३) **कुल्लूकः** । एवं सति अनन्तरोक्तप्रकारेण प्राणायामै रागादिदोषान्दहेत् । अपे-
क्षितदेशे परंब्रह्मादौ यन्मनसो धारणां सा धारणा तथा पापं नाशयेत् । प्रत्याहारेण विष-
येभ्य इन्द्रियाकर्षणैर्विषयसंपर्कान्वारयेत् । ब्रह्मध्यानेनेति सोऽहमस्मीति सजातीयप्रत्यय-
प्रवाहरूपेणानीश्वरान्गुणानीश्वरस्य परमात्मनो ये गुणा न भवन्ति क्रोधलोभासूयादयः,
तान्निवारयेत् ॥ ७२ ॥

(४) **राघवानन्दः** । प्राणायामप्रसंगेन प्रत्याहारादिव्रीण्याह प्राणेति । धारणा षट्क्र-
मध्ये पृथिव्यादिचित्तनं । देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति । किल्बिषं विषयशोऽध्यानाध्यासं
पादपूरणार्थमिति मेधातिथिः । प्रत्याहारेणेति प्रत्याहारो विषयेभ्य इन्द्रियाकर्षणं । तथा
च पतञ्जलिसूत्रम् 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार' इति ।
संसर्गान् विषयसंपर्कान् प्रीतिपरितापान् । ध्यानेनेश्वरस्य अनीश्वरान् ईश्वरानाश्रितान्काम-
क्रोधादीन् ॥ ७२ ॥

(५) **नन्दनः** । अथ योगाङ्गानि प्राणायामप्रसङ्गादाह प्राणायामैरिति । दहेत्यजेत् ।
दोषान् रागादीन् । इन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यात्मनामेकत्वावस्थापनं धारणा । 'कृष्टस्य मनसः पुनः
प्रत्यानयनार्थं प्रयोजनं प्रत्याहार' इति देवलः । इन्द्रियाणां विषयैः संबन्धः संसर्गः । अनैश्वरा-
न्प्राकृतान् । गुणान्सत्वरजस्तमांसि । एवं योग उक्तः ॥ ७२ ॥

(६) **रामचन्द्रः** । प्राणायामैः दोषान् बाह्येन्द्रियजान् दहेत् । धारणाभिः चित्तस्य
अवस्थापकाभिः किल्बिषं योगप्रतिबन्धकं दहेत् । प्रत्याहारेण विषयेभ्यो मनसः प्रकर्षेण संसर्गान्

विषयान् दहेत् । ध्यानेन निराकारानुचिन्तनेन अनीश्वरान् ऐश्वर्यप्रतिबन्धकान् शुद्धि-
विषयज्ञानस्वरूपैश्वर्यनिरोधिनो गुणान् तन्द्रादीन् दहेत् ॥ ७२ ॥

(७) मणिरामः । दोषान् रागादिदोषान् । धारणाभिः परब्रह्मणि मनसो धारणम्
धारणा ताभिः । प्रत्याहारेण विषयेभ्यः इन्द्रियाकर्षणेन । संसर्गान् विषयसंपर्कान् । ध्यानेन
'सोऽहमस्मी'ति सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेण । अनीश्वरान् गुणान् क्रोधलोभ-
मोहादीन् ॥ ७२ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवं च सति प्राणायामैरिति । अनन्तरोक्तनीत्या प्राणायामै रा-
गादीन् दहेत् । देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति योगादिलक्षणादिचित्तस्या व्यापृष्टतावस्थस्य अप्रति-
ष्ठास्य हृदयादिदेशधारणात्मिकाभिः किल्बिषं दहेत् । पापमुद्धर्तुः रक्षेत् । प्रत्याहारेण च
मनसो विषयेभ्यः प्रत्याकर्षणेन संसर्गानिन्द्रियविषयसंपर्कान् विषयोपलब्धिहेतून् दुर्तुरक्षेत् ।
तत्प्रत्येकताध्यानं इति योगशास्त्रोक्तलक्षणेन विजातीयप्रत्ययानुविद्धात्मसाक्षात्काररूपेण
च ध्यानेन धर्मो ज्ञानं निरागमैश्वर्यं सात्त्विकमेतद्रूपं नित्यमस्माद्विपर्यस्तं इत्येतत्सांख्योक्तेन
धर्माज्ञानाद्यैर्वरागानैश्वर्यान् गुणान् दहेत् ॥ ७२ ॥

(९) भारद्वाजः । एवं च सति प्राणायामैर्दहेदोषान् रागादीन् सवि . सान् । सत्कारणं
वा, अकुलकर्मराशि तथाच प्राणायामान् शुद्धिहेतून् वक्ष्यति प्रायश्चित्तप्रकरणे, प्राणायामस्य
दोषाणां च विनाश्यविनाशकसम्बन्धः शास्त्रलक्षणत्वाच्छूद्धानीयः । विधिपक्षमाश्रित्य
यतो नायं प्राणायामः स्तुत्यर्थोऽर्थवादः । स्तुत्यर्थत्वेऽपि च सति न ह्यकस्मात् स्तुतिः
प्राणायामानामुपपद्यत इति स्तुत्या विधिरनुमातव्यः । धारणाः पुन . भिर्धारयत्वात्मानमुपस्पृष्टो
यतिर्योगसमाध्यवस्थायां कामक्रोधलोभमोहस्नेहादिभिः प्रवर्तमानमकुशलेषु, ताभिश्च परमा-
र्थदर्शनप्रसंख्यानभावनाख्याभिः कामादिप्रतिपक्षभूताभिर्धारणादिभिः किल्बिषमनुत्पत्त्या दहेत् ।
एवं च प्राणायामैः सञ्चितविरोधः धारणाभिरनागतानुत्पत्तिरकुशलस्येत्युक्तं भवति । अपरे
त्वाहुः — विशिष्टानि शरीरात्मप्रदेशानि धारणानि मनसः प्रज्ञाप्रयत्नकृतान्यात्मनो यथाबलं
धारणाः । अन्ये '...रणामैन्त्याद्यासंचक्षते' मैत्रीकृपाभुदोपेक्षाः सर्वप्राणिष्ववस्थिताः । ब्रह्मलोकं
नयन्त्याशु ध्यातारं धारणास्त्वह । प्रत्याहारेण मनस इन्द्रिये . . । विषयसम्पर्काख्याञ्छ-
ब्दाद्युपलब्धिहेतून् तेषु ह्येवमुपहतेषु अन्तःकरणप्रत्याहारेण मनसः समाधानयोगः प्रत्यनीकः
प्रतिलब्धसमाधे (र्भो) योगेन . . . स्माच्छब्दाद्युपलब्धिकण्टकानि ध्यानादीन्याहुराचार्याः ।
परमात्मकर्मकेण च प्रणवध्यानेनानीश्वरान् गुणान् योगार्थप्रत्यनीकभूतानैश्वर्यादीन्
प्रतिलब्धज्योतिष . . . रस्य वा य . . . मानस्य योगिनः सर्वोपसर्गस्थानमतिक्रान्तस्य
परमार्थदर्शन-प्रसंख्यानभावनाभिरिति किञ्चान्यत् ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ॥

ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । स कथं कर्तव्यः ? ध्यानेन किं पुनर्ध्ययमत आह अन्तरात्माऽअन्तर्यामी
पुरुषस्तस्य गतिः स्वरूपं यथावद्विज्ञेयम् ।

सुखदुःखाभिमानो न केवलं मनुष्यजन्मनि, किं तर्हि ? उच्चावचेषु नानाविधेषु भूतेषु तिर्यग्प्रेतपिशाचादिष्वहं ममेति प्रत्ययोऽविद्याकृतो निवर्त्यः ।

अथवा “कथमयं विभुरन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वस्पर्श” इदमभ्यस्यतो विजिघत्सोर्विपिपासोरेवंविधेषु सुखे दुःखे शरीरस्य शरीरेष्वसर्वभोगतया सोहं नाम—अहो कर्मणां माहात्म्यम्, यदयं सर्वात्मकः स्वतन्त्रः परतन्त्री-क्रियते कर्मभिः, नैतानि करिष्ये दुष्टस्वामिस्थानीयानि—भूतैक इव कर्माणि प्रतिपालयिष्ये । यथा भूतकः कश्चित्स्वामिनं निबन्धेनाराधयितुं प्रविष्टः सन् यं मन्यते ‘यावद्दूराधर्षं इव नो दण्डशीलस्तर्जनापरः पुरुषभाषी, नैवं भूयः परिचरिष्यामि, यन्मयाऽस्मात्किञ्चिद्भृत्यादि गृहीतं तदेवास्य कर्मकरणेन शोधयामि’ एवं ध्यायन्नासीत् । कृतानां कर्मणां फलोपभोगेनान्तं यास्यामि, अन्यानि च न करिष्यामीत्येवमादि’ ध्येयम् । तथा ‘किमेते क्षेत्रज्ञाः परमात्मनो विभूतय उत स्वतन्त्राः—नैवं परमात्मनोऽन्यः कश्चिदस्तीति’ वेदान्तनिषेवणादिना निश्चित्य ध्याताव्यम् । अन्ये पुनराहुः ध्यानं च योगश्च ‘ध्यानयोगं’ तेन अन्तरात्मनः गतिं संपश्येत् निरूप्योपासीत् गतिं ध्यानेन योगेन च । अथवा ध्यानार्थो योगः । चित्तस्थैर्यं तत्कृत्वा ‘आत्मनो गतिं संपश्येत्’ उपासनाभिरनपायामृतादिगुणविशिष्टं वेदान्ताभिहितरूपं निष्कल्मषम-भिमुखीकुर्वत् । अकृता असंस्कृताः शास्त्रेणाऽऽत्मानो यैस्तैर्न शक्यं ज्ञातुम् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उच्चावचेष्वनेकविधेषु भूतेषु गतिं प्राप्तिं अस्य स्वीयस्यान्तरा-त्मनः ध्यानयोगेन ध्यानाभ्यासेन सम्यक् पश्येत् । अकृतात्मभिरसंस्कृतमनोभिः ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य जीवस्योत्कृष्टापकृष्टेषु देवपशवादिषु जन्मप्राप्तिमकृतात्मभिः शास्त्रैरसंस्कृतांतःकरणैर्दुर्ज्ञेयां ध्यानाभ्यासेन सम्यक्सकारणकं जानीयात् । ततश्चाविद्या-काम्यनिषिद्धकर्मनिमित्तेयं गतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मज्ञाननिष्ठो भवेदिति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । किं चोच्चेति । उच्चावचेषु उत्कृष्टापकृष्टेषु । देवमनुष्यतिर्यक्षु गतिं दुर्ज्ञेयां अप्यकृतात्मभिरजितेन्द्रियैः अन्तरात्मनो जीवस्य ध्यानयोगेन । एक एवायमुपायः परम् अथवा ‘एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित’ इति चित्ताभ्यासेन अहो कर्मफलमाहात्म्यं यदेवं कर्मणानीश्वरोऽपि ईश्वरः क्रियतेऽथवा गतिमैकात्म्यलक्षणां संपादितवतो योनिकोटि-सहस्रेषु सृतीर्विमोचयतीति किमु वक्तव्यमित्यत्र चिन्तनस्य तात्पर्यं । तथा च तन्त्रं तत्सूत्रं तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमिति ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । अथ तत्प्रसङ्गात्सांख्यमाह उच्चावचेष्विति । उच्चावचेषूत्कृष्टापकृष्टेषु भूतेषु शरीरेष्वन्तरात्मनोऽन्तःपुरुषस्य ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं तस्य योगेनाभ्यासेन संपश्येत् सम्यक् पश्येत् ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । उच्चावचेषु ब्रह्मादिकीटपर्यन्तेषु अस्यान्तरात्मनः गतिं व्याप्तिं ध्यानयोगेन संपश्येत् ॥ ७३ ॥

(७) मणिरामः । अंतरात्मनः जीवस्य । उच्चावचेषु भूतेषु उत्कृष्टापकृष्टेषु देवपशवादेषु गतिं जन्मप्राप्तिं । तथा च अविद्याकाम्यनिषिद्धकर्मनिमित्ते यं गतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मनिष्ठो भवेदिति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

(८) गोविन्दराजः । उच्चावचेष्विति । अस्य क्षेत्रज्ञस्योत्कृष्टापकृष्टेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु प्राप्तिमसंस्कृतात्मभिरशास्त्रात्तैरेवाहरेत् यथावद्विजायानीयादनेन हेतुना यं संसारान्प्रतिपद्यते इति ॥ ७३ ॥

(९) भारुचिः । उच्चावचेषु गतिषूत्कृष्टापकृष्टेषु वा भूतानामुत्पत्तिस्थानेषु गतिसम्भवमस्यान्तरात्मनः कर्माधिकारस्वरूपस्य ज्ञानयोगेन ज्ञानं त्रयीशास्त्रज्ञापकेन . . शनन्ति कृत्वा तदध्ययनविज्ञानसम्बन्धेनाभ्यासमुपदेक्ष्यति । अनन्तरलोक एवमतश्चैतदेवमतः, दर्शनेन विहीनस्तु केवलकर्मकृतसंसारमावृत्तिं प्रतिपद्यते पितृलोकोद्वारेण । सैषा ज्ञानकर्मसमुच्चयस्तुतिविज्ञानमात्रस्तुतिर्वा ॥ ७२-७३ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ॥

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरस्य विधेः फलमाह । सम्यग्दर्शनमनन्तरोक्तमात्मनो यथार्थ-ज्ञानं, तेन संपन्नः कृतसाक्षात्कारः । कर्मभिर्न निबध्यते संसारं नानुवर्तते । कृतानां कर्मणां भोगेन क्षयादन्येषामकरणात् । न पुनरनेन केवलात् ज्ञानान्मोक्ष उक्तो भवति । दर्शनेनऽऽध्यात्मिकेन वेदान्तोपदिष्टेन यो विरहितः केवलकर्मकारी स संसारमेति ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्ञानी कर्मभिर्धर्मधर्मरूपैरुत्पन्नैर्न निबध्यते न फलानुभवेन संबद्धः क्रियते । दर्शनेन सम्यगात्मदर्शनेन ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । ततश्च तत्त्वतो ब्रह्मसाक्षात्कारवान्कर्मभिर्न निबध्यते कर्माणि तस्य पुनर्जन्मने न प्रभवन्ति, पूर्वार्जितपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात् । 'तद्यथा इषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त उभौ ब्रह्मैवैष भवती'ति (छां.उ. ५।२४।३) श्रुत्या । तथा 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुं.उ. २।२।८) इति । अविशेषश्रुत्या पुण्यसंबन्धोऽपि बोध्यते । उत्तरकाले च दैवात्पापे कर्मणि कृतेऽपि न पाप-संश्लेषः । तथा च श्रुतिः 'पुष्करपलाश अपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापकर्म न श्लिष्यत' (छां.उ. ४।१०।३) इति । देहारम्भकपापपुण्यसंबन्धः परं नश्यति । अयमेव चार्थो ब्रह्ममीमांसाया तदधिगम उत्तरपूर्वाद्ययोरश्लेषविनाशौ 'तद्व्यपदेशादि'ति ब्र.सू. ४।१।१३) सूत्रेण बादरायणेन निरणायि । ब्रह्मसाक्षात्कारशून्यस्तु जन्ममरणप्रबन्धं लभते ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतस्तदेव दर्शनं स्तौति सम्यगिति । दर्शनेन ज्ञानेन संपन्नस्यैव सर्वपापविरहात् । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' । 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तते' (मुं.उ. २।२।८) इत्यादिश्रुतेः । तदसंपत्तौ दोषमाह दर्शनेनेति ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । सम्यक् पश्यतः फलमाह सम्यगिति । कर्मभिर्न निबध्यते संसारमुक्तो भवति । दर्शनेन सम्यग्दर्शनेन ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्यक् ईश्वरस्य दर्शनेन संपन्नः संयुक्तः कर्मभिर्न निबध्यते ॥ ७४ ॥

(७) मणिरामः । सम्यग्दर्शनसंपन्नः ब्रह्मणः साक्षात्कारवान् कर्मभिर्न निबध्यते कर्मणि तस्य पुनर्जन्मानि न भवन्ति । पूर्वार्जितपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात् । तथा च श्रुतिः 'तद्यथा इषीकातूलमग्नौ प्रोतं दहेदेवं सर्वे पाप्मानः प्रह्लियन्ते' इति ॥ संसारं जन्ममरण-प्रबंधं ॥ ७४ ॥

(८) गोविन्दराजः । यस्मात् सम्यगिति । आत्मविषयसम्यग्ज्ञानोपेतः कर्मभिस्तैल-पक्वबीजवदात्मज्ञाने सति कार्यजननासमर्थेन निबध्यते संसारे नोपपद्यते आत्मज्ञानशून्यः पुनः संसारमावर्तते ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ॥

तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । इदं तु ज्ञानकर्मणोः समुच्चयान्मोक्ष इति श्लोकद्वयं ज्ञापकम् । पूर्वेण ज्ञानमुक्तम्, अनेन कर्मण्युच्यन्ते ।

“कानि पुनर्वैदिकानि कर्माणि येषां फलं तत्पदं प्राप्नोतीत्युच्यते ? यानि तावत्काम्यानि तेषां स्वविधिवाक्ये श्रुतमेव स्वर्गादि फलम् । तद्व्यतिरेकेण फलान्तरकल्पनायामतिप्रसङ्गः । संकीर्णफलताश्रयणं वाञ्छार्थकं स्यात् । तावता च वाक्यार्थस्य समाप्तेर्विध्यनपेक्षिततत्पद-प्राप्तिलक्षणफलेन कथं सम्बन्धः ? श्रुतेनैवान्वयिना विध्यर्थसम्पन्नेऽप्युक्तं विधिनपेक्षते ।” अत्रोच्यते—अस्त्येवात्र वाक्यान्तरं ‘यज्ञेन तदाप्नोतीति’ रहस्याधिकारे । ततश्च संयोगपृथक्त्वा-त्फलद्वयं युक्तम् । अतश्च सर्वेषामेव काम्यानामविच्छिन्नफलयोगिता परमपदप्राप्त्यर्थता च न विरोत्स्यते । तत्र च यागद्वयेन प्रयोगभेदेन स्वर्गापवर्गौ भवतः । न चात्र यज्ञविशेषः श्रुतो येन नित्यानामेतत्फलं स्यान्न काम्यानाम् । अथोच्येत—“नित्येष्वश्रुतत्वात्फलावच्छेदस्या-विरोधात्तद्विषयता युक्ता, न काम्येषु । तावतैव ‘यज्ञेने’त्यस्य सर्वविषयत्वलाभादिति चेत्”—किमत्र फलश्रवणेन ? कर्तव्यतानिष्ठानि च वैदिकानि वाक्यानि । सा च कर्तव्यताऽन्तरेण वैदिकं फलपदं यावज्जीवादिपदैरवगमिति । तत्रापि फलसम्बन्धो नापेक्षित एव । कल्प्य-मानोऽधिकत्वान्नैकाग्र्यं यायात् । अतो ‘यज्ञेने’ति वाक्यमप्रतिष्ठमानं विविक्ते विषये सर्वं यज्ञशब्दवाच्यं नित्यं काम्यं च गोचरयति । न चैतत्फलं काम्यानाम्, अपवर्गकाम इत्यश्रुत-त्वात् । एतदभिप्रायमेवोक्तं “कामात्मता न प्रशस्तेति” (२।२) । महाभारतेऽपि (भग. गीता २।४७) “मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि” इति । अतश्च भेदग्राहपरिवेष्टितान्तः-करणस्य तृष्णाविद्यावतोऽनिर्मुक्ताहंकारममकारस्याभिसंहितपरिमितफलप्राप्तिः । इतरस्य त्वनभिसंधाय फलविशेषचोदितत्वात्कर्तव्यमिति बुद्ध्या वर्तमानस्यापरिमितनिरतिशयानन्द-रूपब्रह्मावाप्तिः ।

न चैतच्चोदनीयम्—“एकसप्तशतं क्रतवो यावन्तो वा तेषां सर्वेषामनुष्ठानस्याशक्यत्वादनाभ्योपदेशता स्यादिति” ।

यतो दर्शनसम्पत्त्यैवात्रानुष्ठानसम्पत्तिः । अत एवोक्तं “सम्यग्दर्शनसंपन्न” इति (श्लो० ७४) । सर्वे च क्रतवो दर्शनसम्पादनीयाः । तथा चोक्तं “ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्ते” इति । अथवा यांल्लोकानेतीत्यवच्छेदनिर्देशः, ‘स्वर्गकामः पुत्रकाम’ इति ।

अतीतानादिभेदग्रहवासितान्तरात्मानोदृष्टफललोभेनासत्येनैव प्रधाने पुरुषार्थे प्रवर्तन्ते । यथा बालः पुष्ट्यर्थे औषधे ‘शिखा ते वर्धिष्यत’ इत्यसत्ययैव शिखावृद्ध्या प्रवर्त्यत इति केचित् । अपरं मतम्—नित्यान्यत्र कर्माभ्यभिप्रेतानि । तान्यक्रियमाणानि प्रत्यवायहेतुतया प्रतिबन्धकानि । अतस्तैरनुष्ठीयमानैरसति प्रतिबन्धे उक्तं वैदिकैश्चैव कर्मभिरिति, यद्यपि तानि न मोक्षार्थतया चोदितानि । उग्रैरत्यन्तं शरीरतापहेतुभिः । तस्य ब्रह्मणः । पदं स्थानं ब्रह्मलोकम् । साधयन्ति स्वीकुर्वन्ति । अथवा तदीयपदं यादृशस्तस्याधिकारः सर्वेश्वरत्वं, स्वातन्त्र्यं, तद्रूपप्राप्तिरिति यावत् ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रियासंगैरिन्द्रियार्थेषु रागाद्या व्या वैदिकैः कर्मभिरित्यनैमित्तिकैः । तपसश्चान्द्रायणादेश्चरणैः प्रतिबन्धकपापक्षयार्थं कृतैः । तत्पदं ब्रह्म साधयन्ति जानन्ति ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लुकः । निषिद्धहिंसावर्जनेनेन्द्रियाणां च विषयसंगपरिहारेण वैदिकैर्नित्यैः कर्मभिः काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वात् । उक्तं च ‘कामात्मता न प्रशस्ते’ति । तपसश्च यथासंभवमुपवासकृच्छ्रचान्द्रायणादेरनुष्ठानैरिहलोके तत्पदं ब्रह्मात्यन्तिकलयलक्षणं प्राप्नुवन्ति पूर्वश्लोकेन ब्रह्मदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तम्, अनेन तत्सहकारितया कर्मणोऽभिहितम् ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । सम्यग्दर्शनस्य सर्वसाध्यत्वं स्वीकुर्वन्प्राप्त्युपायमाह अहिंसयेति । तत्पदं तत्त्वज्ञानं ब्रह्मणः साध्यत्वात् ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं सांख्ययोगावेव संन्यासिनः परमगतिप्राप्त्युपायः किं तु पूर्वश्रिमकृतानि कर्माण्यपीत्याह अहिंसयेति । अहिंसयेन्द्रियासङ्गैरिति ब्रह्मचर्यधर्मो लक्ष्यते । वैदिकैश्चैव कर्मभिरिति गृहस्थधर्मः । तपसश्चरणैश्चेति वानप्रस्थधर्मः । इन्द्रियाणां विषयेऽसङ्ग इन्द्रियासङ्गः । वैदिकं कर्माग्निहोत्रहोमस्नातकव्रतादिकम् ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहिंसया इन्द्रियाणामसंगैः वैदिकैः कर्मभिः । अष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः उग्रैस्तपश्चरणैः तत्पदं ब्रह्म साधयन्तीह जानन्तीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

(७) मणिरामः । तत्पदं ब्रह्मात्यन्तिकलयलक्षणं ॥ ७५ ॥

(८) गोविन्दराजः । अहिंसयेति । अशास्त्रतहिंसावर्तनेनेन्द्रियाणां च विषयासक्तिपरिहारेण वैदिकैश्च नित्यैः कर्मभिः तीर्थैश्च कृच्छ्रचान्द्रायणानुष्ठानैरिह संसारे च ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं पदं साधयन्तीह श्लोकद्वयेन ज्ञानकर्मसमुच्चयफलमाह ॥ ७५ ॥

(९) भारुचिः । तथा च दर्शयति अहिंसयेति । सामान्यमपीदं प्रव्रजितस्य विशेषसाधनं तद्धर्माणामपि शेषाणां निदर्शनार्थम् । एवमिन्द्रियासङ्गः ब्रह्मचारिणः वैदिकैश्चाग्निहोत्रादिकर्मभिः गृहस्थस्य, तपश्चरणैरिति तापसस्य । तदेवं सर्वाश्रमेष्वयं ज्ञानकर्मसमुच्चयो ब्रह्मत्वप्राप्तिहेतुर्विज्ञेयः । समुच्चयविकल्पपक्षयोराश्रमाणां न तु बाधापक्षे प्रकरणाद्वाज्यं प्रव्रजितस्य विज्ञानकर्मसमुच्चयः । एवं च सति वैदिकैश्चैव कर्मभिरित्यत्र वेदान्तनचोदिता परमात्मोपासना गृह्यते, नाग्निहोत्रादीनि कर्माणि । तपश्चरणैरित्यत्रापि तद्धर्मा एवानूच्यन्ते । तथा चोपनिषत्स्वेवाह (सुवाल. १।१४) 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्ति तिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यतीति न वानप्रस्थधर्माः । एवं च सत्ययमनेन सम्यग्विज्ञानसमानभावनाक्रमेण प्रसन्नतत्त्वज्ञानो वैराग्यप्रकर्षात् प्रसंख्यायेमं कायमेव ॥ ७५ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ॥

चर्माविनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । वैराग्यजननमेतत् । तिष्ठन्तु तावत् कृमिकीटपतङ्गादिशरीराणि जलौकोभूमिस्वेदजादीनाम् । यदिदं मानुषशरीरं स्पृहणीयत्वेनाभिप्रेतम्, यत्पाताशङ्कितो नित्यभीता मनुष्याः तन्मूत्रपुरीषकुटीगृहकमिव । तदिदानीं कुटीगृहकेन निरूपयति । अस्थीनि स्थूणा इव । तैरवष्टब्धम् । स्नायुना बद्धम् । मांसशोणितभ्यां उपरि दिग्धलेपनम् । उपरि देहचर्मणा अवनद्धम् । अथवा तत उपरि आच्छादितम् । पूर्णं मूत्रपुरीषयोः । ओदनस्य पूर्णं इतिवत् षष्ठी ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । स्नायुभिर्युतं मिश्रितं बद्धमिति यावत्, चर्मणाऽवनद्धं बहिष्छादितं । भूतमयमावासं भूतावासमिति श्लेषेण भूताख्यप्रेतानां वासतुल्यतां दर्शयन्नस्थिस्थूणत्वादिकमपि युक्तमिति कथयति । अत एव दुर्गन्धीत्यादिविशेषणं, पूर्णं मूत्रपुरीषयोः मूत्रेण पुरीषेण चान्तर्व्याप्तमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं मोक्षान्तरङ्गोपायसंसारवैराग्याय देहस्वरूपमाह श्लोकद्वयेन अस्थीत्यादि, जरत्यादि च । अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तमस्थिस्थूणं स्नायुरज्जुभिरावनद्धं मांसरुधिराद्युपलिप्तं चर्माच्छादितं मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमत एव दुर्गन्धि ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । तदर्थं पुनर्वैराग्योपायमाह अस्थीति । नाविरक्तस्य ज्ञानेऽधिकारो यतः निर्वेदमायादिति । अतः अस्थीनि स्थूलसूक्ष्माणि स्थूणास्तम्भो यस्य भूतावासमिमं त्यजेदिति द्वितीयेनान्वयः । स्नायुयुतं स्नायवः शिराः ताभिरेव बद्धमन्तरे बहिश्चर्माविनद्धं पूर्णं मूत्रपुरीषयोस्ताभ्यां पूर्णमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । सांख्ययोगयोरुभयोः साधारणधर्मान्पञ्चभिः श्लोकैराह अस्थीति । अस्थिस्थूणमिति श्लोकद्वयमेकान्वयम् ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरीरस्य स्वरूपमाह युग्मेन अस्थीति । मूत्रपुरीषयोः पूर्णं, संबन्धे षष्ठी ॥ ७६ ॥

(७) मणिरामः । शरीरनिंदापूर्वकं शरीरत्यागमाह अस्थीति द्वाभ्यां । अस्थिस्थूणं अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तं । स्नायुयुतं स्नायुरज्जुभिः आवद्धं । चर्मविनद्धं चर्मच्छादितं ॥ ७६ ॥

(८) गोविन्दराजः । इदानीं अपवर्गसाधनभूतवैराग्योद्भवविषयकायस्वरूपमाह अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धमिति । जराशोकसमाविष्टमिति । पृथिव्यादिभूतविकारमांसादिमयं शरीरमिदं गृहकं त्यजेत् । रूपकभङ्ग्या चास्य गृहत्वं दर्शयति । अस्थीनि स्थूणा इव यस्य तदवष्टब्धत्वात् स्नायुभिर्बद्धं मांसरुधिराभ्यां उपलिप्तं चर्मच्छादितं मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णं अत एव दुर्गन्धिजरोपेताभ्यां आक्रान्तं व्याधीनां आश्रयभूतं आतुरं क्षुत्पिपासादिकातरं बाहुल्येन राजसं नश्वरं इति ॥ ७६-७७ ॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ॥

रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । जरा च चरमे वयसि शरीरापचयहेतुरवस्थाविशेषः । आतुरं नित्यगृहीतं रोगैः । रजस्वलं स्पृह्यालु सर्वपदार्थेषु, तदसंपत्त्यां च महद्दुःखं सर्वस्मिन्तोडे अप्रतीकारमनिवर्त्यम् । अत एतदवेक्ष्य त्यजेदिदं शरीरम् । भूतानां भूविकाराणां मेदो-मज्जाश्लेष्ममूत्रशुक्रशोणितानामयं वासस्ते ह्यत्र वसन्ति नात्मनोऽयं वासः सर्वगतत्वात्तस्य । अतस्तृष्णा शरीरे न कर्तव्या ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आतुरं दुःखवत् रजस्वलं रजोगुणेन दूषितम् ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । जरोपेतापाभ्यामाक्रान्तं विविधव्याधीनामाश्रयमातुरं क्षुत्पिपासा-शीतोष्णादिकातरं प्रायेण रजोगुणयुक्तं विनश्वरस्वभावं च आवासो गृहं पृथिव्यादिभूतानि तेषामावासं देहेमेव जीवस्य गृहत्वेन निरूपितं त्यजेत् । यथा पुनर्देहसंबन्धो न भवेत्तथा कुर्यात् गृहसाम्यमेवोक्तमस्थीत्यादिना ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । आतुरं क्षुत्पिपासाशीतादियुक्तं । रजस्वलं प्रायेण रजोगुण-युक्तं पापजनकत्वात् त्यजेत् । अनात्मतया जानीयात् आयुषः क्षये स्वत एव नष्टत्वात् 'जीवापेतं वाक् किलेदं म्रियते न जीव' (छां. उ. ६।१।३) इति श्रुतेः । इमं देहं जीवतस्त्यक्तुमशक्यत्वात् ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । रजस्वलं रजोगुणबहुलं भूतावासं शरीरगृहं त्यजेत् अस्मिन्नहन्तां न कुर्यात् यथा गृहे तिष्ठन्गृही गृहमन्यो न भवत्येवं देहे तिष्ठन्देहमन्यो न स्यादित्यभिप्रायः ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । रजस्वलं मलिनं भूतावासं पञ्चमहाभूतानामावासस्थानं एता-दृशं शरीरं ज्ञानेन त्यजेत् ॥ ७७ ॥

(७) मणिरामः । आतुरं क्षुत्पिपासादिकातरं । रजस्वलं प्रायेण रजोगुणयुक्तं भूतावासं भूतानां पृथिव्यादीनां आवासं गृहं ॥ ७७ ॥

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ॥

तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥७८॥

(१) सेधातिथिः । यस्तावदयं कुटीरूपको देहस्तस्य दृष्टान्ते नदीकूलं वृक्ष इति । न स्वेच्छयाऽग्निप्रवेशादिना त्यक्तव्यः, किन्तु तृष्णा तत्र न कर्तव्या । अनुद्दिष्टपूर्वं आपातस्तदा भविष्यति कर्मक्षयात् वृक्षस्येव कूलस्थस्य । यदुक्तं (श्लो० ४५) “नाभिनन्देत मरणम्” इति ॥

यस्तु लब्धज्योतिर्वशीकृतप्राणसंचारो मोहविकारनिगृहीतमनास्तेन पूर्वमुत्क्रमणं कर्तव्यम् । यथा शकुनिर्वृक्षं त्यजति ।

ग्राह इव ग्राहः, दुःखहेतुत्वसाम्यात् । तदाह कृच्छ्रात् प्राप्तविवेकस्यापि यावच्छरीरं वस्तुसामर्थ्याद्भवत्येव कृच्छ्रम् । पूर्वविप्रतिपत्तावेतदुच्यते ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नदीकूलमिति । उत्पन्ने ज्ञानेऽपि यदि देहारम्भककर्माणि भोग्यानि भवन्ति तदा कर्मक्षयक्रमेण कालान्तरे देहत्यागस्तमपेक्ष्य ‘नदीकूलं यथा वृक्ष’ इत्युक्तं नद्यभिघाताद्वृक्षस्य क्रमादेव पातात् । यदा तु न तादृशं कर्मावशिष्टमस्ति तदा सद्यो देहत्यागो भोग्यकर्माभावात् तमपेक्ष्य वृक्षं वा शकुनिरित्युक्तं तत्क्षणादेव तस्य वृक्षविभागात् । कृच्छ्रात् ग्राहात् दुःखात् ग्राहात् ग्राहसदृशात् भयहेतोः ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमये मोक्षः, आरब्धदेहस्य कर्मणो भोगेनैव नाशात् । तत्र देहत्यक्तुर्द्वैविध्यमाह । यः कर्माधीनं देहपातमपेक्षते स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति स्वपातमजानन्नेव नदीरेयेण पात्यते तथा देहं त्यजन् यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षाद्भीष्मादिवत्स्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी वृक्षं स्वेच्छया त्यजति तथा देहमिमं त्यजन् संसारकण्टाद्ग्राहादिव जलचरप्राणिभेदाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । अवश्यं मुक्तिं यास्यतीत्यत्र दृष्टान्तमाह नदीति । नदीवेगेन प्रशिथिलमूलो यथा वृक्षः कृच्छ्ररूपाद्ग्राहात्संसारात् नदीनिविष्टस्य नाजीर्यद्विभक्तिं इत्यनुभवः ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमैवार्थमुदाहरणार्थं दृष्टान्ताभ्यां प्रपञ्चयति नदीति । नदीकूलस्थो यथा वृक्षो नदीकूलमात्मानं न मन्यते, यथा वृक्षस्थः शकुनिर्वृक्षमात्मानं न मन्यते एवं देहस्थो देही देहमात्मानं न मन्यत इत्यभिप्रायः । कृच्छ्राद्ग्राहात्संसारात् ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा इमं पुरोवर्तिनं देहं त्यजन् दुःखग्राहात् ग्राहसदृशकृच्छ्राद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

(७) मणिरामः । ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमय एव मोक्षः । तत्र देहत्यागिनो द्वैविध्यमाह नदीकूलमिति । यः कर्माधीनः देहपातान्मुक्तो भवति स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति स्वपातमजानन्नेव नदीवेगेन पात्यते, तथा देहं त्यजन् । यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षात्

भीष्मादिवत् स्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी स्वेच्छया वृक्षं त्यजति तथा देहमिमं त्यजन् संसार-
कृच्छ्रात् ग्राहादिव जलचरप्राणिभेदात् विमुच्यते ॥ ७८ ॥

(८) गोविन्दराजः । त्यक्तुर्वैष्ण्यात् दृष्टान्तद्वयं दर्शयितुमाह नदीकूलमिति । यस्ता-
वदात्मज्ञानाभ्यासनिष्ठो न चात्मतत्त्वतः कर्मक्षयात्परतन्त्रं शरीरपातं नदीकूलवृक्षवदपेक्षेत यः
पुनरधिगतविविक्तात्मज्योतिः स बुद्धिपूर्वकमपि शकुनिभिरिव वृक्षमुत्क्रान्तिसमवलंबनेन देहं
त्यजेत् । एवमिदं शरीरं त्यजन् दुःखमूलाज्जलचरप्राणिभेदादिव संसाराद्विमुच्यते । आत्मज्ञाना-
भ्यासनिष्ठस्य सत्यप्यन्तरा कथंचित् शरीरपाते शरीरान्तरेणावशिष्टात्मज्ञानपरिपूरणे सति
अपवर्गोऽवश्यं भवतीति योगविदां दर्शनमतस्तं प्रत्यपि तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते
इत्येतत् घटते ॥ ७८ ॥

(९) भारुचिः । तस्य च त्यागस्योपायभेदाद्द्वित्वं दृष्टान्तद्वयेन प्रदर्शयति त्याग यथा
वृक्षस्याबुद्धिपूर्वः पातः । यः पुनरभ्याससामर्थ्या.....प्राणमनोनिग्रहस्तस्य निस्तीर्णोपधस्य
वस्यप्रकृतेर्धर्मं (मं) विशेषापकृतात्मनो महद्योगधर्मीकस्य बुद्धिपूर्वो देहत्यागः शकुनिवद्विज्ञेयः
सांख्ययोग राशयो देहपातद्वयोपदेशो दृष्टान्तद्वयेन प्रदर्श्यते ॥ ७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ॥

विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रीतिपरितापकृतश्चित्तसंक्षोभो हर्षशोकादिलक्षणोऽनेनोपायेन
परिहर्तव्यः । 'यत्किञ्चित्प्रियं करोति तन्मम सुकृतस्य विशिष्यते तस्येदं फलं, नैव कर्ता मम
स्नेहबुद्ध्या प्रियं, न चायं मे शास्त्रं शक्नोति कर्तुं दुष्कृतं पीडाकर'मित्येवं विमृश्य ध्यानयोगेन
चित्ते भावयेत् । अतोऽस्य न प्रियकारिणि रागो नाप्रियकारिणि द्वेषो जायते । एवं कुर्वाणः
सनातनं शाश्वतं ब्रह्माभ्येति अभिमुखं प्राप्नोति । अचिरादिपथेन न व्यवधीयते । शाश्वत-
ग्रहणादनावृत्तिः प्रतीयते ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रियेषु स्वेष्विति । एतेन ब्रह्मविद एतादृशी शक्तिर्यतः
कर्माण्यपीच्छन् संचारयत्यतस्तस्यापि विप्रियं न कार्यमित्यत्र तात्पर्यम् । ध्यानयोगेन ध्याना-
भ्यासेन ब्रह्माभ्येति ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मविदात्मीयेषु प्रियेषु हितकारिषु सुकृतमप्रियेष्वहितकारिषु
दुष्कृतं निक्षिप्य ध्यानयोगेन नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मणि लीयते । तथा च श्रुतिः 'तस्य पुत्रा दाय-
मुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मिति । अपरा श्रुतिः 'तत् सुकृतदुष्कृते
विद्युनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृत'मिति । एवमादीन्येव वाक्यान्त्यु-
दाहृत्य सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमात्रश्रवणेऽप्युपायनं प्रतिपत्तव्यमिति ब्रह्ममीमांसायाम् 'हानौ तूपा-
यनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुत्युपगायनवत्तदुक्तम्' (ब्रह्म. सू. ३. ३. २६) इत्यादिसूत्रै-
र्वादिपथेन निरणायि । ननु परकीयसुकृतदुष्कृतयोः कथं परत्र संक्रान्तिः ? उच्यते ।
धर्माधर्मव्यवस्थायां शास्त्रमेव प्रमाणम्, संक्रामोऽपि तयोः शास्त्रप्रमाणक एव । अतः
शास्त्रात्संक्रमणयोग्यावेतौ सिध्यतः । अतः शास्त्रेण बाधान्न प्रतिपक्षानुमानोदयः शुचिनर-

शिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खादिवदितवत् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु स्वेषु प्रियेषु केनचित्कृतेषु ध्यानाभ्यासेनात्मीयमेव सुकृतम् तत्र कारणत्वेनारोप्य एवमप्रियेष्वपि केनचित्कृतेष्वात्मीयमेव प्राग्जन्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्योद्धृत्य तत्संपादयितारौ पुरुषौ रागद्वेषाख्यौ त्यक्त्वा नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मस्वभावमुपगच्छतीति व्याचक्षाते । तत्र विसृज्येति क्रियायां सुकृतं दुष्कृतमिति कर्मद्वयत्यागेन तत्संपादयितारावित्यश्रुतकर्मध्याहारात् कर्मद्वये च श्रुतक्रियात्यागेन कारणत्वेन प्रकल्प्येत्याद्यश्रुतक्रियाध्याहारात् । 'किं च व्यास-
व्याख्यातवेदार्थमेवमस्या मनुस्मृतेः । मन्ये न कल्पितं गर्वादिवाचीनं विचक्षणैः' ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । 'सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मित्यादिश्रुतिमाविद्वत्सत्कार-
निन्दाविधानार्थं स्तुतिमाह प्रियेष्विति । प्रियेषु स्वेषु ज्ञातिषु अप्रियेषु च । अप्रियेषु ध्यानेन निदिध्यासनेन युज्यते जन्यते इति ध्यानयोगो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तेन ततस्ततं पश्यन्ध्यायमान इति श्रुतेर्ध्यानि साध्या ब्रह्मधीरिति कृतसाक्षात्कारस्य ज्ञानेन पुण्यापुण्ययोर्दाहादन्यागामित्वस्य न्यायविरोधाद्धानौ तूपायनमित्यादिन्याये निर्णीतत्वाच्च स्तुतिमात्रम् ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । पुरातनयोश्च पुण्यपापयोस्त्यागोपायमाह प्रियेष्विति । प्रियेषु मित्त्रेषु । ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येतीत्यन्वयः ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वेषु प्रियेषु पुत्रेषु बन्धुषु वा सुकृतं सुखं अप्रियेषु शत्रुषु दुष्कृतं ध्यानयोगेन विसृज्य सनातनं ब्रह्माभ्येति प्राप्नोति ॥ ७९ ॥

(७) मणिरामः । प्रियाऽप्रियेषु पुण्यपापौ विसृज्य ध्यानयोगेन सनातनं नित्यं ब्रह्म अभ्येति ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मिति । अत्र परकीयसुकृतदुष्कृतयोः परस्मिन्संक्रमे शास्त्र एव प्रमाणं न युक्तिरित्यवगतव्यं ॥ ७९ ॥

(८) गोविन्दराजः । प्रियेष्विति । स्वधर्माविरोधिप्रियेषु केनचित्कृतेषु न प्राग्जन्मार्जितसुकृतमन्तरेण कस्यचित् घटते । तेनायं पुरुषो मम प्रियकर्ता अपि त्वात्मकृतसुकृतमित्येवं ध्यानापयासेनात्मीयमेव सुकृतं कर्तृत्वेनारोप्य एवमप्रियेष्वपि केनचित्कृतेष्वात्मीयमेव प्राग्जन्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्य तत्संपादयितारं पुरुषं प्रति रागद्वेषाभावान्नित्यं ब्रह्माभ्येति तद्भावमुपगच्छति ॥ ७९ ॥

(९) भारुचिः । इदानीं क्षमासाधनस्तुत्यर्थं माध्यस्थ्यप्रदर्शनार्थं वा प्रसंख्यानमिदमत्रोच्यते । प्रियेषु स्वेषु धर्मविरुद्धेष्वात्मीयेषु स्वादुभैक्षलाभादिषु च निपतत्सु कारणत्वेना-
त्मीयमेव सुकृतं विसृज्य ध्यानयोगेन परमार्थदर्शनेन विनियुज्य तं कारणतया स्वधर्मं व्युदस्य च तत्सम्पादयिता (? तारं) रतपुरुषमेवं अप्रियेषु दुष्कृतं विसृज्य ध्यानयोगेन परं ब्रह्माभ्येति, क्षमयानया विगतरागद्वेषतया च मध्यस्थो भूत्वा (एवञ्च) परमार्थविदयम्" ॥ ७९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ॥

तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । चित्तधर्मोपदेशोऽयम् । न स्पृहा कार्याभिप्रेतवस्तुपादानपरिहारेण निःस्पृहत्वम्, अपि तु तत्कारणत्यागेन । भावश्चित्तधर्मो वाऽऽत्मनो वाऽभिलाषलक्षणः । सर्वभावेषु । पदार्थवचनो द्वितीयो 'भाव'शब्दः । सर्वग्रहणेनावश्यकर्तव्येष्वपि पान-भोजनादिषु शरीरस्थितिहेतुष्वभिष्वङ्गो निषिध्यते, न पुनरिच्छा । सा ह्यस्य भाविनी वस्तुसामर्थ्यजा बुभुक्षा पिपासा च । भिन्ना चेच्छा स्पृहातः । रागानुबन्धिनी दैन्यनिमित्ता स्पृहा । इच्छा तु भोजनादौ भुक्तपीताहारपरिणामसमनन्तरं स्वयमुपजायते ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा भावेन मनसा सर्वभावेषु सर्वपदार्थेषु निःस्पृहो भवति । इह च जीवन्मुक्तिकाले ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । यदा परमार्थतो विषयदोषभावनया सर्वविषयेषु निरभिलाषो भवति तदेहलोके संतोषजन्यसुखं परलोके च मोक्षसुखमविनाशि प्राप्नोति ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । सुखाप्राप्तिप्रकारमाह यदा भावेनेति । संसारदोषभावनया परमात्मभावनया वा भावेषु विषयादिषु । तदुक्तम् (भ. गीता २।५९) 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तत' इति ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्वसङ्गत्यागमाह यदेति । भावेनान्तःकरणेन । सर्वभावेषु सर्व-विषयेषु । इह सुखं विषयार्जनप्रयत्नदुःखाभावः । शाश्वतं सुखं परं पदम् ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वभावेषु विषयेषु उपरोधेषु भावेन मनसा यदा निःस्पृहो भवति ॥ ८० ॥

(७) मणिरामः । भावेन परमार्थतो विषये दोषभावेन । सर्वभावेषु सर्व-विषयेषु ॥ ८० ॥

(८) गोविन्दराजः । यदेति । यदा पारमार्थिकेन चेतोधर्मेण सर्ववस्तुषु विगताभिलाषो भवति तदा देहपापादूर्ध्वं इहलोके शतमखप्रमीतश्चापवर्गसुखं नित्यं प्राप्नोति ॥ ८० ॥

(९) आरुचिः । इह (शं) सुखं प्रेत्य च ब्रह्मलोकप्राप्तिसुखं शाश्वतमितीयं स्तुतिः भूतार्थानुवादो वा ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । संगस्त्यक्त्वा सर्वान् गवाश्वहस्तिहिरण्यदासभार्याक्षेत्रायतना-दिषु ममेदमिति बुद्धिः संगः । तत्त्यागादेकारामतायाः परिग्रहणेन च । एनं प्रथममुपाश्रित्यैवं प्राधान्येन, ततोऽनेन विधिना पूर्वोक्तेन क्रियाकलापेन बाह्याध्यात्मिकेनानुष्ठितेन । ब्रह्मणि चिद्रूपेऽवतिष्ठते । न कर्माणि वध्नन्ति । सर्वद्वन्द्वैः शुभाशुभकर्मार्यैः सुखदुःखैर्विनिर्मुक्तो भवति ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संगान् विषयरागान् । द्वन्द्वमशनापिपासे शोकमोहौ जरामृत्यु च द्वे द्विसमुदायत्वात् ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रकलत्रादिषु ममत्वरूपान्क्रमेण सङ्गान्सर्वास्त्यक्त्वा द्वन्द्वैर्मानाप-
मानादिभिर्निर्मुक्तोऽनेन यथोक्तेन ज्ञानकर्मानुष्ठानेन ब्रह्मण्येवात्यन्तिकं लयमाप्नोति ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मण्यवसानप्रकारमाह अनेनेति । शनैःशनैरित्ययमभिप्रायः—
आदौ क्रमप्राप्तस्त्रिदण्डी स्यात्तत एकदण्डी ततोऽदण्डीति अत एवाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मणा-
वस्थानम् । तथा च श्रुतिः ‘दण्डान् लोकाग्नीन् विसृजेदिति’ (आरुणि. २) त्र्युपक्रम्य ‘वैणवं
दण्डकौपीनं परिग्रहेन्न तथा न दण्डं न शिखां न कमण्डलुं यज्ञोपवीतं चरति परमहंसः
तथात्मन्येवावतिष्ठत’ (आरुणि. ३) इति ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । अनेन विधिनोक्तेन चातुराश्रम्यकर्मणा शनैःशनैर्गुरुसेवया स्नातक-
व्रतैस्तपश्चर्यया चेत्यर्थः । चतुर्थाश्रमे सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वान्संगान् शनैःशनैः त्यक्त्वा सर्वद्वन्द्वं क्षुत्पिपासे शोकमोहौ एता-
दृशैर्विनिर्मुक्तः । ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ब्रह्मस्वरूपं प्राप्नोति ॥ ८१ ॥

(७) मणिरामः । संगान् पुत्रकलत्रादिषु ममत्वरूपान् । शनैः क्रमेण । द्वंद्वैः माना-
स्पमानादिभिः । अवतिष्ठते लीनो भवति ॥ ८१ ॥

(८) गोविन्दराजः । अनेनेति । अनेन विधिना संसारस्वरूपनिरूपणात्मकेन शनैः
शनैः सर्वान्विषयसंपर्कास्त्यक्त्वा ततः सर्वद्वंद्वैः क्षुत्सौहित्यादिभिर्विनिर्मुक्तः सिद्धरूपे ब्रह्मण्य-
वतिष्ठते ॥ ८१ ॥

(९) भारुचिः । सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते उभावपि चेमौ श्लोकौ
“प्रियेषु स्वेषु सुकृतमि”त्येतस्य श्लोकस्य शेषयोर्वचनीयौ ॥ ८१ ॥

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ॥

न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । ध्याने सति भवति ध्यानिकम् । ध्याने क्रियमाणे लभ्यते ।
किं तत् ? यदेतदनन्तरमभिशब्दितमुक्तमाभिमुख्येन, न तात्पर्येण प्रतिपादितम् ।
सुकृतदुष्कृतयोः स्वयोः प्रियाप्रियहेतुत्वव्यासः । पुरुषस्य यदप्रियकर्तृत्वं तज्ज्वरस्येव
पीडाहेतुत्वमग्नेरिव पुरुषसर्पणदग्धृत्वम् । यथा नाग्निदग्धोऽग्निं द्वेष्टि एवं पुरुषमप्यप्रिय-
कारिणं मन्येत, न प्रतिषेद्धा स्यात् । एतच्च ध्याने सति एकाग्रे चित्ते भवति । सर्वकालमेत-
द्धृदयेनाभ्यसितव्यम् । ‘यथा सुखदुःखे इमे कर्मणः फलम् । न राजा सुखस्य ग्रामादेर्दाता,
अपि तु मदीयायासेन प्रथमोपसर्पणलाभः । पूर्वकृतं पुण्यं कर्म दातृ, न राजा । एवं दण्डो
नोद्वेजयिता, कर्माणि मामुद्वेजयन्ति, न राजा, नापि शक्तोऽन्यः कश्चित्’ । एतत्सर्वदा ध्यातव्यं
चिन्तयितव्यम् । यदपि संसारवैराग्यजननायोक्तम् ‘अस्थिस्थूणमित्यादि’ तदपि नित्यं
भावनीयम् ।

न ह्यनध्यात्मवित् । ‘अध्यात्मं’ चित्तमत्रोच्यते । यदेतदभिशब्दितं न वेत्ति न निश्चि-
नोति नाभ्यासेन भावयति—स न क्रियाफलमुपाश्नुते । परिव्राजकस्य या भैक्षचर्या क्रिया

ग्रामैकरात्रवासादिश्च, न तत्फलं मोक्षाख्यं लभते । यावदस्थिस्थूणादिभावनाया भावेनैव निरभिलाषता सर्वत्र नोत्पन्ना, यावच्च कर्मसु फलन्यासेन रागद्वेषप्रहाणं न कृतमित्यर्थः । तच्च नित्यं यदा एवं चित्तं युज्यते तदा भवति, नाकस्मादिति । अथवा 'ब्रह्मण्येवावतिष्ठते' इति एतस्य यदेतदभिषिद्धितमिति परामर्शः । ब्रह्मण्यवस्थानं 'ध्यानिकं', न तु क्रियानुष्ठानमात्रलभ्यम् । किं तद्ध्येयमित्यत आह न ह्यनध्यात्मविदिति । आत्मानमधि-कृत्य यो ग्रन्थो वेदान्तादिः सोऽध्यात्मं, न वेदः । अथवाऽऽत्मन्यधि यो निर्वृत्तस्तदध्यात्मम्, यथाऽयमात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिव्यतिरिक्तः नैषां नाशो नश्यति, कर्ता कर्मणां भोक्ता तत्फलानां, भेदग्राहकृष्टस्य सर्वमेतद्भवति । यदा त्वयमपहतपाप्मा न दोषैर्न कार्यैः स्पृश्यते, एकत्वादेव एव सर्वमिदं न, ततोऽन्यद्व्यतिरिक्तमस्ति । प्रभासमात्रं पृथक्त्वम् । हरिसवर्ण-सोदकादिका (?) उपनिषदो यो न वेद, ध्यानेनैकाग्रया सन्ततया मत्या न दाढ्यमुत्पादयति, स न यथोक्तं क्रियाफलं लभते ।

अत आत्मा वेदान्ताभिहितस्वरूपो नित्यमाहारविहारकालं वर्जयित्वा ध्येय इति श्लोकार्थः । अथवा यद्यपि प्रव्रज्याधिकारस्तथापि गृहस्थस्यापि क्रियाफलग्रहेण निर्देशः, यदि क्रियाप्रधानः । अत एतदुक्तं भवति—यद्यप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वते गृहस्थाः, रहस्य-विद्याविदश्च न भवन्ति, या विद्याः कर्मसूपविष्टा उद्गीथा “अथवा यावती उद्गीथमन्वयन्ते” इत्यादिना तेन निपुणाः कर्मकाण्डज्ञा अपि, न ततः परिपूर्णफलं चिरकालभावि लभन्ते । एषोऽर्थो वाजसनेयके छान्दोग्ये च श्रुतिद्वये निर्दिशतः । (बृ. उ. ३।८।१०) “यो वा एतद-क्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहून्यपि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवतीति”, तथा (छां. उ. १।१।१०) “यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” । यस्तु यथोक्तामध्यात्मोपदिष्टां विद्यां विदित्वा करोति तस्यैव फलाति-शयः । उक्तं च (छां. ५।१०।१) ‘तद्य इत्थं विदुर्य इमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते’ इति । यमभिसंभवतीत्यादि विजानतां कर्मकारिणा मर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिमेषां श्रुतिराह ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदेतदभिषिद्धितमुक्तं पूर्वाध्यायेषु कर्मकाण्डफलं तदपि सर्वं ध्यानिकं ध्यानजम् । अनध्यात्मविज्ञात्मविषयज्ञानशून्यः । क्रियाफलं संपूर्णं तथा च श्रुतिः ‘यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहून्यपि वर्षसहस्राण्यन्त-वदेवास्य तद्भवतीति’ ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदेतदित्यत्यन्तसन्निधानात् पूर्वश्लोकोदितं परामृश्यते । यदेत-दुक्तं पुत्रादिममत्वत्यागो मानापमानादिहानिर्ब्रह्मण्येवावस्थानं सर्वमेवैतदध्यानिकमात्मनः परमात्मत्वेन ध्याने सति भवति । यदात्मानं परमात्मेति जानाति तदा सर्वसत्त्वान्न विशिष्यते । तस्य न कुत्रचित्समत्वं मानापमानादिकं वा भवति तथाविधज्ञानात् ब्रह्मात्मत्वं च जायते ध्यानिकविशेषाद्ध्येयविशेषलाभे परमात्मध्यानार्थमाह न ह्यनध्यात्मविदिति । यस्मा-दात्मानं जीवमधिकृत्य यदुक्तं तस्य परमात्मत्वं तद्यो न जानाति न ध्यायति स प्रकृतध्यान-क्रियाफलं समत्वत्यागमानापमानादिहानि मोक्षं च न प्राप्नोति ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु विद्यमाने जगति कथं ब्रह्मण्येवावस्थानं तत्राह ध्यानिकमिति । अभिशब्दितं शब्दबोध्यं शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । तथा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य' (छां. ६।१४) मतः सर्वं जगद्ध्यानिकं सांकेतिकं अतः संकल्पाद्यधिष्ठानं नित्यात्मेति ज्ञाने कर्मफलप्राप्तिरपीत्याह नहीति । 'अथ यो ह वास्माल्लोकात्स्वर्लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एवमविदितो न भुनक्तीति श्रुतेः । उक्तं च नाविदित्वाऽऽत्मनः परलोकसंबन्धं कर्मस्वधिक्रियत इति । अत एव मेधातिथिः ध्यानिकं ध्याने क्रियमाणे लक्ष्यते किं तद्यदेतदनन्तरमभिशब्दितं तात्पर्येणोक्तं ब्रह्मण्यवस्थानं तदविदो न क्रियाफलमपीत्याह नहीति । 'अथवैतमेवात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसेति', 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (भ. गोता. ४।३३) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वकर्मणामात्मविधोपयोगिनिदिध्यासने पर्यवसानार्थमाह अनध्यात्मविदिति ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रतिपादितमध्यात्मज्ञानं स्तौति ध्यानिकमिति । यदेतदभिशब्दितं चातुराश्रम्यं कर्म एतत्सर्वं ध्यानकर्मध्यात्मज्ञानसाध्यमित्यर्थः । हिशब्दो हेत्वर्थः । कश्चिदाश्रमीति शेषः ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतत्सर्वं ध्यानिकं ध्यानीयं यदेतदभिशब्दितं कथितं । अनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलं नोपाश्रुते ॥ ८२ ॥

(७) मणिरामः । यत् एतत् अभिशब्दितं पूर्वश्लोकोक्तं पुत्रादिममत्वत्यागः मानापमानादिहानिः, ब्रह्मण्येवावस्थानं, सर्वमेव एतत् ध्यानिकं आत्मनः परोक्षत्वेन ध्याने सति भातीत्युक्तं । क्रियाफले ममत्वत्यागं मानापमानहानिं मोक्षं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

(८) गोविन्दराजः । ध्यानिकमिति । यदेतच्छास्यमुक्तं एतद्ध्यानिकं ध्याने न सति परमात्मचिन्तने सति उत्कृष्टफलं भवति यस्मादात्मस्वरूपविद्यो न भवति सोऽनुष्ठानफलमपरिपूर्णं प्राप्नोति यथा रहस्यब्राह्मणं यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिन्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तर्देवास्य भवतीति ॥ ८२ ॥

(९) भारुचिः । तथा च सत्येतदत्र यत्परमार्थदर्शनं रागद्वेषप्रहाणायोक्तं 'विसृज्य ध्यानयोगेने'ति, तत्स्तुतिमधिकृत्य सर्वविज्ञानस्तुत्यर्थमेवेदमारभ्यते—ते बहूनि सहस्राण्यन्तर्देवास्य तद् भवतीति श्रुतेः । तथा च समुच्चये प्रशस्यते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्तीत्येवमादिः । अधुना षडङ्गवेदाध्ययनोपदेशात् पूर्वत्र ब्रह्मचारिप्रकरणे नियमार्थं प्रव्रजितस्येदमारभ्यते विशेषार्थं वा ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ॥

आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमात्मज्ञानार्थं ध्येये विहिते वेदजपो न प्राप्तः तत्साधनतयाऽतस्तं विधत्ते—जपमात्रमस्याभ्यनुज्ञायते, न पुनर्गृहस्थादिवदभ्यासार्थमध्ययनम् । यज्ञेष्वधियज्ञं विधायकं ब्राह्मणम् । आधिदैविकमधिदैवं भवं देवताप्रकाशकमन्त्राः । तेषामेव

विशेष आध्यात्मिकमिति । “अहं मनुरभवम्” “अहं रुद्रेभिः” इत्यादि । ‘वेदान्त’ इति यदभिहितं तदपि कर्मज्ञानसमुच्चयं ब्रह्मत्वाय दर्शयति ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ध्यानाद्विरतस्य यत्कार्यं तदाह अधियज्ञमिति । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य प्रदत्तं भागं । ब्रह्म वेदं । आधिदैविकं । देवताश्रुतिमधिकृत्य प्रवृत्तं मन्त्रभागं । आध्यात्मिकं आत्मविषयमुपनिषद्भागं । वेदान्ताभिहितं वेदान्तेषु जप्यत्वेनोक्तमोकाररूपं ब्रह्म इदं वेदान्ताभिहितम् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वं ब्रह्मध्यानस्वरूपमुपासनमुक्तम्, इदानीं तदङ्गतया वेदजपं विधत्ते । तथा च श्रुतिः (बृह. ४।४।२२) ‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती’ति विद्याङ्गतया वेदजपमुपदिशति अधियज्ञमिति । यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्रह्म वेदं तथा देवतामधिकृत्य प्रवृत्तं तथा जीवमधिकृत्य तथा वेदान्तेषूक्तं ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे’त्यादिब्रह्म-प्रतिपादकं सर्वदा जपेत् ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । अत एवाह अधीति । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं कर्मकाण्डं ‘इषे त्वोर्जे त्वे’त्यादि । ब्रह्म वेदं जपेत् आधिदैविकं देवता ईश्वरादि तद्विषयकं सहस्रशीर्षादिसंकर्षणकाण्डं । आध्यात्मिकं ‘तत्त्वमसि’ (छां. ६।८।७) ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे’ (तै. २।१।१)त्यादि वेदान्ताभिहितं वेदान्तपदवाच्यं जपेदित्यनुपज्यते ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । यत एव तस्माद्वेदस्य यः कश्चित्प्रदेशः संन्यासिनोऽध्यात्मज्ञान-सहितो जप्यव्य इत्याह अधीति । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं वेदं ब्राह्मणभागमाधिदैविकं ब्रह्मादिदेवानधिकृत्य प्रवृत्तं मन्त्रभागमाध्यात्मिकं ब्रह्मोपनिषद्भागं वेदान्ताभिहितं ब्रह्मप्रणवं जपेत् । अध्यात्मज्ञानसहितमिति भावः । सच्छब्द आध्यात्मिकप्रणवजपयोरा-दरातिशयसूचकः ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य ब्रह्म जपेत्, यज्ञप्रतिपादकवेदभागं च पुनः आधिदैविकं देवतामधिकृत्य तत्स्वरूपप्रतिपादकं मन्त्रभागं च पुनः आध्यात्मिकं आत्मस्वरूप-प्रतिपादकं एतत्त्रयं जपेत् । च पुनः यद्वेदान्ताभिहितं वेदान्तेन कथितमोकारं सततं जपेत् ॥ ८३ ॥

(७) मणिरामः । ज्ञानांगतया वेदजपमुपदिशति अधियज्ञमिति । यज्ञं अधिकृत्य प्रवृत्तं अधियज्ञम् । देवतां अधिकृत्य प्रवृत्तं आधिदैविकं । जीवं अधिकृत्य प्रवृत्तं आत्मकं एतादृशं ब्रह्म वेदं जपेत् । तथा वेदान्ताभिहितं च यत् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे’त्यादि ब्रह्मप्रतिपादकं च सर्वदा जपेत् ॥ ८३ ॥

(८) गोविन्दराजः । अधियज्ञमिति । यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्राह्मणाख्यं वेदं देवतामधि-कृत्य प्रवृत्तं देवताप्रकाशनपरमग्निर्मूर्धेत्यादिकं आत्मानं चाधिकृत्य प्रवृत्तं पुरुषसूक्तादिकं उपनिषत्सु चोक्तं सर्वकालं जपेत् ॥ ८३ ॥

(९) भारुचिः । अध्यात्मनिषत्त्वोपदिशत्वोपदेशे वा सति तन्निवृत्त्याशङ्कयाऽनुवृत्त्यर्थमि-दमुच्यते यज्ञे तदित्यधियज्ञं कर्मोपदेशः । ब्राह्मणं विध्यर्थं वादनामधेयाख्यं आधिदैविकमन्त्राः । आध्यात्मिकं च ब्रह्ममन्त्रैकदेशः । प्रकरणात् पुरुषसूक्तादिषु क्रिया वा । वेदान्ताभिहित-

मुपनिषदः। सामर्थ्यात् सोऽयं मन्त्र ब्राह्मणाप्योसामान्या (द्वया) नशब्देन च यत्किञ्चिदत्र प्रव्रज्याप्रकरणे शास्त्रे वा परमार्थदर्शनमुक्तं तत्सर्वमभिधीयते। तस्मिन् ध्याने परमार्थदर्शने यद्भयं कर्म तद्व्याप्तिकमेवं च सति परमार्थदर्शनस्तुतिरियम्। ज्ञानकर्मसमुच्चयस्तुतिर्वा। तथा चोक्तम्—

“सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।” इति। अस्या वा हेतुरयं विज्ञेयः। कस्मात् पुनरेतदेवं भवति; यस्मात्—

‘न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्रुते।’ आत्मनि तदित्यध्यात्मं बुद्ध्यादि। तद्वेत्तीत्यध्यात्मवित् च। पुनर्यथाविषयं व्याकरीयं (?) अस्य निदर्शनार्थमिदं रहस्यब्राह्मणं भवति। “यो वा एतदक्षरं गार्ग्यवि (दि) त्वाऽस्मिन्लोके जुहोति यजते तप”स्त (स्याप्य)-वेदः। श्लोकसमाप्त्यर्थमेवं चतुर्थोक्तस्तथा च सति यथैव प्रव्रजितस्याध्यात्मानुष्ठानमुत्कर्षाय एवं वेदाभ्यासोऽपीत्येतदपि सामर्थ्यादवगम्यते। तथा च स्मृतिः—‘शब्दब्रह्मणि निष्णातः’। तस्याध्ययनविज्ञानतदर्थानुष्ठानेन परं ब्रह्माधिगच्छति। अपरस्त्वाह-समर्थस्येदमध्यात्मानुष्ठाने श्रौतस्य वा तत्रारतेर्वा ॥ ८३ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विज्ञानताम् ॥

इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः। इदमिति वेदाख्यं ब्रह्माचष्टे। सोऽपि ब्रह्मैव। तथा चोक्तं (मैत्रा. ६।२२)—“द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति” इति। अध्ययनं विज्ञानं, तदर्थानुष्ठानेन ‘निष्णातता’। पूर्वस्य विधेरयमर्थवादः।

अज्ञानामतदर्थविदां जपादिष्वधिकारेण। तथा भगवता व्यासेन सिद्धिर्जपिकानां दर्शिता। अथवा ‘अज्ञा’ अनात्मज्ञाः शास्त्रानवगतात्मतत्त्वा अपि तदुपासनापरा अलब्धचित्तस्थैर्याः। तेषां वेदः ‘शरणम्’। जपेन कर्मानुष्ठानेन तावत्या च विद्यया। नरकेषु कीटपतङ्गादियोनिषु चानुपपत्तेः।

इदमेव विज्ञानताम्। कथं पुनर्विदुषां शरणमत आह इदमन्विच्छतां स्वर्गम्। एतावदेते कर्मकाण्डज्ञा आत्मन्यलब्धमनःप्रतिष्ठा वा, तेषां कर्मानुष्ठानात्स्वर्गादिफलं लभ्यते। इतरे त्यक्तसङ्गाः प्रक्षीणरागादिदोषा ज्ञानात्मतत्त्वोपासनापरास्तेषामानन्त्यमपुनरावृत्तिरिति। सर्वेषां वेद एव शरणं, नान्यः पन्था अस्तीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः। ब्रह्म शरणं रक्षकं। अज्ञानां ध्यानोचितज्ञानशून्यानां। विज्ञानतां तादृग्ज्ञानवतां। आनन्त्यं मोक्षम् ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः। इदं वेदाख्यं ब्रह्म तदर्थानभिज्ञानामपि शरणं गतिः पाठमात्रेणापि पापक्षयहेतुत्वात्। सुतरां तज्ज्ञानतां तदर्थानभिज्ञानां स्वर्गमपवर्गं चेच्छतामिदमेव शरणं तदुपायोपदेशकत्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वात् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः। सर्वसाध्ये वेदस्यैव साधनत्वमाह इदमिति। इदं वेदरूपं अज्ञानां वेदार्थानभिज्ञानां पाठमात्रेण ऋचोऽधीते इत्यादिफलहेतुत्वावगमात्। विज्ञानतां

कर्म कर्तव्यतया विदुषां तदुपायभूतम् । इदमेव स्वर्गमिच्छतां यागाद्यनुष्ठायिनामपीदं साधनं
यागादिवोधहेतुत्वात् । आनन्त्यं मोक्षमिच्छतां मुमुक्षूणां तदुपायतत्त्वज्ञानजनकत्वादिति ।
तदुक्तमत्रैव (१।९७) । 'ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु
ब्रह्मवेदिन' इति । उपवीतं वा तत्प्रधानत्वादिति न्यायाद्वा सर्वसाधनस्तुत्या आत्मध्यानं विधत्ते
इदमिति निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानामित्यत्रोपवीतमेव निवीता-
दिपदाभ्यां श्रूयते उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुत इत्युपवीतस्य प्राधान्यवत् इति न्यायार्थः ।
अथवाज्ञानामित्यादिपदचतुष्टयेन ब्रह्मचर्यादिचतुर्णां ग्रहणम् ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । आध्यात्मिकज्ञानमेव प्रकारान्तरेण स्तौति इदमिति । इदमध्यात्म-
ज्ञानम् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदमाध्यात्मिकादित्रयमज्ञानां पुंसां शरणम् ॥ ८४ ॥

(७) मणिरामः । शरणं गीतः आनन्त्यं मोक्षं ॥ ८४ ॥

(८) गोविन्दराजः । इदमिति शास्त्रार्थनिभिज्ञानां ब्रह्मैव पेदारवांशरणगतिः
इत्युत्कर्षापकर्षणप्राप्तपरिहारहेतुत्वात् । एवमिदमेव ज्ञानवतां स्वर्गापवर्गमिच्छतामिति ॥ ८४ ॥

(९) भारुचिः । अस्तेदानीं पूर्वविधेर्वा यथायोगं स्तुत्यर्थमिदमारभ्यते—आनन्तर्याद्
ब्रह्मणो जपकर्मेदमुच्यते यथासंख्येन । अथवा परिव्रज्याप्रशंसेयम् ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ॥

स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रमेण योगोऽनुष्ठानम् । आत्मज्ञानकर्मणोः समुच्चये यः क्रम
उक्तः, तेन ऋणापाकरणं कृत्वेत्यर्थः । विधूय पाप्मानमश्व इव रोमरजांसि, तथैवात्मविद्यया ।
यथोक्तं (बृह. ४।१४।३) "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त्येवमेतद्विदि पापं कर्म न
श्लिष्यतीति" । परं ब्रह्माधिगच्छति तद्रूपः संपद्यते निवृत्तभेदग्रह इति विद्याश्रमफलविधिः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रमयोगेन ऋणत्रयापाकरणपूर्वकम् ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन यथाक्रमोक्तानुष्ठानेन यः प्रव्रज्याश्रममाश्रयति स इह लोके
पापं विसृज्य परं ब्रह्म प्राप्नोति । ब्रह्मसाक्षात्कारेणोपाधिशरीरनाशाद्ब्रह्मण्यैक्यं
गच्छति ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह अनेनेति । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा
वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजे'दिति (जाबाल. ४) ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रतिपादितस्य यत्याश्रमस्य फलमाह अनेनेति । अनेनोक्तेन
यत्याश्रमधर्मकर्मानुष्ठानेन चातुराश्रम्यक्रमयोगेनेति ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । इह शरीरं विधूय परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

(८) गोविन्दराजः। अनेनेति। उक्तेनाश्रमसंबन्धेन यो द्विजः प्रव्रज्यामाश्रयति इहैव लोके कल्मषं निर्दह्य क्षयात्परं ब्रह्मरूपं संपद्यते ॥ ८५ ॥

(९) भारुचिः। तदुपसंहारदर्शनात् चातुराश्रमः सावान् शास्त्रस्यानुपसंहारात्तस्य तथा च शास्त्रोपसंहारशास्त्रस्तुतिर्वक्ष्यते-अयं श्लोकः प्रव्रज्याधिकारस्तुत्यर्थः। आश्रय-समुच्चयस्तुत्यर्थो वा ॥ ८५ ॥

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ॥

वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः। वेदस्य संन्यासः त्यागः। स एषामस्तीति वेदसंन्यासिकाः। वेदशब्देन यागहोमादेः कर्मणस्त्याग उच्यते, न पुनर्जपत्यागः। आत्मचिन्तनं तु विहितमेव। केवलं धनसाध्याः शरीरक्लेशसाध्याश्च तीर्थयात्रादय उपवासादयश्च निषिध्यन्ते। यानि त्वात्मैकसाधनसाध्यानि सन्ध्याजपादिकर्माणि तेषामनिषेधः। तदेतत्स्वस्थानं एव दर्शयिष्यामः। आद्येनार्धेन प्रव्रज्याश्रमोपसंहारः। उत्तरेण वेदसंन्यासिकस्य कर्मोपदेश-प्रतिज्ञा ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। यतीनां यमवतां। नियतात्मनां नियमवतां। पक्वकषा-याणां परिव्राजकानामिति यावत्। वेदसंन्यासिकानां अपक्वतया कषायस्य ध्यानप्रवृत्ता-वशक्तानां गृहस्थानां मोक्षहेतौ वेदाभ्यास एवात्मानां संन्यस्तानम्। कर्मयोगं कर्तव्यमुद्यमां। ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः। एषः यतीनां यतात्मनां चतुर्णामिव कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसानां साधारणो धर्मो वो युष्माकमुक्तः। इदानीं यतिविशेषाणां कुटीचराख्यानां वेदविहितादि-कर्मयोगिनामसाधारणं वक्ष्यमाणं पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेदिति कर्मसंबन्धं शृणुत। भारते चतुर्धा भिक्षव उक्ताः। 'चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युः कुटीचरबहूदकौ। हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चा-त्स उत्तम' इति। कुटीचरस्यायं पुत्रभिक्षाचरणरूपासाधारणकर्मोपदेशः। गोविन्दराजस्तु गृहस्थविशेषमेव वेदोदिताग्निहोत्रादिकर्मत्यागिनं ज्ञानमात्रेण संपादितवैदिककर्मणि वेदसंन्या-सिकमाह। तन्न; यतो गृहस्थस्याहिताग्नेरन्त्येष्टौ विनियोगश्चतुर्थाश्रमाश्रयणे चात्मनि समारोपः शास्त्रेणोच्यते तदुभयाभावे सत्येवमेवाग्नीनां त्यागः स्यात्। 'गोविन्दराजो गृहस्थं वेदसंन्यासिकं ब्रुवन्। एवमेवाहिताग्नीनां त्यागमर्थादुपेतवान्। वेदसंन्यासिकं मेधातिथिः प्राह निराश्रमम्। तन्मते चातुराश्रम्यनियमोक्तिः कथं मनोः' ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः। यतिधर्ममुपसंहरति एष इति। यतीनां त्रयाणां बहूदकहंस-परमहंसभेदेन। वेदसंन्यासिकानां कुटीचकानां वेदोक्ताग्निहोत्रादिकर्मत्यागिनां न तु तज्जपत्यागिनामिति मेधातिथिः ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः। एवं प्रतिपादितस्य संन्यास उपपद्यते नान्यस्येत्याह एष इति। एतच्छब्देनात्र फलाभिसन्धियुक्तं कर्म विवक्षितम्। तस्य त्यागो वेदसंन्यासस्तद्वान्वेदसं-

न्यासिकः । नहि वेदस्य शब्दराशिरूपस्य संन्यास उपपद्यते । वेदसंन्यासिकानां ब्रह्मत्वेन 'नियतो वेदमभ्यस्य'न्निति वक्ष्यमाणत्वात् । कर्मयोगं वक्ष्यमाणं दशलक्षणं धर्मात्मकम् ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । हे द्विजाः ! नियतात्मनां नियमवतां पक्वकषायाणां यतीनां एष धर्मः अनुशिष्टः कथितः । वेदसंन्यासिकानां अपक्वकषायतया मोक्षहेतोर्वेदाभ्यासरतात्मनां कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

(७) मणिरामः । यतीनां यतात्मनां चतुर्णां कुटीचर १ बहूदक २ हंस ३ परमहंसानां ४ एष धर्मः साधारणो धर्मः वः अनुशिष्टः उक्तः । इदानीं वेदसंन्यासिनां वेदविहितकर्म-त्यागिनां कुटीचकाख्यानां कर्मयोगं वक्ष्यमाणं 'पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेदि'ति कर्मसंबन्धं निबोधत शृणुत ॥ ८६ ॥

(८) गोविन्दराजः । एष इति । एषोऽनन्तरोक्तो यतात्मनां संबन्धी धर्मो युष्माकमुवतः ; इदानीं वेदोदिताग्निहोत्रादिकर्मपरित्यागिनामेतानैके महायज्ञानित्यादिप्रकारेण ज्ञानबलादग्नि-होत्रादिकर्मसंपादिनां कर्मबन्धं शृणुत । न चाग्निहोत्रादीनां श्रुतिचोदितानां स्मृत्या कथं त्याग इति वाच्यं आत्मज्ञाननिष्ठं प्रति यावद्वै पुरुषो भावत इत्यादि चतुर्थाध्यायदर्शितश्रुतिप्रकारेणा-स्याप्यनुष्ठानस्य श्रौतत्वाद्यद्यपि गृहस्थविशेष एव वेदसंन्यासिकस्तथापि प्रव्रज्यावैकल्यकत्वं संन्यासिकत्वस्य ज्ञापयितुं प्रव्रजितधर्मसमनन्तरं अभिधानमेवं च गृहस्थवेदत्वेन वेदसंन्यासिकस्य चातुराश्रम्यान्तर्भावादाश्रमाणां चतुस्त्रिद्विसमुच्चयविकल्पबाधपक्षान् दर्शयितुं तावदिष्ट-माह ॥ ८६ ॥

(९) भारुचिः । पूर्वोक्तयोः प्रकरणयोरुपसंहारार्थोपन्यासार्थः श्लोकः । वेदस्य संन्यासो वेदसंन्यासः । तत्र भवो वेदसंन्यासिकः । न हि वेदस्य संन्यासोऽस्ति । शास्त्रविरोधाद्यतः सामर्थ्यादियमस्यार्थ उच्यते । वेदस्य हि ग्रन्थार्थाभ्यासनिमित्तस्तदर्थानुष्ठानाय च प्रतिग्रहाणां वृत्तिकर्मणां संन्यासो यस्य स वेदसंन्यासिको गृहस्थ एव कृतकरणीयोऽभिधीयते । सामर्थ्या-त्तथा च तं वक्ष्यत्यनन्तरमेव कृतसम्प्रतिविधानो वा आसन्नमृत्यूपदर्शकेनारिष्टदर्शनेन । तथा च वाजसनेयकं रहस्यब्राह्मणमिदमर्थं भवति 'अथात्वः सम्प्रतिः । यदा प्रैषन्मन्यते पुत्रमाहेत्येवमादिः स हि कृतकरणीयः तथा वासन्नशरीरो वा जरसा कृतसम्प्रतिविधानोऽ-पुत्रोपहृतवृत्तिरस्यामवस्थायां निरुत्सुकः परमासंय(म)वान् परमात्मध्यानैकालम्बनः सुख-मासीत । न तु नित्यानामग्निहोत्रादीनां संन्यासोऽस्ति नित्यत्वादेव शास्त्रविरोधाच्च । न च वेदस्येत्युक्तम् । यतो यतोऽयमेव शास्त्रार्थ इति । विकल्पार्थश्चायम् । अस्येहोपदेशः पारि-व्रज्येनाक्रमेऽपि कथं बस्तावत् समर्थो गृहात् प्रव्रज्यायां तस्य यथाशास्त्रं स भवति । असमर्थस्य पुनरुत्सृष्टाग्नेः शास्त्रादर्थद्विगमवस्थोच्यते । प्रव्रज्या वैक(ल्प)िकी । एवं च कृत्वा प्रव्रज्यानन्तरं तदुपदेशो युज्यत इति ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ॥

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः। “ननु च संन्यासिककर्माणि वक्ष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽश्रमानुक्रमणम-
प्रकृतम्”। केचिदाहुर्न संन्यास आश्रमान्तरमतैवान्तर्भावोऽस्येति दर्शयितुम्। स च कस्मिन्
गृहस्थेऽन्तर्भावितः। गृहे हि वासस्तस्य। अन्यैस्तु प्रव्रज्यायाम्, संगत्यागसामान्यात्। अतो
नास्यान्तर्भावे प्रयोजनं, पुरुषधर्मैर्यतिधर्मैश्च न यागादावधिकरिष्यति। वैशेषिकैश्च स्वशब्द-
विधानात्। अनाश्रमित्वात्। “संवत्सरमनाश्रमीति, प्रायश्चित्तप्रसङ्गादिति चेत्” वचने-
नैवास्या व्यवस्थाया विदितत्वात्कुतः प्रायश्चित्तप्राप्तिः ?

तस्माद्गृहस्थादितुल्यतया संन्यासिकं प्रशंसितुमाश्रमान्तरसंकीर्तनम्। तच्च समुच्चयं
ब्रूयितुम्। गृहस्थानामवस्थितिरेषामित्यर्थः। गृहस्थः प्रभवः स्थितिहेतुरेषामिति
विग्रहः ॥ ८७-८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। तत्र गार्हस्थ्यमेव तावत् स्तौति ब्रह्मचारीति। एते गृहस्थ-
प्रभवाः। गृहस्थस्यैवापत्योत्पादकत्वात् अनुत्पन्नानां चाश्रमायोगात् ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः। इदानीं वेदसंन्यासिकस्य प्रतिज्ञाते कर्मयोगेऽनन्तरं वक्तुमुचितेऽपि
वेदसंन्यासिकः पञ्चमाश्रमी निराश्रमी वा चत्वार एवाश्रमा नियता इति दर्शयितुमुक्ताना-
श्रमाननुवदति ब्रह्मचारीति। ब्रह्मचर्यादयो य एते पृथगाश्रमा उक्ता एते चत्वार एव गृहस्थ-
जन्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः। कुटीचकाख्यानां वेदसंन्यासिकत्वेन पञ्चमाश्रमत्वं प्राप्तमिति
शङ्का स्यात्तदर्थमुक्तानाश्रमाननुवदति ब्रह्मचारीति। एषां नैष्ठिकोपकुर्वाणाः षट्कर्मत्रिकर्म-
वालखिल्यकेनपकुटीचकबहूदकाद्यवान्तरभेदेऽपि चत्वार एव इति। गृहस्थप्रभवाः गृहस्थ-
माश्रित्यैव प्रकर्षेण ते भवन्ति। गृहस्थस्यापि शिलोञ्छनादिवृत्तिर्गृहस्थमाश्रित्यैव भवति।
यद्वा गृहस्थस्यैव सर्वे चत्वारः पुत्रास्तदन्येषां पुत्राभावादिति। तथा च गौतमसूत्रं ‘एषा
गृहस्थैका योनिरिति ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः। न केवलं चतुर्थाश्रम एव वेदसंन्यासिकस्य परमगतिप्राप्त्युपायः किन्तु
यः कश्चिदप्याश्रम इति श्लोकद्वयेनाह ब्रह्मेति। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यम्। भावप्रधाननिर्देशः।
एवमुत्तरत्वापि। गृहस्थप्रभवा गार्हस्थ्यमूलाः। अनेन गार्हस्थ्यस्य श्रेष्ठ्यं सूचितम् ॥ ८७ ॥

(७) मणिरामः। गृहस्थप्रभवाः गृहस्थजन्याः ॥ ८७ ॥

(८) गोविन्दराजः। ब्रह्मचारीति। य एते ब्रह्मचर्यादय आद्याश्रमिणः पृथगुक्ता
गृहस्थजन्याः। एवं च गृहस्थव्यतिरिक्ताश्रमिभिः शास्त्रव्यतिक्रमेण ज्ञातानां नास्ति हस्त-
चर्याद्याश्रमाधिकारः ॥ ८७ ॥

(९) भारुचिः। उक्त आश्रमाणां समुच्चयस्तेषां पुनरधुना बाधाविकल्पो वक्तव्याविति।
(यतस्तत्प्र)सिद्धय इदमारभ्यते— एवं च न पाषण्डोत्पन्नाः सन्तः स्वकर्मणा सम्बध्यन्ते
सर्वाश्रमाणां च गार्हस्थ्यस्य श्रेष्ठ्यं बाधापक्षमाश्रित्य यद्वक्ष्यति तत्स्तुत्यर्थमिदं वेदितव्यम्,
विकल्पार्थं पुनरिदमेतेषाम् ॥ ८७ ॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ॥

यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥८८॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेऽपि क्रमशो वा व्युत्क्रमेण । यथाशास्त्रं न तु स्वेच्छया । आश्रमधर्मपरिग्रहेण यथोक्तकारिणं मोक्षानुगुणत्वेनोक्तानां क्रमान्नैष्ठिकधर्मवेदसंन्यासमहा-प्रस्थाध्यानाभ्यासानां कर्तारं । परमां गतिं मोक्षं नयन्ति न तु यत्याश्रममात्रं । तथा च सर्वप्रभवत्वान्मोक्षहेतुत्वादगार्हस्थ्यं प्रशस्ततरमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । एते सर्वे चत्वारोऽप्याश्रमाः शास्त्रानतिक्रमेणानुष्ठिताः । अपिशब्दात् तयो द्वावेकोऽपि यथोक्तानुष्ठातारं विप्रं मोक्षलक्षणां गतिं प्रापयन्ति ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वे धर्मा ब्रह्मचर्यादयः क्रमश उक्तक्रमेण निषेविता अनुष्ठिताः । यथोक्तकारिणं यथाविध्याश्रमचतुष्टयानुष्ठातारं । विप्रमिति मनुवचनाद्विप्रदेहस्यैव संन्यासा-त्मज्ञानान्मुक्तिः । 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च स ब्राह्मणः केन स्यादिति ब्राह्मणश्रुतेः । 'गर्भस्थो वामदेवः प्रतिपेद' इति मन्त्रलिङ्गात् श्वेतकेतुभृग्वादिसंवादात् । काश्यादिमृतानामप्यन्येषां तात्कालिकविप्रदेहोऽनुमेय इति परमामिति विशेषणान्मोक्षा-ख्याम् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । यथोक्तकारिणं न तु यथोक्तफलैषिणम् ॥ ८८ ॥

(७) मणिरामः । एते सर्वेऽपि चत्वारोऽप्याश्रमाः । परमां गतिं मोक्षलक्षणां ॥ ८७-८८ ॥

(८) गोविन्दराजः । सर्वेऽपि गति । सर्वेऽपि चत्वारोऽप्यपिशब्दात्तयो द्वावेक एव इत्येत-दुक्तशास्त्रानतिक्रमेणानुष्ठिताः सन्तो यथोक्तानुष्ठातारं विप्रब्रह्मप्राप्तिलक्षणां गतिं प्रापयन्ति । समुच्चयविकल्पपक्षाणां ब्रह्मचर्यं परिसक्त इत्यादिश्रुतिमूलं दर्शितम् । बाधापक्षेऽपि जरामयं व एतत्सत्रं यदग्निहोमं जुहोति यद्दर्शपूर्णमासाभ्यां यजत इत्यादिश्रुतिमूलत्वं । एवं च समुच्चयविकल्पबाधापक्षाणां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वाद्यथारुच्यन्तमपक्षानुष्ठानं नैष्ठिकत्वस्यापि श्रुतिमूलत्वं दर्शितम् । एवं च यत्कैश्चिन्नैष्ठिकत्वादीनां स्मार्तत्वाद्गार्हस्थ्येन श्रौतेन बाधो गार्हस्थ्यमप्यनधिकृतं अन्धादिविषयता चेत्युक्तं—तदसत्; सर्वेषां प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वस्य दर्शितत्वात् ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदश्रुतिविधानतः ॥

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥८९॥

(१) मेधातिथिः । इदमयुक्तं वर्तते । वेदशास्त्रश्रुत्या गार्हस्थ्यस्य विधानं प्रतिज्ञायते, इतरेषां च भर्तव्यत्वम् । गार्हस्थ्यस्य प्रत्यक्षश्रुतिविधानेनैवाश्रमान्तराणां सद्भावः । सन्निहित-तपःस्मृतिभ्यो बलीयसी श्रुतिः । अथोच्येत—नैवायमभिसम्बन्धः क्रियते, वेदश्रुत्या विधानात् इति । अयमभिसम्बन्धः । सत्यपि चैतस्मिन् विधाने गृहस्थस्य श्रेष्ठ्यं तद्भरणनिमित्तं 'स त्रीने-तान्' इत्यनेन प्रतिपाद्यते तत्र वक्तव्यं कथम्, आश्रमान्तराणां श्रुतत्वात् —श्रौतत्वे च स्पष्टेयं स्मृतिर्विरोध्यते "प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येत्यादिना । न च सम्बन्धान्तरसंभवः ॥ अथोच्येत—'गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति जाबालश्रुतिमपेक्ष्य सर्वाण्येव श्रुतानीति ।—

स्मृतिविरोधस्तावदपरिहृत एव । किं च नैषा श्रुतिविधात्री । न ह्येतत् श्रुतम्—एवं वने वा विहर्तव्यमिमानि वनस्थेनैव कर्माणि कर्तव्यानीमानि प्रव्रजितेनेति, यथाऽऽधानात्प्रभृत्या-चरमेष्टि सर्वं गृहस्थकर्म प्रत्यक्षमुक्तत्रैवमाश्रमान्तराणाम् । केवलं नाममात्रं श्रूयते 'गृही भूत्वे'त्यादि । तस्मात्पूर्वापरविरुद्धं गार्हस्थ्यमूलमाश्रमाणामिवोपदिश्यते ।”

अत्रोच्यते—सत्यमाधानात्प्रभृति गृहकर्माणि प्रत्यक्षश्रुतानि कृतदारपरिग्रहस्य । तत्र विवाहे प्रयुक्तिनिरूपणात्किं कर्म श्रुतिभिः प्रयुज्यते, अग्निहोत्रादिभिः स्वाहाधिकारः श्रुतेर्यापत्त्योत्पत्तिविधिना उत दृष्टेन पुरुषार्थेन ?

“ननु रागः स्त्रीमात्रं प्रयुङ्क्ते न विवाहम् । येन विना यत्र निष्पद्यते तत्तस्य प्रयोजकमिति न्यायः । रागिणां च स्त्रीमात्रेण गृह्यकर्मनिर्वृत्तिः । किमिति विवाहमपेक्षेरन् ?”

सत्यम् । यदि वचनान्तरे स्त्रीमात्रे गमनं न निषिद्धं स्यात् । समानेऽपि सर्वत्र वेदाधिगमे शास्त्रतो गम्यागम्यविवेकः । अतश्च धीरप्रकृतीनां न विवाहमन्तरेण स्वार्थसंपत्तिरिति युक्तैव वेदस्य प्रयोजकाशंका ।

“यद्येवं सर्वस्य न प्रयोजकानि सन्ति । सर्वेषां तस्मिन्सत्यर्थनिवृत्तौ किं तेन निरूपितेन ? योऽस्ति विवाहप्रयोजकः सोऽस्तु । आश्रमान्तराणि प्रत्यक्षविधाने गार्हस्थ्यस्य कथमुपपद्यन्त इत्येतदधिकृता विवाहप्रयुक्तिचिन्ता तु केनांशेन संगच्छते ?”

उच्यते—यावदुक्तं ‘सर्वेषामर्थसिद्धिरिति’ । सत्यम् । एकेन प्रयुक्तावन्यस्य प्रसंगा-दुपकारसिद्धौ न पृथक्प्रयोक्तृत्वकल्पना । यथा ब्रीहयः पुरुषार्थेन जीवनेन प्रयुक्ताः कर्मसु विनियुज्यन्ते । न कर्मणि धनार्जनं प्रयुज्यते । यथा वा विद्या सत्यप्यवैद्यस्यानधिकारे न प्रयुज्यते, स्वाध्यायविधिनैव तत्सिद्धेः । एवमिह कामतः प्रवृत्तिसिद्धेर्न कर्मश्रुतयः प्रयोक्तव्याः । नाकृतविवाहमपि कृत्यकर्मविधय उपपत्स्यन्ते ।

अतश्च यो ब्रह्मचर्य एव कथंचित्परिपक्वकषायः स न विवक्ष्यते । ततः स द्वितीय-त्वाभावान्नाधिकरिष्यते । अतश्च श्रौतेष्वनधिकारात्तादृशस्याश्रमान्तरताऽऽपत्स्येत ।

अन्ये मन्यन्ते—नायं धनतुल्यो विवाहः । यथा धनेन विना जीवनमनुपपन्नमिति, स वै जीवेद्धनतः, एवं न स्त्रियमन्तरेण जीवनाभाव इत्यत एव न दृष्टं नियमिनः प्रयोजनं संभवतीति धर्माधिकारार्थोऽपि प्रयुक्तो विवाहः । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयमधिकारोत्पत्त्यर्थं यतः कर्तव्य इति । इतरथा हि कृतोत्सर्गस्याशुचित्वादधिकारापनये जननादि शुद्धकालावस्थे च संपादयतो न नित्यकर्मतिक्रमः स्यात् । ततश्च केनार्थेन मृतादिशुद्धौ क्लेशमादध्यात् । “तदपि विहित-मेवेति” चेत् । एवं तावन्मात्रस्यातिक्रमो न पुनर्विधिसहस्यस्य ।

अथोच्येत—“कस्य पुनर्विधेरयं व्यापारो यदधिकृतत्वसंपत्त्यर्थमधिकृतः स्यामिति पुरुषेण यतः कर्तव्य इत्युपदिशति । एतावदग्निहोत्रादिविधयस्ते यस्याम्नायस्तद्विषयां कर्तव्यतां गमयन्ति, न त्वग्नीनामुत्पत्तिं प्रयुञ्जते । अग्नयोऽपि काम्येषु लिप्सया प्रवर्तमानेन तदधिकार-सिद्धयर्थमाधीयन्ते । तथाहि तेषु जातेष्वहिताग्नित्वे यावज्जीवश्रुतयः । भार्यावितश्चाधाने-

अधिकारः । यथैवाधिकारिणमात्मानं कर्तुमग्नीनाधत्ते, एवं भार्यामप्युपयच्छते । अतो न कस्यचिद्विधेरर्थो विहतो यदि नाग्निहोत्रादिष्वधिकारो जनयितव्यः । न च विवाहविधिरेव स्वार्थकर्तव्यतामवगमयति, नित्याग्निहोत्रादिश्रुतिवत्संस्कारकर्मत्वादधिकारश्रवणाभावाच्च” ।

अत्र पूर्वं वदन्ति— ऋणत्रयापाकरणश्रुतिरस्ति “जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवां जायते” इत्यादि । एषा श्रुतिर्जातमात्रनिबन्धना । न चात्र जन्म द्वितीयमुपनयनाख्यमभिप्रेतम्, प्राक्तनस्त्यक्तसमानधर्मत्वात् । जन्मनि सति यावता कालेनाधिकारावगमो भवति तदेव ऋणश्रुत्या परिगृह्यते । ततश्च विदुषः सतः सत्यधिकारे यः कन्यां याचमानो न प्राप्नुयाद्यावत्सर्वतः पलितस्तस्य वानप्रस्थादावधिकारः । स ह्येतन्निश्चिनोति—यौवन एव कन्या सर्वथा याच्यते, कथयन्त्यन्ये—ऋणकेशस्यैवाधानं श्रुतम्, भार्यामरणं वर्जयित्वा न सर्वतः पलितेनाधातव्यमिति श्रुत्यर्थं व्याचक्षते ।

कर्मसम्बन्धाद्गृहस्थः श्रेष्ठः । अत आश्रमस्यैव श्रेष्ठ्यमुक्तं भवति । त्रीनेतानिति । इदमपरं श्रेष्ठ्यकारणं यदन्येषामाश्रमाणां भरणम् । तदुक्तं (३।७८) “ज्ञानेनान्नेन च” इति ॥८९॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तदेव प्रकृतमाह सर्वेषामिति वेदे श्रुतितः शब्दाभिधानवृत्त्या गृहस्थस्य धर्माणामेव बाहुल्येन विधानदर्शनादितरधर्माणां तु क्वचिदेव विधानाद्बलवत्तात्पर्यं गार्हस्थ्यधर्म एव श्रुतेरित्यर्थः । श्रेष्ठत्वे हेत्वन्तरमाह स त्रीनेति । त्रीनाश्रमान् विभर्ति पुष्पाति तस्माद्गृहस्थाश्रमे परोपकारबाहुल्यात्तस्य च सत्त्वशुद्धिवाद्गृहस्थ एव श्रेष्ठः ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रकृतवेदसंन्यासिकस्य गृहे पुत्रैश्वर्यं सुखे वासं वक्ष्यति तदर्थं गृहस्थोत्कर्षमाह सर्वेषामिति । सर्वेषामेतेषां ब्रह्मचार्यादीनां मध्ये गृहस्थस्य श्रूयमाणत्वेन प्रायशोऽग्निहोत्रादिविधानाद्गृहस्थो मन्वादिभिः श्रेष्ठ उच्यते । तथा यस्माद्ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतीनसौ भिक्षादानेन पोषयति तेनाप्यसौ श्रेष्ठः । यथोक्तं (३।७८) ‘यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वह’मिति ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च सर्वेषामिति । विधानमाचरंस्तेभ्यस्त्रीनेतान्विभर्तीति कृत्वा श्रेष्ठः । वानप्रस्थस्यापि गृहस्थकालीनविद्याद्युपजीवित्वात् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । तथापि वेदसंन्यासिकस्य गृहस्थाश्रमः श्रेष्ठतर इत्याह सर्वेषामिति । वेदस्य स्मृत्याः प्रत्यक्षेण विधानतः वैदिकानामाधानादीनां कर्मणां गृहस्थमधिकृत्य विधानस्य प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वादित्यर्थः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स गृहस्थः त्रीनेतानाश्रमान्विभर्ति ॥ ८९ ॥

(८) गोविन्दराजः । सर्वेषामिति । सर्वेषामेव ब्रह्मचार्यादीनां मध्यात् गृहस्थबाहुल्येन साक्षाद्देवार्थैः कर्मविधानाद्गृहस्थः श्रेष्ठी इति मन्वादिभिर्हच्यते । स च यस्मात् ब्रह्मचारितापसयतीन् भिक्षादिनाभिपोषयति । यथोक्तं ‘ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्’गृहस्थैरेव धार्यन्ते इति तस्मादसौ श्रेष्ठः ॥ ८९ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ॥

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥९०॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थो दृष्टान्तेन दृढीक्रियते—नद्यो गङ्गादयः । भिद्यादयो नदाः । केनचिदाधारसन्निवेशभेदेन रसभेदेन च नदीनदयोर्निर्देशभेदः । एकत्वविधानं तु रूढ्या । लिङ्गभेदो भार्यादारशब्दवत् । संस्थितिराश्रयः । समुद्रो यथा सर्वजलाश्रय एवं गृहस्थः सर्वधर्मानधिकृतवान् ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हेत्वन्तरमाह यथेति । संस्थितिमवस्थानं ब्रह्मचर्यपूर्वकत्वादाश्रमान्तराणां तस्य च गृहस्थाश्रयणनियतत्वात् अतो विश्वस्याश्रयणीयत्वादपि श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । यथा सर्वे नदीनदा गङ्गाशोणाद्याः समुद्रेऽवस्थितिं लभन्ते एवं गृहस्थादपरे सर्वाश्रमिणस्तदधीनजीवनत्वाद्गृहस्थसमीपेऽवस्थितिं लभन्ते ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । किं च यथेति । संस्थितिं गृहस्थसमीपे इति कुल्लूकः । संस्थितिं भूतिं प्राप्य गृहस्थेष्वेव यान्ति जायन्त इति वार्थः । गृहस्थे सति सम्यक् स्थितिं वा त एव गृहस्थप्रभवा इत्युक्तं । गृहस्थं सर्वधर्मेष्वधिकृत्यार्थमर्थवाद इति मेधातिथिः ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । संस्थितिम् प्रतिष्ठाम् ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । संस्थितिं एकत्र स्थितिम् ॥ ९० ॥

(७) मणिरामः । संस्थितिं अवस्थितिं ॥ ९० ॥

(८) गोविन्दराजः । यथेति । यथा गङ्गाशोणाद्याः सर्वे नदीनदाः समुद्रेऽवस्थानं प्राप्नुवन्ति । एवं सर्वे एव ब्रह्मचार्यादय आश्रमिणो अन्नादिलाभार्थं गृहस्थविषयेऽवस्थितिं प्राप्नुवन्ति ॥ ९० ॥

(९) भारुचिः । तथा च गौतमः :— ‘एकाश्रम्यं त्वाचार्याः’ । इत्येवमादित्रयोऽपि चैते आश्रमाणां विकल्पादयं पक्षो वेदस्मृतिशास्त्राविरोधेन यथाधिकारं व्याख्याननीयाः । एकान्तग्रहणं त्वाचार्यं शास्त्रविरोधाद्विज्ञेयः ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ॥

दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणोपन्यासार्थः श्लोकः । दश लक्षणानि यस्येति बहुव्रीहिः । लक्षण स्वरूपम् । सेवितव्यः सर्वकालमनुष्ठेयः । उक्तानामप्येतेषां प्रधानत्वाय पुनर्वचनम् । ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्षश्चानेन पुनर्वचनेन दृढीकृतः ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदसंन्यासिकधर्मं प्रक्रम्य प्रसङ्गादप्येवंप्रयुपदिशति चतुर्भिरिति ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । एतैर्ब्रह्मचार्यादिभिराश्रमिभिश्चतुर्भिरपि द्विजातिभिर्वक्ष्यमाणो दश-
विधस्वरूपो धर्मः प्रयत्नतः सततमनुष्ठेयः ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । चतुर्णां साधारणधर्मानाह चतुर्भिरिति ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । एतैर्वेदसंन्यासिकैः ॥ ९१ ॥

(७) मणिरामः । दशविधस्वरूपो धर्मः ॥ ९१ ॥

(८) गोविन्दराजः । एतैश्चतुर्भिर्ब्रह्मचार्यादिभिः आश्रमिभिर्द्विजैर्वक्ष्यमाण-
दशकारणिको धर्मो यत्नेनाभ्यसनीयः ॥ ९१ ॥

(९) भारुचिः । तत्र तत्र शास्त्रेण ... द्विक्षेपेणोक्तो नावृत्त्यादीनां समाहृत्येहोपदेशः
पुनरसम्मोहार्थः अथवा साधारणत्वप्रदर्शनार्थः विशेषणार्थो वा ॥ ९१ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥

धीविद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । धृत्यादय आत्मगुणाः । तत्र धृतिर्नाम धनादिसंक्षये सत्वाश्रयः ।
यदि क्षीणं ततः किं ? शक्यमर्जयितुमिति । एवमिष्टवियोगादौ 'संसारगतिरियमीदृशीति'
प्रचलतश्चित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम् । क्षमा अपराधमर्षणम् । कस्मिंश्चिदपराद्धरि-
प्रत्युद्वेजनानारम्भः । दम अनौद्धत्यं विद्यामदादित्यागः । अस्तेयं प्रसिद्धम् । शौचमाहा-
रादिशुद्धिः । इन्द्रियसंयम अप्रतिषिद्धेष्वपि विषयेष्वप्रसंगः । धीः सम्यग्ज्ञानं प्रतिपक्ष-
संशयादिनिराकरणम् । विद्याऽऽत्मज्ञानम् । कर्माध्यात्मज्ञानभेदेन धीविद्ययोर्भेदः । एत-
त्पौनरुक्त्यतया 'धीविद्येति' पठन्ति । तन्न सम्यक् ; भेदस्य दर्शितत्वात् । अन्यत्रप्रसिद्धम् ।
अक्रोधः उत्पत्त्यमानस्यानुत्पत्तिः । क्षमा कृतेऽप्यपकारेऽपकारानारम्भः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धृतिः प्रारब्धकर्मणि दुःखे सत्यनुद्वेगः । क्षमा क्रोधहेतू-
त्पत्तावपि तदनुत्पादः । दमस्तपःक्लेशसहता । अस्तेयं परपरिगृहीतेष्वस्पृहा । शौचं
मृदादिभिः । इन्द्रियाणां निग्रहो विषयेष्वप्रवर्तनं । ह्योरकार्यान्निवर्तकं ज्ञानं । विद्याऽऽत्मो-
पासना । सत्यं मिथ्याहितात्मकवाक्यानुवक्तिः । अक्रोधः दैवादुत्पन्ने क्रोधे तन्निवर्तन-
प्रयत्नः । धर्मलक्षणं धर्मकारणम् ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । तमेव स्वरूपतः संख्यादिभिश्च दर्शयति धृतिरित्यादि । संतोषो
धृतिः । परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणम् क्षमा । विकारहेतुविषयसन्निधाने-
ऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः । 'मनसो दमनं दम' इति सनन्दनवचनात् । शीतातपादिद्वन्द्व-
सहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः । अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं, तद्भिन्नमस्तेयम् । यथा
शास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचम् । विषयेभ्यश्चक्षुरादिवारणमिन्द्रियनिग्रहः । शास्त्रादि-
तत्त्वज्ञानं धीः । आत्मज्ञानं विद्या । यथार्थाभिधानं सत्यम् । क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधा-
नुत्पत्तिरक्रोधः । एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । तानेवाह धृतिरिति । धृतिः स्वस्वधर्मास्खलनं । क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुता । दमो मनसो निग्रहः । शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं । धीः शास्त्रतत्त्वज्ञानं । विद्या आत्मज्ञानं सगुणोपासना वा ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । दशलक्षणं धर्ममाह धृतिरिति । धृतिः स्वधर्मापरित्यागः । क्षमाऽवमानसहत्वम् । दमोऽनुद्धतिः । ह्रीर्निषिद्धकरणे लज्जा, धीरिति पाठेऽध्यवसायः । विद्या बाहुश्रुत्यम् । अक्रोधो वाञ्छितार्थप्रतिधातिषु चित्तस्याविकारः ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । धृतिः कार्यानुद्वेगः । क्षमा शान्तिः । दमः तपः क्लेशसहिष्णुता । अस्तेयं परद्रव्यनिःस्पृहता । शौचं मृत्तिकादिभिः । इन्द्रियनिग्रहः । ह्रीः अकार्यान्निवर्तनं । विद्या आत्मोपासना । सत्यं यथार्थभाषणं । अक्रोधः । एवं धर्मलक्षणदशकं संपूर्णम् ॥ ९२ ॥

(७) मणिरामः । दशविधधर्मानाह धृतिरित्यादि । धृतिः संतोषः । क्षमा अपकारिण्यपि प्रत्यकाराऽकरणं । दमः विषयसन्निधानेऽपि विकाराभावः । अस्तेयं अन्यायेन धनाद्यग्रहणं, धीः शास्त्रादितत्त्वज्ञानं विद्या आत्मज्ञानं ॥ ९२-९३ ॥

(८) गोविन्दराजः । धृतिरिति । सन्तोषोऽपराधसहनं शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुता परद्रव्याग्रहणं मृद्वार्यादिशुद्धिर्जितेन्द्रियतानुपहृता बुद्धिरात्मज्ञानं यथोपलब्धाभिधानं क्रोधानुत्पत्तिरित्येतत् दशपरिमाणं धर्मलक्षणं सर्वमेतदिह शास्त्रविक्षिप्तमुक्तमपि प्रायश एतावन्मात्रत्वाद्धर्मस्येह पुनरुच्यते । संक्षेपतो संमोहेनावबोधार्थम् ॥ ९२ ॥

(९) भारुचिः । धृतिर्नाम यथाशास्त्रमवस्थानम् आत्मगुणाद्यतो भवति सा धृतिः । क्षमा चित्तसंक्षोभहेतुष्वप्रतिक्रियापराधमर्षेणोदमस्तु द्वन्द्वाभिः . . . । अन्ये तु शास्त्रविहिताभ्यासं दमं मन्यन्ते च । परद्रव्येष्व्वात्मसंयमोऽस्तेयम् । आहारादिशुद्धि-शौचम् । इन्द्रियसंयमो नाम इन्द्रियविषयेष्वविरुद्धेष्वप्रसंगं यथाविषयं विज्ञानं शास्त्रा-त्संशयादिप्रतिपक्षरहितं विधिः । विद्या वेदाभ्यासः । सत्यं प्रसिद्धम् । अक्रोधः सत्त्वपि संक्षोभहेतुषु चित्तस्याविकारः । पूर्वतोत्पन्नस्य क्रोधस्य कार्यानारम्भः क्षमेत्युक्तः । इह त्वनुत्पत्तिरेव क्रोधस्येति विशेषः । सर्वं चैतच्छास्त्रविहितमपि सत्सुखावबोधनार्थं पुनः संक्षिप्य नोक्तम् । परिचिन्त्यमानश्च सर्वोऽयं यमनियमः . . . सिता नेति तत्फलविवक्षये-दमाह ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ॥

अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यविधेः फलकथनम् । अध्ययनात् फलश्रुतिरनुष्ठान-श्रुत्यर्था ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समधीयते जानन्ति अनुवर्तन्ते अनुतिष्ठन्ति । अज्ञात्वा-ऽनुष्ठानस्याफलत्वात् ज्ञानेऽपि फलोक्तिः ॥ ९३ ॥

(३) कुल्लूकः । ये विप्रा एतानि दशविधधर्मस्वरूपाणि पठन्ति पठित्वा चात्म-ज्ञानसाक्षिव्येनानुतिष्ठन्ते ते ब्रह्मज्ञानसमुत्कर्षात्परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नुवन्ति ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदाभ्यासार्थमेव संन्यासी वेदसंन्यासी तस्य च कृत्यमाह दशेति द्वाभ्यां । एतेषामध्ययनेनापि कृतकृत्यतामाह अधीयत इति । अनुवर्तन्ते शब्द-
तोऽर्थतश्चाभ्यस्यन्ति परमामनुपमाम् ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । वेदसंन्यासिनो गृहस्थस्य कर्तव्यमाह दशेति ॥ ९३ ॥

(८) गोविन्दराजः । दशलक्षणानोति । ये ब्राह्मणा एतानि दशलक्षणानि पठन्ति
पठित्वा चानुतिष्ठन्ति ते उत्कृष्टं स्थानं ब्रह्मलोकं वा ज्ञाने सति मोक्षं प्राप्नुवन्ति ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ॥

वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । संन्यसेदनृणः । यदा ऋणत्रयमपाकीर्णं तदा संन्यास इत्येवमर्थ-
मेतत् । समानकाले प्रव्रज्यायां नाधिक्रियते । एवं संन्यासेऽपि ।

वेदान्तान्विधिवत् । अविदितवेदान्तार्थस्य नास्ति संन्यासः । यद्यपि-स्वाध्यायवि-
ध्यनुष्ठानाक्षिप्तं कर्म विधिशास्त्रवद्वेदान्तज्ञानमपि, स्वाध्यायशब्दवाच्यत्वाविशेषात्-
तथापि वेदान्तानां पुनरुपन्यासो विशेषार्थः । तत्परेण भवितव्यम् । अथ 'संन्यसे-
दिति' कः शास्त्रार्थः । कोऽयं संन्यासो नाम ? ममेदमिति परिग्रहत्यागः । "ननु वेद-
संन्यासिका इत्युक्तम् । तत्रेदं प्रतीयते 'वेदस्य वेदार्थस्य वा संन्यासः', न च वैदिककर्म-
सिद्धयर्थं ये प्रतिग्रहादयस्तेषां संन्यासः ।"

"इदमानन्त्यमिच्छतामिति" (श्लो. ८४) अध्ययनस्य ज्ञानप्राधान्येऽपि विहितत्वात् ।
अग्निहोत्रादीनां तु द्रव्यसाध्यत्वादसति ममकारे त्याग एव । स चायं धर्मापादको मृत-
भार्यस्य परनिष्ठस्य वा कृतसंप्रतिविधानस्य । वाजसनेयके हि पठ्यते "यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ
पुत्रमाह" इत्यादि । अग्निसमारोपणं च तदा विहितम् । जीर्णस्य च "जरया ह वा एतस्मा-
न्मुच्यत" इत्यामनन्ति । यानि चाद्रव्यसाध्यानि संध्योपासनादीनि नित्याग्निहोत्रादीनि
तेषामनिषेधात्तत्र आ अन्त्यादुच्छ्वासादधिकारः ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदसंन्यासप्रकारमाह दशलक्षणकमिति । वेदान्तानुपनिषदः ।
विधिवद्वाचार्योपसदनादिना अनृणोपाकृतर्णत्रयो भूत्वा । संन्यसेद्वेदाभ्यासतदनुगुणाधिका-
रापादकसंध्योपासनादिकर्मातिरिक्तानि कर्माणि संन्यजेत् ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तं दशलक्षणकं धर्मं संयतमनाः सन्ननुतिष्ठन्नपनिषदाद्यर्थं
गृहस्थावस्थायां यथोक्ताध्ययनधर्मान्गुरुमुखादवगम्य परिशोधितदेवाद्यृणत्रयः संन्यासमनु-
तिष्ठेत् ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । किं च दशेति । अपठितवेदान्तस्य संन्यासेनाधिकार इत्याह
वेदान्तानिति । विधिवदिति गुरुमुखात् षड्विधलिङ्गपुरःसरं श्रुत्वा वेदान्तानां तात्पर्य-
निर्णयं च । षड्विधलिङ्गः तु 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती
च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णय' इति ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । संन्यासः काम्यकर्मत्यागः । तथा चोक्तं भगवद्गीतायाम् (१८।२) 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । यज्ञो दानं तपश्चैव न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । एतान्यपि च कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तम'मिति ॥ ९४ ॥

(७) मणिरामः । वेदान्तं उपनिषदर्थं अनृणः शोधितदेवादिऋणत्रयः ॥ ९४ ॥

(८) गोविन्दराजः । दशलाक्षणिकमिति । एवं दशलाक्षणिकमुक्तं धर्मं संयतमना आचरन्नुपनिषदः सम्यक् ज्ञात्वा 'त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा' नित्याद्युपाकृतवर्णत्रयो द्विज उक्तं वेद-संन्यासित्वमनुतिष्ठेत् ॥ ९४ ॥

(९) भारुचिः । संन्यासक्रमार्थमधुनेदमुच्यते वेदश्रुत्या गार्हस्थ्यस्याधानात् प्रभृत्याश्म-शानकरणात् सर्वम(भि)धीयते । न स्मृत्या अतः प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्य तदनुष्ठानपुरुषोऽपि श्रेष्ठ उच्यते । यतश्च स त्रीनेतान् विभर्त्यन्नादिभिः । अतश्च तथाचोक्तं 'यस्मात् तयोऽप्याश्रमिणः' इत्येवमादि । अस्य च गृहस्थाश्रमस्य वेदश्रुतिविधानतः श्रेष्ठ्यवचनात् तदविरोधेनाश्रमान्तरप्रतिपत्तिरर्थाद् गम्यते । एवं च संन्यासाश्रमाणां न समो विकल्पः, किं तर्हि ? विषमोऽस्मिन् बाधापक्षे स्मार्तत्वादाश्रमाणामस्य स्तुतिः ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ॥

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदमभ्यस्येति वेदस्यात्यागमाह । दर्शितमेतत् । अभ्यस्य-न्निति शतृप्रत्ययान्तपाठो वा । पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् । पुत्रग्रहणमुत्पन्नस्य पुत्रस्य । अन्यो-ऽपि यस्तत्स्थानः पौत्रादिस्तत्रापि युक्तो गृहान्तरन्यास इत्याहुः ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यानि वेदाभ्यासतदनु-गुणदेहशुद्धिहेत्वाचमनस्नानसंध्याकर्मादिभ्योऽन्यानि संन्यस्य त्यक्त्वा संन्यासात् कर्मा-नुष्ठानादिना भूतान् हिंसादिदोषानपानुदन् परिहरन् नियतो यमनियमवान् । अभ्यस्यन् 'वाच्येके जुह्वति प्राण'मित्युक्तप्रकारेण स्वाध्यायेनैव पञ्चमहायज्ञाः संपाद्याः पुत्रः सततमधीयानः । पुत्रैश्वर्यं पुत्रगार्हस्थ्ये तेन पञ्चमहायज्ञानुष्ठानं पुत्रेणैव कार्यं, स्वयं तु स्यैवैश्वर्यं यद्गार्हस्थ्ये न त्वात्मन इत्यभिधानेन वित्तेषु ममता कार्या न स्वयं तथाचानीहो भूत्वा निवसेदिति गम्यते ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वाणि गृहस्थानुष्ठेयाग्निहोत्रादिकर्माणि परित्यज्याज्ञातजन्तु-वधादिकर्मजनितपापानि च प्राणायामादिना नाशयन्नियतेन्द्रिय उपनिषदो ग्रन्थतोऽर्थ-तश्चाभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं इति पुत्रगृहे पुत्रोपकल्पितभोजनाच्छादनत्वेन वृत्तिचिन्तारहितः सुखं वसेत् । अयमेवासाधारणो धर्मः कुटीचकस्योक्तः । इदमेव वक्तुं वेदसंन्यासिनां त्विति पूर्वमुक्तम् ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रैश्वर्ये पुत्रदत्तभिक्षादौ ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । तत्तत्काम्यकर्म फलभोगानुरूपदेहप्राप्तयः । कर्मदोषास्तानपानुदं-
स्तेषामपनोदनहेतोः सर्वाणि काम्यकर्माणि संन्यस्य नियतो नियतकर्मकारी वेदमभ्यस्यञ्ज-
पन् ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मदोषानपानुदन् दूरीकुर्वन् नियतः सन्वेदमभ्यस्य ओंकारं वा
अभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये पञ्चयज्ञविधानं पुत्रेण कार्यं एवविधः सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

(७) मणिरामः । असाधारणं कुटीचकधर्ममाह संन्यस्येति । सर्वकर्माणि
गृहस्थानुष्ठेयाग्निहोत्रादिकर्माणि । कर्मदोषान् अज्ञातजंतुवधजनितदोषान् । अपानुदन्
प्राणायामादिना नाशयन् । नियतः नियतेन्द्रियः । वेदमभ्यस्य उपनिषदः ग्रंथतोऽ-
र्थत अभ्यस्य । पुत्रैश्वर्यं पुत्रगृहेषु चोपकल्पितभोजनच्छादनत्वेन वृत्तिः चितारहितः ।

(८) गोविन्दराजः । संन्यस्येति । सर्वाण्यग्निहोत्रादिकर्माणि परित्यज्य 'ज्ञानेनैवापरे
विप्रा' इत्येवमादिप्रकारेण ज्ञानबलात्तान्यनुतिष्ठन्नबुद्धिपूर्वां संचितपापान्युत्तरश्लोके
वक्ष्यमाणत्वात् संन्यासेनैव संहर्न् गृहीतनिश्चयो वेदं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यस्यन्
पुत्रगतसमृद्धचुपेतेन पुत्रोपकृतग्रासाच्छादनवृत्तित्वात् सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ॥

संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वकार्यमात्मोपासनं परमं प्रधानमस्येति स्वकार्यपरमं अस्पृहः
मनस्यपि स्पृहा न क्वचित्कर्तव्या ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वकार्यपरमः स्वकर्तव्यनित्यकर्मविशेषस्वाध्यायमात्रपरः ।
अपहत्यैनः संसारे हेतुमधर्मम् । तदानेन गृहस्थ एव धृत्यादिदशलक्षणधर्मानुष्ठानपरः
स्वाध्यायनित्योऽनीहमानः पुत्रगृहे भुञ्जानो नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मपरित्यागादविघ्नि-
तात्मदृष्टिर्वेदान्तार्थपरिभावनया ब्रह्म भवतीति दर्शितम् । तत्र स्तानाचमनसंध्योपासनानि
स्वाध्यायाधिकारार्थमेवानुष्ठेयं 'संध्याहीनोऽणुचिन्तित्यमनर्हः सर्वकर्मस्वि'ति वचनेन हि
संध्यानुष्ठानमपि शौचहेतुतया स्मर्यते यमानां नियमानां च मध्ये यावत्स्वाध्यायाविरोधे-
स्तावदनुष्ठेयम् स्वाध्याये च क्रियमाणे निरन्तरं तदर्थोऽनुसंधेयः अर्थज्ञानशून्यस्य तस्याल्प-
फलत्वादिति ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेण वर्तमानोऽग्निहोत्रादिगृहस्थकर्माणि परित्य-
ज्यात्मसाक्षात्कारस्वरूपस्वकार्यप्रधानः स्वर्गादिवापि बन्धहेतुतया निःस्पृहः प्रव्रज्यया
पापानि विनाश्य ब्रह्मसाक्षात्कारेण परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वकार्यपरमः आत्मसाक्षात्कारप्रधान इति केचित् । तत्र 'पुत्रै-
श्वर्य' इति वचनात् । अविरक्ततया 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थान'मित्युक्तेश्च तदुपायनारायण-
मन्त्रोपासनया सह स्वधर्मानुष्ठानपरो भवेदित्यर्थः । संन्यासेनापहत्य एतः पापं । मनो-

वाक्कायकर्माणि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहेति मन्त्रलिङ्गादिति । परमां गतिं ब्रह्मलोकावाप्तिं प्राप्नोति । परमपदप्रयोगात् 'पुत्रैषणायाश्चे'ति श्रुतेश्च । तत्राप्याश्रमे विरक्तः सत्परमहंससंन्यासं कृत्वा वा मोक्षावाप्तिरिति ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । वेदसंन्यासिकस्य कर्मयोगानुष्ठाने फलमाह एवमिति । स्वकार्यपरमः स्वस्य कार्यनियतः कर्मैरितस्तत्फलेष्वस्पृहः ॥ ९६ ॥

(७) मणिरामः । स्वकार्यपरमः आत्मसाक्षात्कारस्वरूपस्वकार्यप्रधानः अस्पृहः स्वर्गादावपि बन्धहेतुतया निःस्पृहः ॥ ९५-९६ ॥

(८) गोविन्दराजः । एवमिति । एवमुक्तनीत्या कर्माणि अग्निहोत्रादीनि परित्यज्यात्मज्ञानाख्यस्वकार्यप्रधानो विगताभिलाषकः संन्यासेनासंचेति तोत्पन्नं पापं निर्हृत्य ब्रह्मलोकं ज्ञाने वा सति मोक्षं प्राप्नोति ॥ ९६ ॥

(९) भारुचिः । फलार्थवादोऽयम्, फलविधिर्वा आगमः सत्यपि द्विजातित्वे । तथा च वाजसनेयिकं रहस्यब्राह्मणमिदमर्थं भवति ब्राह्मणा(णः) प्रव्रजत्येवमादि । उक्तः ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । चतुर्विधो धर्मश्चातुराश्रम्यम् । ब्राह्मणस्य सर्वमेतद्विहितम् ।

“ननु च ‘एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विज’ इति द्विजग्रहणमुपक्रमे श्रुतम् । तस्य चानुपजातविरोधित्वात् त्रैवर्णिकार्थिता निश्चिता । अतश्चेदं ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकप्रदर्शनार्थमेव युक्तम् । यद्येकवाक्यतोपक्रमोपसंहारयोर्न स्यात् तदा नैवं स्यात् । एकवाक्यत्वे तु बलवदुपक्रमार्थः शक्यः प्रतिपत्तुम्” । कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया योऽर्थः स निश्चीयते । अतो द्विजग्रहणं ब्राह्मणपरतयोपसंहर्तव्यम् । अस्ति ब्राह्मणस्य द्विजातित्वम्, न तु सर्वेषु द्विजातिषु ब्राह्मण्यम् । अत्रापि द्विजशब्दार्थे संभवति नान्वयिनि लक्षणा न्याय्या । तथा च महाभारते शूद्रस्यापि त्रय आश्रमाः श्रूयन्ते ‘शुश्रूषा कृतकृत्यस्येति’ उपक्रम्य ‘आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निरामिषम्’, परिव्राज्यमित्यर्थः ।” नैवं तस्यायमर्थः ‘सर्वं आश्रमास्तु न कर्तव्याः । किं तर्हि ? शुश्रूषयाऽपत्योत्पादनेन च सर्वाश्रमफलं लभते’ । द्विजातीन् शुश्रूषमाणो गार्हस्थ्येन सर्वाश्रमफलं लभते, परिव्राजकफलं मोक्षं वर्जयित्वा । अतो ब्राह्मणधर्म एव चातुराश्रम्यमिति सिद्धम् ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपसंहरति एष व इति । चतुर्विधः आश्रमभेदात् ब्राह्मणस्यैव चतुर्विधोऽन्येषां तु द्विजातीनां त्रिविध एव ; संन्यासे तेषामनधिकारात् । शूद्रस्य तु गार्हस्थ्य एवाधिकारादेकविध एव । ब्राह्मणस्येत्यत्र केचित् बौधायनेन परिव्राजकधर्मं प्रक्रम्य ‘स्त्रीणां चैक’ इति वचनात्पुल्लिङ्गमविवक्षितमित्याहुः । एकग्रहणाद्बौधायनस्यापि स्त्रीणां

पारिव्राज्यं नापेक्षितमिति विवक्षितमेव पुल्लिङ्गमित्यन्ये । चतुर्विधोऽपि पुण्यः स्वर्ग-
हेतुपुण्यजनकः अक्षयफलो मोक्षहेतुः ॥ ९७ ॥

श्रीनारायणसर्वज्ञकृता । वृत्तिर्मनुस्मृतेः । कुनिबन्धकृतव्याख्यामियं दूरे निरस्यते । इति
सर्वज्ञश्रीनारायणकृतौ मनुस्मृत्यर्थविवृतौ वानप्रस्थयतिधर्मो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषीन्संबोध्य उच्यते । एष युष्माकं ब्राह्मणस्य संबन्धी क्रिया-
कलापो धर्मस्तस्यैव ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थादिभेदेन चतुर्विधः परत्राक्षयफल उक्तः ।
इदानीं राजसंबन्धिनं धर्मं शृणुत । अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चातुराश्रम्योपदेशाद्ब्राह्मणः
प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानाद्ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारः ॥ ९७ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । वो युष्मभ्यं चतुर्विधः ब्रह्मचर्यादिभेदभिन्नः पुण्यः पुण्यप्रदः
अक्षयफलः अक्षयं द्विपरार्धकालपर्यन्तं स्थायि फलं यस्य सः ॥ ९७ ॥

इति श्रीराघवानन्दविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । एष इति । स्पष्टः ॥ ९७ ॥

इति नन्दनाचार्यविरचिते मानवव्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एष इति ॥ ९७ ॥

इति श्रीमानवे धर्मशास्त्रे रामचन्द्रविरचितायां टीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति श्रीमिश्रगंगारात्मज-दीक्षित-मणिरामकृतायां सुखबोधिन्यां षष्ठोऽध्यायः
समाप्तः ॥ ६ ॥

(८) गोविन्दराजः । एष इति । एष ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थप्रव्रजितानुष्ठेयरूपश्चतुः-
प्रकारो ब्राह्मणसंबन्धी पुण्यहेतुत्वात्पुण्यो ब्रह्मलोकापवर्गफलत्वात् परलोकेऽक्षयफलो धर्मो
युष्माकमुक्तः । एवं चास्माद्ब्राह्मणग्रहणात् 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहादि'ति चास्माद्ब्राह्मणाः
प्रव्रजन्तीति श्रुतेर्ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारो न द्विजातिमात्रस्येत्यवसीयते । इदानीं
राजसंबन्धिनं धर्मं शृणुत ॥ ९७ ॥

इति श्रीभट्टमाधवात्मजगोविंदराजविरचितायां मनुटीकायां यतिधर्मे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(९) भारुचिः । पुनरनयोः राजाचार्ययोः शासनातिगो भविष्यति तं प्रत्युपदेशः
प्रायश्चित्तस्य युज्यते, यतोऽर्थक्रमादेवैतस्मात् प्रायश्चित्तानि प्रोत्सार्य राजधर्मा एव
तावच्छिष्यन्त इति ॥ ९७ ॥

इति ऋजुविमलस्य कृतौ मनुशास्त्रविवरणे

षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

